श्रीहर्षदेवविरचिता

रत्नावली-नाटिका

[सरल संस्कृत-टीका, हिन्दी-अनुवाद, कवि-परिचय तथा समीक्षात्मक टिप्पणी सहित]

लेखक :

डॉ० शिवराज शास्त्री

एम. ए., पी-एच. डी.

रीडर संस्कृत-विभाग

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।

प्रकाशक



साहित्य भण्डार

सुभाष बाजार, मेरठ-2

● प्रकाशक :

रतिराम शास्त्री

अध्यक्ष :

साहित्य भण्डार

सुभाष बाजार, मेरठ–२

मूल्य : पाँच रुपये मात्र (५·००)।

● मुद्रक :

भगवती प्रिंटिंग प्रैस,

सराय लाल दास, मेरठ।

दूरभाष : ७४८०६

मेरे पूज्य प्राध्यापक

डॉ० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री

एम. ए., एम. ओ. एल., डी. लिट्

के

चरणों में

भूमिका

भाग १

कवि

(१) हर्ष का राज्य-काल एवं उसका जीवन

हर्ष से पूर्ववर्ती शताब्दियों में उत्तरी भारत की राजनैतिक स्थिति—स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) के सम्राट हर्ष या हर्षदेव या हर्षवर्धन से पूर्ववर्ती कुछ शताब्दियों का इतिहास उत्तरी भारत में उथल-पुथल एवं राजनैतिक एकता स्थापित करने के प्रयत्न का इतिहास है। उत्तरी भारत में ईसा पूर्व ३२२ मे मौर्य साम्राज्य की स्थापना से लेकर हर्ष के समय के बीच में अनेक महत्वाकांक्षी राजाओ का यह प्रयत्न रहा था कि उत्तरी भारत मे एक बड़े साम्राज्य की स्थापना करके राजनैतिक एकता स्थापित की जाय।

इन प्रयत्नों में चन्द्रगुप्त और उसके पौत्र अशोक के प्रथम सफल प्रयत्न थे। लेकिन उत्तर-पश्चिमी सीमा से होने वाले निरन्तर आक्रमणो ने इन साम्राज्यों को चिरस्थायी न रहने दिया। मौर्य-साम्राज्य के पतन के बाद से लगभग ३२० ई० में गुप्त साम्राज्य की स्थापना के मध्यवर्ती काल में भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर अनेक छोटे-छोटे राज्यो की स्थापना हुई और अनेक राज्य छिन्न-भिन्न हुये। इनमे इण्डो—यूनानी और इण्डो—पार्थियन राजाओ का युग उल्लेखनीय रहा जिनका पतन कुशल आक्रमणों के कारण हुआ। कुशान काल में ईसा की प्रथम शताब्दी में कनिष्क उल्लेखनीय राजा हुआ जिसका साम्राज्य मथुरा तक फैला हुआ था।

कनिष्क के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य की स्थापना के मध्य लगभग दो शताब्दियो का समय उत्तरी भारत के इतिहास में अध्ययन के विशिष्ट क्षेत्र में आता है। लगभग ३२० ई० में उत्तरी भारत में शासन-सत्ता गुप्त-वंश के हाथ मे आई, जो लगभग एक शताब्दी तक उनके हाथो मे रही।

गुप्त-साम्राज्य-काल सच्चे अर्थों में भारत का पुनरभ्युदय का काल हुआ। इसे भारत के इतिहास में स्वर्णयुग कहा जा सकता था। इसी काल मे साहित्य आकाश के उज्जवलतम नक्षत्र कवि कालिदास का आविर्भाव हुआ। लेकिन ४५५ ई० के लगभग हूणो के आक्रमण के फलस्वरूप गुप्त-साम्राज्य का भी पतन हो गया और उसके पश्चात् का उत्तरी भारत का इतिहास हूणों के साथ संघर्ष और अस्थिरता का इतिहास है जब तक कि छठी शताब्दी के अन्त के आस-पास उन्हें भारत से वापिस न भगा दिया गया। म्लेच्छों को मार भगाने के कार्य को पूर्ण करने में अन्तिम सफल पराक्रम हर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन और उसके बड़े भाई राज्यवर्धन ने दिखलाया।

हर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन का राज्यकाल (५८४ ई०–६०५ ई०)—हर्ष की धमनियों में पीढ़ियों का राजवंश का रक्त था। उसकी दादी गुप्तवंश की राजकुमारी थी। उसका पिता प्रभाकरवर्धन, जिसका शासन-काल सम्भवतः ५८४ ई० से ६०५ ई० तक रहा, महत्वाकांक्षी राजा था। उसने छठी शताब्दी के पिछले भाग में स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर या थानेसर) को अपने अधीन कर लिया और पश्चिम तथा उत्तर पश्चिम के पड़ौसी राजाओं के विरुद्ध अनेक युद्धों के पश्चात् विच्छिन्न गुप्त-साम्राज्य के खण्डहरों पर एक नये साम्राज्य की नींव डालने में सफलता प्राप्त करली। प्रभाकरवर्धन ने अपने बड़े पुत्र राज्य-वर्धन को पश्चिमोत्तर सीमा पर हूणों की अवशिष्ट सत्ता को उच्छिन्न करने के लिये भेजकर अपने जीवन का अन्तिम साहसिक कार्य किया था, जबकि ६०५ ई० में ज्वर से उसकी अकाल मृत्यु हो गई।

हर्ष के ज्येष्ठ भाई राज्यवर्धन का राज्यकाल (६०५ ई० ६०६ ई०)—प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के पश्चात् राज्यवर्धन अपने पिता के राजसिंहासन पर बैठा। वह उस समय लगभग १८, १९ वर्ष का था। राजसिंहासन पर बैठते ही राज्यवर्धन को मालवा के राजा से प्रतिशोध लेने के लिये अभियान करना पड़ा, क्योंकि मालवा के राजा ने उसके बहनोई को मार डाला था और उसकी बहिन राज्यश्री को कन्नौज में कारागार मे डाल दिया था। राज्यवर्धन ने मालवा के राजा से प्रतिशोध तो ले लिया, परन्तु मालवा नरेश के मित्र

वगदेश के राजा शशाङ्क ने धोखे से अपने घर उसकी हत्या कर दी। राजकुमारी राज्यश्री ने किसी प्रकार कन्नौज से बच निकल कर विन्ध्याटवी में शरण ली। इस प्रकार राज्यवर्धन का आशाओं से भरा जीवन स्वल्प-काल में ही समाप्त हो गया।

हर्ष का राजसिंहासनारोहण (६०६ ई०) — राज्यवर्धन की अचानक मृत्यु और राज्यश्री लुप्त हो जाने पर केवल हर्ष ही राजसिंहासन का कानूनी अधिकारी रह गया। वह उस समय केवल १६, १७ वर्ष का था सामन्तो एव सरदारो ने अक्टूबर ६०६ ई० मे एकत्र होकर हर्ष को अपना राजा चुना। इस तिथि का भारतीय इतिहास मे विशिष्ट स्थान है, क्योकि ६ वर्ष पश्चात् ६१२ ई० मे हर्ष ने इसी तिथि से अपने नाम से एक सवत्सर का प्रवर्तन किया था।

हर्ष के राज्य के प्रथम ६ वर्ष—सामन्तों द्वारा राजा चुन लिये जाने पर भी हर्ष ने किन्ही अज्ञात कारणों से राजा की उपाधि धारण नही की। वह केवल राजकुमार 'शीलादित्य' (सदाचार का सूर्य) के नाम से राज्य-व्यवहार चलाता रहा। हर्ष के सामने सबसे पहला कर्त्तव्य अपनी विधवा बहिन का उद्धार करना था। उसने चारो ओर भेदिये भेजे और अन्त में एक दिन जब राज्यश्री विन्ध्याटवी में अग्नि मे प्रवेश करके आत्महत्या करने जा रही थी, तब दैवयोग से वह हर्ष को मिल गई और अन्त समय तक हर्ष के प्रति भक्त बनी रही। हर्ष के सम्बन्ध में बाण तथा ह्वेनसांग के वर्णनो से प्रतीत होता है कि जीवन के अन्तिम भाग मे हर्ष के बौद्ध धर्म की ओर झुकाव में राज्यश्री का पर्याप्त हाथ था, जो स्वयं बौद्ध धर्म की बड़ी उपासिका थी। राज्यश्री के उद्धार के पश्चात् हर्ष के सामने दूसरा मुख्य कार्य अपने भाई के हत्यारे से प्रतिशोध लेना था। लेकिन इस विषय मे कोई अधिक जानकारी उपलब्ध नही है। यह निश्चित है कि शशांक ६१९ ई० तक राज्य करता रहा। लेकिन कदाचित् बाद मे उसका राज्य हर्ष के अधिकार मे आ गया था। हर्ष ने शासन की बागडोर हाथ में संभालते ही उत्तरी भारत मे अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिये विजय-अभियान प्रारम्भ कर दिये थे। चीनी यात्री

ह्वेन्त्सांग के शब्दों में 'वह आज्ञा को शिरोधार्य न करने वालों का दमन करता हुआ पूर्व से पश्चिम तक गया, न उसके हाथियों की अम्बारी उतरी और न उसके सैनिकों के कवच।' उसकी विशाल और विजयी सेनाओं की सफलता के परिणामस्वरूप राज्यारोहण से ६ वर्ष की अवधि में ही हर्ष ने ६१२ ई० में 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण कर ली।

हर्ष के राज्यकाल के अगले वर्ष—हर्ष के शेष जीवन के ३० से भी अधिक वर्षों का कार्य युद्ध, संगठन और व्यवस्था करना ही रहा। अन्य चक्रवर्ती सम्राटों के समान हर्ष के लिये भी यह आकांक्षा करना स्वाभाविक था कि वह दक्षिणी भारत को भी अपने अधीन कर ले। परन्तु अपने इस प्रयत्न में हर्ष को असफलता का मुख देखना पड़ा और हर्ष के सैनिक जीवन की केवल यही एक असफलता थी। उसे ६२० ई० में चालुक्य वंशी पुलकेशिन द्वितीय से हार खानी पड़ी। लेकिन उत्तरापथ में, केवल पञ्जाब को छोड़कर, सारे भारत में उसका साम्राज्य फैला हुआ था। १८ राजा उसके अधीन थे और पश्चिम में वल्लभी (गुजरात) का राजा ध्रुवभट्ट (ध्रुवसेन) और सुदूर-पूर्व में कामरूप का अधिपति कुमार (भास्कर वर्मा) अपनी इच्छा से उसके करद राजा हो गये थे। हर्ष का अन्तिम युद्ध-पराक्रम अपनी मृत्यु से चार वर्ष पहले ६४२–४३ ई० में महानदी के दक्षिण में बंगाल की खाड़ी के तट पर स्थित गंजाम (कोंगोडा) प्रदेश को अपने अधीन करना था।

हर्ष के राज्य की कुछ अन्य घटनायें एवं विशेषतायें—हर्ष केवल विजेता ही नहीं था, अपितु अच्छा शासन-प्रबन्धक भी था। उसने अपनी राजधानी थानेश्वर से हटाकर गंगा के तट पर स्थित कन्नौज (कान्यकुब्ज) में स्थापित की और लम्बे समय तक यह नगर राज्य-वैभव का केन्द्र बना रहा। हर्ष ने अपने सम्पूर्ण राज्य में शिक्षा का प्रसार किया और अपनी राजसभा में अनेक विद्वानों और कवियों को आश्रय दिया। उसने केवल युद्ध-पराक्रम ताम्रपत्रों अथवा शिलालेखों द्वारा ही अपनी कीर्ति को अमर नहीं किया, बाण आदि कवियों की अमर कृतियाँ उसके धवल यश के शाश्वत स्मारक बने रहेंगे। हर्ष ने स्वयं युवावस्था में अच्छी शिक्षा पाई थी। एक दानपत्र में सुरक्षित उसके

हस्तलेख के नमूने से प्रमाणित होता है कि वह लेखनकला में अच्छा प्रवीण था। हर्ष ने केवल उच्च कोटि के कवियों को ही आश्रय नहीं दिया, वरन् वह स्वयं भी उच्च कोटि का कवि था।

हर्ष भले ही अन्य मामलों में कठोर शासक रहा हो, लेकिन उसका राज्य धार्मिक सहिष्णुता के लिये विशेष रूप से उल्लेखनीय है। धार्मिक स्वतन्त्रता उसे विरासत में मिली थी। उसका पिता तथा पूर्वज शिव और सूर्य की समान भाव से पूजा करते थे। उसका पिता तथा पूर्वज बहिन बौद्ध धर्म के उपासक थे। हर्ष स्वयं शिव, सूर्य और बुद्ध का समान रूप से आदर करता था और अन्तिम वर्षों में उसका झुकाव विशेष रूप से बौद्ध धर्म की ओर हो गया था। हर्ष के बौद्ध धर्म की ओर झुकाव का पता चीनी यात्री ह्वेनसांग के भारत के वर्णनों से चलता है। ह्वेनसांग ने अपने भारत-वास के अन्तिम आठ वर्ष (६३५–६४३) का अधिक भाग हर्ष के राज्य में व्यतीत किया था। उसने अपने संस्मरणों में हर्ष-कालीन भारत का बड़ा विस्तृत एवं रोचक वर्णन दिया है।

कन्नौज और प्रयाग की विशाल धार्मिक सभायें—चीनी यात्री ह्वेनसांग के भारत सम्बन्धी वर्णनों में सबसे अधिक उल्लेखनीय घटना कन्नौज और प्रयाग की धार्मिक सभायें हैं, जिन्हें उसने स्वयं देखा था। ह्वेनसांग ने इन सभाओं का विस्तार से वर्णन करते हुए लिखा है कि यह उत्सव बड़ी सजधज के साथ कन्नौज में प्रारम्भ हुए और उसी शान से प्रयाग तक चलते रहे। यह शृङ्खला ढाई महीने तक चलती रही। १८ अधीन राजा तथा वल्लभी और कामरूप के कर-दाता मित्र राजा हर्ष की सेवा में उपस्थित थे। प्रयाग में उत्सव के पहले दिन बुद्ध की मूर्ति प्रतिष्ठापित की गई। इसी प्रकार उत्सव के दूसरे और तीसरे दिन क्रमशः सूर्य और शिव की मूर्तियों की स्थापना हुई। प्रो० कॉवेल का विचार है कि कदाचित् पहले दिन नागानन्द नाटक—जिसका विषय बुद्ध की शिक्षायें हैं—खेला गया होगा और दूसरे तथा तीसरे दिन प्रियदर्शिका और रत्नावली का अभिनय किया गया होगा। लेकिन कॉवेल का यह विचार केवल मनःकल्पना पर आश्रित है, इसके लिये

कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसके पश्चात् वहाँ पर सहस्रों की संख्या में एकत्र हुए ब्राह्मण, जैन और बौद्ध आदि विविध मतावलम्बी साधु-संन्यासियों तथा निर्धन लोगों में राजकीय कोष बांट दिया गया। उसके पास केवल शासन-तन्त्र की व्यवस्था मात्र चलाने के लिये धन अवशिष्ट रह गया। उत्सव की समाप्ति पर हर्ष ने राज्यश्री द्वारा दिया गया एक पुराना अंगरक्षा धारण किया जो उसकी निर्धनता का प्रतीक था। यह उत्सव उसके शासन काल में प्रति पांच वर्ष में मनाया जाने वाला छठा उत्सव था। इसके बाद ह्वेनसांग वापस अपने देश (दिव्य-साम्राज्य) चला गया।

हर्ष की मृत्यु—६४३ ई० मे गंजाम विजय के पश्चात् हर्ष ने अपनी तलवार वापस म्यान में रख ली और अविश्रान्त सैनिक, व्यस्त सम्राट, अक्लान्त शासक और प्रजा-पालक राजा ने अन्त में शान्ति की कामना की। सम्भवतः हर्ष भी, अशोक के समान, अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में धार्मिक साधना मे ही सुख और शान्ति पा सका, यद्यपि यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि उसके अन्तिम तीन वर्षों का क्या कार्यक्रम रहा था? ६४६ ई० के अन्त में या ६४७ ई० के प्रारम्भ में मृत्यु ने हर्ष के शानदार जीवन का अन्त कर दिया और हर्ष के परदे पर से हटते ही उसका साम्राज्य अराजकता और अव्यवस्था का लीलास्थल बन गया।

हर्ष का मूल्याङ्कन—हर्ष ने जीवन के अनेक क्षेत्रों में अपने से प्रायः सहस्र वर्ष पूर्ववर्ती सम्राट अशोक को अपना आदर्श चुना था, लेकिन हर्ष के आचरण में उसके जैसी उदात्तता नहीं थी। अशोक के समान हर्ष ने भी जीवन के अन्तिम भाग मे बौद्ध धर्म को विशेष आदर प्रदान किया, लेकिन अशोक के समय के समान तब भारतवर्ष मे बौद्ध धर्म के लिये अनुकूल परिस्थितियां नहीं थी और न ही हर्ष अशोक के समान बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये साहसिक पग उठा सका। सैनिक जीवन और बौद्ध के प्रति झुकाव की दृष्टि से हर्ष की तुलना कनिष्क से की जा सकती है। कुछ दृष्टियों से हर्ष की तुलना गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय से भी की जा सकती है। लेखक और योद्धा के रूप में हर्ष की तुलना मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर से की जा

सकती है। संगठन की क्षमता तथा शासन की कुशलता की दृष्टि से हर्ष की तुलना मुगल-सम्राट अकबर महान् से भी की जा सकती है, यद्यपि हर्ष का साम्राज्य उसके जीवन के साथ ही समाप्त हो गया था। सब मिलाकर—विजयी योद्धा, कुशल प्रशासक, प्रजा-पालक राजा और सम्राट, विद्वानों का आश्रयदाता तथा कवि के रूप में—श्रीहर्षवर्धन भारत की महान् विभूतियों में अन्यतम था।

(२) हर्ष - कवि एवं आश्रयदाता

(अ) प्राचीन भारत में कवि एवं आश्रयदाता राजाओं की परम्परा—

यों तो सभी देशों एवं समाजों में विद्वान, कवि और विद्वानों को संरक्षण देने वाले राजा होते आये हैं, परन्तु भारत में यह गौरवमयी परम्परा बड़ी लम्बी रही है। ऋग्वैदिक कवि राजर्षि विश्वामित्र के सुदूर अज्ञात काल से लेकर अब तक भारतवर्ष में ऐसे असंख्य शासक हुए हैं जो स्वयं कवि और लेखक थे और जिन्होंने अपनी सभा में साहित्य-सेवाओं और विद्वानों को एकत्र करके स्वयं को गौरवान्वित किया। इन सब का यहाँ उल्लेख करना सम्भव नहीं है और न ही अपेक्षित। यहाँ संक्षेप में केवल उन कवि राजाओं का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा, जिन्होंने संस्कृत की अलङ्कृत शैली में काव्य रचना करके संस्कृत साहित्य की समृद्धि में योग दिया है।

गुप्त-साम्राज्य का काल संस्कृत की अलंकृत काव्य-शैली के उत्कर्ष का काल था। समुद्रगुप्त केवल विजेता ही नहीं था, वह गान और वादन की कला में भी निपुण था। उसी प्रकार उसकी काव्य-रचना की प्रतिभा भी उच्चकोटि की थी। यद्यपि समुद्रगुप्त रचित कोई काव्य का नमूना सुरक्षित नहीं रहा है, परन्तु उसके एक उत्कीर्ण शासन पत्र में कहा गया है कि उसने पण्डितों को आजीविका देने में समर्थ अनेक काव्यों की रचना करके अपनी 'कविराज' की उपाधि प्रतिष्ठित कर ली थी।[१] समुद्रगुप्त का पुत्र और उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७५–४१३ ई० के लगभग और

१. विद्वज्जनोपजीव्यानेककाव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य······।

उसका पौत्र कुमार गुप्त प्रथम (४१३–४५५ ई०) भी साहित्य और कला के प्रेमी तथा साहित्यकारों के महान् आश्रयदाता थे। सम्भवतः कालिदास इन्हीं की राजसभा का कवि था।

मृच्छकटिककार शूद्रक—नाटक के क्षेत्र में सर्वप्रथम ज्ञात राजा कवि शूद्रक है। मृच्छकटिक की प्रस्तावना के अनुसार उसका रचयिता राजा शूद्रक (समय ईसा की तृतीय शताब्दी) था। परम्परा भी मृच्छकटिक के रचयिता को राजा मानती आई है। लेकिन यह राजा कौन था और उसका समय क्या था, यह अभी असंदिग्ध नहीं है। राजशेखर (९०० ई०) द्वारा उद्धृत साहित्य के संरक्षक अनुकरणीय राजाओं की सूची के अनुसार शूद्रक साहित्यकारों का महान् आश्रयदाता (सभापति) भी था।[१]

राजा हर्ष और उत्तरवर्ती संस्कृत के कवि राजा—जैसे कि आगे प्रदर्शित किया गया है, ईसा कि सातवीं शताब्दी में वर्तमान राजा हर्ष में महान् शासक, कवियों के आश्रयदाता और स्वयं उत्तम कोटि के काव्य-रचयिता के गुणों का आकर्षक समन्वय था। उसके समकालीन पल्लव वंशी राजा महेन्द्र-विक्रम-वर्मा ने मत्तविलास नाम का प्रहसन लिखा था। कन्नौज के राजा और भवभूति के आश्रयदाता यशोवर्मा (७३५ ई० लगभग) ने रामाभ्युदय नाटक रचा। साथ ही, उसके नाम से प्रसिद्ध कुछ फुटकर पद्य भी सुरक्षित हैं। नेपाल के राजा जयदेव (आठवीं शताब्दी ई०) के एक शिला-लेख मे [illegible] पद्य स्वयं राजा के रचे हुए हैं। कलचुरि के राजकुमार मायुराज (आठवीं-नवीं शताब्दी ई०) का उदात्तराघव नाटक के रचयिता के रूप मे उल्लेख हुआ है, यद्यपि अभी इसकी कोई प्रति ज्ञात नहीं है। ईसा की नवीं शताब्दी मे दक्षिण का शासक अमोघवर्ष (८१५–८७७ ई०) भी स्वयं कवि और कवियों का आश्रयदाता था। १० वी शताब्दी के अन्त मे वर्तमान राजा मुञ्ज और ११ वी शताब्दी के प्रारम्भ में वर्तमान राजा भोज दोनो ही स्वयं अच्छे कवि और कवियों के महान् आश्रयदाता थे। सोड्ढल (११ वीं शती ई०) ने उदयसुन्दरी कथा मुञ्ज और

१ वासुदेव-शातवाहन-शूद्रक-साहसाङ्का दीन्सकलान् सभापतीन् दानमानभ्यामनुकुर्यात्। काव्यमीमांसा।

भोज का श्रीहर्ष और विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय) के साथ-साथ 'भूपाल' 'कवीन्द्र' के रूप में कथन किया है।[1] १२वीं शताब्दी ई० में शाकम्भरी के शासक विग्रहराजदेव के अजमेर में प्राप्त ११५३ ई० के उत्कीर्ण शासनपत्र में उसके हरकेलि-नाटक का गद्य और पद्य में कुछ भाग सुरक्षित है। उसके काव्य-गुण भारवि का स्मरण करा देने वाले हैं। कदाचित् उसकी तुलना कालिदास से भी की जा सकती है।

(आ) हर्ष का कवि के रूप में उल्लेख

बाण द्वारा हर्ष का कवि के रूप में उल्लेख—ऊपर भारत में कवि एवं आश्रयदाता राजाओं की परम्परा का संक्षेप में निर्देश किया गया है। इस परम्परा को देखते हुए हर्ष के कवि होने में कोई सन्देह की आशंका नहीं हो सकती। महाकवि बाण ने अपने गद्यमय काव्य हर्षचरित में, जिसमें श्रीहर्ष के चरित को अलङ्कृत शैली में निबद्ध किया गया है, हर्ष का काव्य-प्रतिभा का स्पष्ट उल्लेख किया। हर्षचरित की पद्यमय प्रस्तावना के १८वें पद्य में कहा गया है कि आढ्यराज (श्रीहर्ष) के हृदयस्थ 'उत्साहों' (कवि-कर्म तथा वीरता-पूर्ण कार्यों) को स्मरण करने मात्र से जिह्वा मानो अन्दर की ओर खींची जाने से कवित्व मे प्रवृत्त नही होती।[2] आगे चलकर दो स्थलो पर तो बाण ने अपने आश्रयदाता की काव्य-सम्बन्धी प्रतिभा और सफलता का असंदिग्ध शब्दो में उल्लेख किया है। हर्ष की उपलब्धियों का उल्लेख करते हुए उसने श्लिष्ट पदों द्वारा उसके प्रताप और कवित्व के सम्बन्ध मे कहा है—'अपि चास्य'''कवित्वस्य वाचः''''''न पर्याप्तो विषयः', अर्थात् जैसे इसके प्रताप को प्रकट करने के लिये विषय का अभाव है वैसे ही इसकी काव्य प्रतिभा को प्रकट करने मे शब्द पर्याप्त नही है। हर्ष की काव्य-रचना की मौलिकता का

---

१. कवीन्द्राश्च विक्रमादित्य-श्रीहर्ष-मुञ्ज-भोजदेवादिभूपालाः।

२. आढ्यराजकृतोत्साहैर्हृदयस्थैः स्मृतैरपि।
जिह्वान्तः कृष्यमाणेव न कवित्वे प्रवर्तते॥

पिशल ने यहां आढ्यराज (धनी राजा) से हर्ष का ही संकेत माना है।

संकेत करते हुए बाण ने अन्य स्थल पर हर्ष को काव्य और कथाओं में अनास्वादित अमृत को बहाने वाला कहा है।[1]

कवि राजा हर्ष के सम्बन्ध में अन्य प्रत्यक्ष उल्लेख—सातवीं शताब्दी ई० के अन्तिम भाग में भारत आने वाले चीनी यात्री इत्सिंग ने लिखा है—राजा शीलादित्य (अर्थात् हर्ष, बौद्ध साहित्य में हर्ष का बहुधा शीलादित्य के नाम से उल्लेख हुआ है) अत्यधिक साहित्य-प्रेमी था, अनेक काव्यों की रचना कराने के अतिरिक्त राज शीलादित्य ने बोधिसत्व जीमूतवाहन, जिसने नाग के बदले अपनी बलि दी थी, की कथा को पद्यबद्ध किया था, यह कथा संगीत पर बाँधी गई थी और उसने नृत्य और अभिनय के साथ एक मण्डली से इसका प्रदर्शन कराया था और इस प्रकार उसने अपने समय में इस कथा को लोकप्रिय बनाया था। इत्सिंग ने यहाँ स्पष्ट ही हर्ष के नाम से प्रख्यात नागानन्द नाटक का संकेत किया जान पड़ता है।

काश्मीर के राजा जयापीड (८०७ ई०) के आश्रित कवि दामोदर गुप्त ने 'कुट्टनीमत' में 'रत्नावली' से उद्धरण देते हुए उसे राजा की कृति बतलाया है। ११वीं शताब्दी के कवि सोड्ढल ने, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हर्ष की गिनती कवि और आश्रयदाता राजाओं में की है। एक अन्य स्थल पर सोड्ढल ने श्लेषोक्ति द्वारा श्रीहर्ष को 'वाणी का हर्ष' (गीहर्ष) कहा है—"पृथ्वी के राजाओं में श्रीहर्ष केवल नाम को ही 'लक्ष्मी का हर्ष' था, वस्तुतः तो यह 'वाणी का हर्ष' था। जिस राजा ने अपनी सभा में बाण का सौ कोटि स्वर्ण (के दान) से आदर किया था।"[2] जयदेव कवि (समय लगभग १३वीं शताब्दी ई०) ने एक रूपक द्वारा भास, कालिदास प्रभृति कवियों को कविता-कामिनी के विभिन्न अङ्गों एवं चेष्टाओं के स्थायी बतलाते हुए हर्ष को उसका

---

१. ···काव्यकथास्वपीतममृतमुद्वमन्तम्···।

२. श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु।
गीर्हर्ष एष निजसंसदि येन राज्ञा सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः।

'हर्ष कहा है ।'[1] सतरहवीं शताब्दी के लेखक मधुसूदन ने बाण और मयूर का हर्ष की राजसभा से सम्बन्ध बतलाते हुए हर्ष को कवियों का मूर्धन्य और रत्नावली नाटिका का रचयिता कहा है ।[2] लेकिन सम्भवतः उसने हर्ष को मालवदेश और उज्जयिनी से किसी भ्रम के कारण सम्बद्ध कर दिया है। 'सुभाषित-रत्न भाण्डागार' में संगृहीत एक पद्य में भी हर्ष का नाम उन प्रख्यात कवियों में गिनाया गया है, जिन्होंने अपनी कृतियों से लोक का रञ्जन किया है।

इसके अतिरिक्त हर्ष के उपलब्ध दान-पत्रों से भी हर्ष की काव्य-रचना सम्बन्धी प्रतिभा के विषय में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। हर्ष के बंसखेड़ा और मधुबन के दो दान-पत्र मिले हैं, जिनका विषय किसी को भूमिदान करना है। पहले दान-पत्र पर उसके अपने हस्ताक्षर हैं जिससे उसका लेखन-कला पर अच्छा अधिकार प्रतीत होता है। इन दोनों पत्रों में कुछ पद्य समान पाये जाते हैं। इनमें राज्यवर्धन की विश्वासघातपूर्ण हत्या का भावुकतापूर्ण वर्णन किया गया है, जो हर्षवर्धन की स्वयं की रचना प्रतीत होते हैं।

ऊपर प्रदर्शित प्रमाणों से हर्ष की कवि-प्रतिभा के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

(इ) हर्ष के आश्रित कवि

ऊपर दिये गये अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि हर्ष स्वयं प्रतिभा-सम्पन्न कवि, कुशल प्रशासक एवं साहित्य का महान् पोषक था। उसके समय में अन्य भी अनेक कवि एवं विद्वान् हुए हैं, जो उसके आश्रित नहीं थे। उसकी सभा की कवि मण्डली में से क्रमशः कादम्बरी और सूर्यशतक के प्रणेता बाण

---

१. यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः, पञ्चबाणस्तु बाणः
केषां नैषा कथय कविता-कामिनी कौतुकाय ॥

२. मालवराजश्रीउज्जयिनीराजधानीकस्य कविजनमूर्धन्यस्य रत्नावल्याख्य-नाटिकाकर्तुर्महाराजश्रीहर्षस्य ॥

और मयूर सुप्रसिद्ध हैं। दिवाकर या मातङ्ग-दिवाकर भी उसकी सभा का कवि कहा जाता है। राजशेखर के एक पद्य के अनुसार दिवाकर अपने काव्य के गुणों के कारण बाण और मयूर के समान ही श्रीहर्ष की सभा का सभासद् बन गया था। (अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकरः। श्री हर्षस्याऽभवत् सभ्यः समो बाण-मयूरयोः ॥)। एक अन्य श्लोक में राजशेखर ने दिवाकर और बाण का समासयुक्त पद में एक ही साथ उल्लेख किया है (बाण-दिवाकरौ)। लेकिन अभी तक यह निश्चित नहीं हो सका है कि यह दिवाकर कौन था और उसकी कौनसी कृतियां थीं।[1] यदि काव्यप्रकाश में उपलब्ध 'श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्' पङ्क्ति असली पाठ हो तो या तो धावक भी श्रीहर्ष की राजसभा का कवि था या श्रीहर्ष ने धावक को उसकी मनोहारी रचना के लिये कोई पुष्कल धन-राशि पुरस्कार के रूप में दी थी। श्रीहर्ष की बाण के प्रति दिखलाई गई उदारता के विषय में सोड्ढल की उक्ति का पहले कथन किया जा चुका है।[2] एक अन्य कवि ने भी श्रीहर्ष की उदारता के विषय में कहा है :—

'श्रीहर्षो विततार गद्यकवये बाणाय वाणीफलम्।'

(ई) राजा हर्ष के रत्नावली आदि रूपकों का लेखक होने में संदेह और उसका निवारण

कुछ विद्वानों ने राजा हर्ष के रत्नावली आदि रूपकों का लेखक होने में सन्देह प्रकट किया है। इस सन्देह का कारण यह है कि ११वीं शताब्दी के काश्मीरी लेखक मम्मट ने अपने प्रसिद्ध साहित्यशास्त्र के ग्रन्थ काव्यप्रकाश में काव्य के प्रयोजनों में से एक प्रयोजन धन-लाभ भी कहा है। उसने 'काव्यं यशसेऽर्थकृते……' आदि कारिका की गद्य में लिखित व्याख्या में उदाहरण देते हुए कहा है—'कालिदासादीनामिव यशः श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्' अर्थात् (काव्य से) कालिदास आदि को जैसे यश और श्रीहर्ष आदि से धावक आदि को जैसे धन (प्राप्त हुआ)। बाद के कुछ टीकाकारों ने, जो प्रायः सतरहवीं शताब्दी के आसपास के हैं, काव्यप्रकाश के उक्त स्थल की व्याख्या करते हुए रत्नावली को धावक की रचना बतलाया। काव्यप्रदीपोद्योत

१. देखिये अगला पृष्ठ। २. ऊपर, पृष्ठ १०

(या उद्योत) के लेखक नागेश ने लिखा—'धावक नाम का कवि था, उसने श्रीहर्ष के नाम से रत्नावली की रचना करके बहुत धन प्राप्त किया। ऐसा प्रसिद्ध है।'[१] एक अन्य टीकाकार परमानन्द ने और भी स्पष्ट शब्दों में यही बात इस प्रकार कही—'धावक नाम के कवि ने अपनी कृति रत्नावली नाम की नाटिका को बेचकर हर्ष नाम के राजा के पास से बहुत धन पाया था, ऐसा प्राचीन काल में हुआ।'[२]

व्याख्याकारों की इन टिप्पणियों के आधार पर आधुनिक विद्वानों में बड़ा लम्बा विवाद खड़ा हो गया था। लेकिन अब अधिकतर अधिकारी विद्वानों का मत है कि रत्नावली आदि रूपक श्रीहर्ष की अपनी ही कृतियाँ हैं। काव्यप्रकाशकार का अभिप्राय केवल यही हो सकता था कि धावक आदि कवियों ने अपनी उत्तम काव्य-रचनाओं के लिये पुरस्कारस्वरूप श्रीहर्ष से बहुत-सा धन प्राप्त किया। पिछले टीकाकारों ने कदाचित् बिना सत्य की खोज किये ही मनःकल्पित बातें लिख दी, इसलिये उनकी बातों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। बाद के अलङ्कार-शास्त्र के विद्वानों ने ऐतिहासिक तथ्यों का बिना अन्वेषण किये ही किस प्रकार मन-गढ़न्त बातें लिख डाली हैं, यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि १९वीं शताब्दी के लेखक अच्युतराय (१८१३ ई०) ने अपने ग्रन्थ साहित्यसार' पर टीका करते हुए काव्यप्रकाश के आधार पर धावक को 'नैषधीयचरित' का लेखक बतलाया है। उसने यह बात लिखते समय सम्भवतः काव्यप्रकाश देखने का भी कष्ट नहीं किया और न यही ध्यान रक्खा कि 'नैषधीयचरित' का लेखक हर्ष दूसरा है, जो काव्य-प्रकाशकार का परवर्ती था।

प्रो० बूहलर को काश्मीर में काव्यप्रकाश की जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई थीं, उन सब में 'धावक' के स्थान पर 'बाण' पाठ पाया जाता है। इससे

१. धावकः कविः। स हि श्रीहर्षनाम्ना रत्नावलीं कृत्वा बहु धनं लब्धवान्, इति प्रसिद्धम्।

२. धावकनामा कविः स्वकृतिं रत्नावलीं नाम नाटिकां विक्रीय श्री हर्षनाम्नो राज्ञः सकाशाद् बहु धनमवापेति पुरावृत्तम्।

डॉ० हॉल ने काव्यप्रकाश के 'बाणदीनामिव धनम्' शब्दों से यह अर्थ लगाया कि रत्नावली हर्ष की रचना न होकर बाण की रचना थी। लेकिन रत्नावली की प्रसादपूर्ण एवं सरल शैली को देखते हुए यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि यह कादम्बरी के लेखक बाण की रचना हो। फिर यदि बाण अपनी कृति के बदले में धन प्राप्त करता तो वह कादम्बरी को बेचकर अधिक धन पा सकता था। इसलिये काव्यप्रकाशकार का संकेत कृति के विक्रय की ओर नहीं हो सकता। यह सर्व प्रसिद्ध है कि बाण श्रीहर्ष का आश्रित कवि था और श्रीहर्ष ने बाण की काव्य-प्रतिभा पर मुग्ध होकर उसे मुक्त-हस्त से धन दिया था, जिसका बाद में सोड्ढल ने उल्लेख किया।[१]

काव्यप्रकाश के टीकाकारों की बात पर इसलिये भी विश्वास नहीं किया जा सकता कि ११वीं शताब्दी से पहले के किसी भी लेखक ने श्रीहर्ष के कवित्व पर सन्देह नहीं किया। नवीं शताब्दी के लेखक दामोदर गुप्त ने कुट्टनीमत में रत्नावली को स्पष्ट रूप से राजा की कृति कहा है और सातवीं शताब्दी के पिछले भाग में भारत की यात्रा करने वाले चीनी यात्री ने राजा शीलादित्य (जो नाम बौद्ध-साहित्य में श्रीहर्ष के लिये प्रयुक्त हुआ है), रचित नागानन्द का उल्लेख किया है।[२] टी० एस० नारायण शास्त्री[३] का मत है कि 'प्रियदर्शिका' रत्नावली और नागानन्द ये तीन रूपक कन्नौज के राजा हर्ष के न होकर कालिदास के पूर्ववर्ती हर्ष विक्रमादित्य[४] (५५२—५५७ ई० पू०) के हैं, जो कि वस्तुतः धावक (=भास) ने रचे थे। नारायण शास्त्री के इस सिद्धान्त का आधार राजशेखर रचित 'कवि-विमर्श' से उद्धृत कहे गये कुछ

१. देखिये उत्तर पृ० १०।

२. देखिये ऊपर पृ० १०।

३. Sriharsha the Dramatist, Madras, 1902.

४. नारायण शास्त्री ने राजतरङ्गिणी के एक पद्य के आधार पर उज्जयिनी के शासक श्रीहर्ष-विक्रम की कल्पना की है।

श्लोक हैं।[1] परन्तु राजशेखर रचित वस्तुतः 'कवि-विमर्श' कोई ग्रन्थ है और उसमें यह श्लोक आते हैं, यह सन्दिग्ध है। क्योंकि जब 'प्रियदर्शिका' (वाणी विलास संस्कृत सिरीज, श्रीरङ्गम् १९०६) के विद्वान् सम्पादक पं० आर० वी० कृष्णमाचारियर ने नारायण शास्त्री को अपने मत की पुष्टि में प्रमाण देने को कहा तो वह कोई सन्तोषजनक उत्तर न दे सके। इसलिए जब तक राजशेखर के 'कवि-विमर्श' की कोई प्रति उपलब्ध न हो जाये तब तक उसके आधार पर कोई निर्णय नहीं किया जा सकता है।

एटिंगहाउसन ने अपने ग्रन्थ 'हर्ष वर्धन' में नारायण शास्त्री के मत की आलोचना की है। स्टेन कोनो आदि विद्वानों का भी यह मत है कि प्रियदर्शिका आदि तीनों रूपक कन्नौज के राजा हर्ष की स्वयं की रचना हैं। संस्कृत के सुभाषित-ग्रन्थों में जो श्लोक इन तीनों नाटकों से संगृहीत किये गये हैं। वे हर्ष के नाम से ही प्रसिद्ध किये गये हैं।

(ङ) हर्ष के कवित्व की पुष्टि में तीनों रूपकों में उपलब्ध आन्तरिक प्रमाण

प्राचीन टीकाकारों की टीकाओं में हर्ष के कवित्व के विरुद्ध कथन होने पर भी और आधुनिक विद्वानों द्वारा इस कथन की पुष्टि में खोजे गये अन्य प्रमाणों के रहते भी हर्ष द्वारा रचित कहे गये तीनों रूपकों में कुछ ऐसे अकाट्य प्रमाण उपलब्ध हैं, जो इस विषय में प्रचलित सब भ्रान्तियों को छिन्नमूल कर देते हैं और जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि रत्नावली आदि रूपक एक ही लेखनी से प्रसूत हैं और वह राजा हर्ष की ही कृतियाँ हैं।

डॉ० पिशल ने प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द का तुलनात्मक अध्ययन करके यह मत प्रकट किया है कि ये तीनों रचनायें किसी एक ही

---

१. आदौ भासेन रचिता नाटिका प्रियदर्शिका।
निरीर्ष्यस्य रसज्ञस्य कस्य न प्रियदर्शना॥
तस्य रत्नावली नूनं रत्नमालेव राजते।
दशरूपककामिन्या वक्षस्यत्यन्तशोभना॥
नागानन्दं समालोक्य यस्य श्रीहर्षविक्रमः।
अमन्दानन्दभरितः स्वसभ्यमकरोत्कविम्॥

लेखक की कृतियाँ हैं क्योंकि उनमें अनेक स्थलों पर भाव, शब्दावली और घटना-संयोगों की ऐसी समानतायें पाई जाती हैं, जो एक ही लेखक की कृतियों मे सम्भव हैं।[1] तीनों रूपकों की प्रस्तावना में उन्हें श्रीहर्ष की रचना बतलाया गया है और प्रस्तावना का वह भाग जिसमें कवि और उसकी रचना का निर्देश किया गया है, शब्दावली और वाक्य-विन्यास की दृष्टि से अत्यधिक समान है। "श्रीहर्षो निपुणः कविः····" इत्यादि श्लोक तीनो रूपकों मे समान रूप से पाया जाता है। प्रियदर्शिका और रत्नावली दोनों के 'भरतवाक्य' लगभग एक समान हैं, उनके केवल पिछले दो चरणों में कुछ शब्दों का हेर-फेर है। प्रियदर्शिका और नागानन्द में भी दो पद्य समान हैं।[2] प्रियदर्शिका और रत्नावली में तो पात्रों और घटना-संयोगों की इतनी अधिक समानता है कि एक कृति दूसरी का संशोधित संस्करण प्रतीत होती है।[3] इसलिये जब तक प्रियदर्शिका आदि रूपको की प्रस्तावना का वह भाग जिसमें उन्हें हर्ष की रचना बतलाया गया है, प्रक्षिप्त अथवा असत्य न प्रमाणित कर दिया जाय, जो साहस अभी तक किसी विद्वान् ने नहीं किया है, तब तक उन्हे राजा हर्ष की कृति ही माना जाता रहेगा।

(ऊ) हर्ष की रचनायें—उनका काल-क्रम

तीन रूपक—जैसा कि ऊपर कहा गया है प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द ये तीन रूपक हर्ष की कृतियाँ हैं। इनमे से प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिका हैं, और उनका विषय वत्स देश के राजा उदयन का प्रसिद्ध आख्यान है। नागानन्द नाटकों की श्रेणी मे आता है। इसका नायक जीमूतवाहन है जिसने दया से आप्लावित होकर नाग की रक्षा के लिये स्वयं को

---

१. लेकिन यह ध्यान रहे कि पिशल ने इन तीनों कृतियों को उनमें उपलब्ध समानताओं के आधार पर धावक की रचना माना है।

२. प्रियद० ३·३=नागा० ४·१, प्रियद० ३·१०=नागा० १·१४

३. तीनों रचनाओं में उपलब्ध समानताओं की अधिक जानकारी के लिये देखो, 'प्रियदर्शिका' कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस, 'रत्नावली' देवधर और सुरु संपादित, १९२५।

समर्पित कर दिया था।

बौद्ध धर्म सम्बन्धी दो स्तोत्र—इन तीन रचनाओं के अतिरिक्त हर्ष के रचित दो स्तोत्र भी कहे जाते हैं। इन रचनाओं का विषय बौद्ध धर्म से सम्बन्धित है। 'सुप्रभातस्तोत्र' में २४ श्लोकों में जो अधिकतर मालिनी छन्द में हैं, अवलोकितेश्वर बुद्ध की स्तुति की गई है। इसकी पुष्पिका में श्रीहर्ष नाम आया है।[1] दूसरा स्तोत्र 'अष्टमहाश्रीचैत्यसंस्कृतस्तोत्र' आठ बौद्ध चैत्यों की प्रशंसा में लिखा गया है। यह केवल चीनी अनुवाद में ही सुरक्षित है। चीनी यात्री ह्वेनसांग के अनुसार यह स्तोत्र भारतीय राजा का लिखा हुआ है और उसे चीनी भाषा में 'शील' का 'सूर्य' कहा गया है जो 'शीलादित्य' नाम का अनुवाद जान पड़ता है। बौद्ध-साहित्य में, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, हर्ष शीलादित्य के नाम से प्रसिद्ध है। ये दोनों रचनायें हर्ष की ही हैं, यह इस बात से भी सम्भव प्रतीत होता है कि हर्ष का जीवन के अन्तिम भाग में बौद्ध धर्म की ओर अधिक झुकाव हो गया था।

अन्य फुटकर रचनायें—इनके अतिरिक्त संस्कृत के सुभाषित-ग्रन्थों (Anthologies) में हर्ष के नाम से प्रसिद्ध लगभग एक दर्जन ऐसे श्लोक भी हैं, जो उसके वर्तमान नाटकों में नहीं पाये जाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष ने कुछ अन्य रचनायें भी की थीं।

हर्ष के नाटकों की रचना का काल-क्रम—यद्यपि हर्ष के उपलब्ध नाटकों की रचना के काल-क्रम के विषय में कोई निश्चित साक्ष्य उपलब्ध नहीं है' लेकिन फिर भी तीनों नाटकों के तुलनात्मक अध्ययन से पाठक को यह अनुभव हो सकता है कि इनमें प्रियदर्शिका उसकी पहली कृति है, क्योंकि प्रियदर्शिका में वस्तु-योजना की वैसी चुस्ती, काव्य-गुणों की वैसी प्राञ्जलता और छन्दों की वैसी विविधता नहीं पाई जाती जो रत्नावली और नागानन्द मे पाई जाती है। रत्नावली और नागानन्द के पौर्वापर्य का प्रश्न तनिक जटिल है। कोई विद्वान् काल-क्रम की दृष्टि से अन्तिम रचना रत्नावली को मानते हैं और कोई नागानन्द को।

१. देखिये, एटिंगहाउसन: 'हर्षवर्धन' पृ० १७२–७४ और १७८–७९।

रामास्वामी का विचार है कि प्रियदर्शिका और रत्नावली की अत्यधिक समानता को देखते हुये यह असम्भव जान पड़ता है कवि ने इन दोनों रचनाओं के बीच में कोई अन्य रचना की हो। दूसरे नागानन्द पर बौद्ध धर्म की छाप को देखते हुये भी यही सम्भव जान पड़ता है कि नागानन्द की रचना उन दोनों की होगी जब हर्ष का झुकाव बौद्ध धर्म की ओर अधिक हो गया था। रामास्वामी का यह भी विचार है कि हर्ष ने नायिका की आत्महत्या की चेष्टा का प्रयोग पहले रत्नावली में किया होगा, क्योंकि रत्नावली में आत्महत्या का प्रयास घटना-संयोग के विकास में सर्वथा अवसरोचित प्रतीत होता है। रत्नावली में नायिका की आत्महत्या की चेष्टा के नाटकीय प्रभाव से हर्ष कदाचित् इतना आकृष्ट हो गया था कि उसने रत्नावली के अनुकरण पर नागानन्द में भी नायिका की आत्महत्या के प्रयत्न की घटना की योजना कर डाली, यद्यपि नागानन्द में उन परिस्थितियों की सृष्टि नहीं की गई जो नायिका को आत्महत्या के लिये विवश करती।[1]

इसके विपरीत, प्रो० ग्रहो और परांजपे ने नायिका द्वारा आत्महत्या की चेष्टा की घटना से इससे विरुद्ध परिणाम निकाला है। उनका कहना है कि नागानन्द की मूल कथा में नायिका का आत्महत्या का प्रयत्न वर्णित किया गया है; इसलिये हर्ष ने नायिका की आत्महत्या की चेष्टा की योजना पहले नागानन्द में की होगी। बाद में इसके प्रभाव से मुग्ध होकर हर्ष ने रत्नावली में विवश करने वाली परिस्थितियों की सृष्टि करके नायिका की आत्महत्या के प्रयत्न की घटना की योजना की।[2]

इन परिस्थितियों में रत्नावली और नागानन्द में से कौन रचना पहली है और कौन बाद की है, यह निर्णय करना कठिन है। लेकिन वस्तु-विन्यास के सुश्लिष्ट गठन और नाटकीय गत्यात्मकता को यदि किसी कवि की अन्तिम रचना होने की कसौटी माना जाय तो तब सम्भवतः साक्ष्य रत्नावली के अन्तिम रचना होने के पक्ष में जायेगा।

१. रत्नावली, Introduction pp. 24, 25.

२. नागानन्द।

(२) संस्कृत साहित्य में हर्ष का स्थान

प्राचीन कवियों की दृष्टि में—हर्ष ने उच्चकोटि के कवि और उदार विद्या प्रेमी के रूप में अपने समय में तथा उत्तरवर्ती कुछ शताब्दियों में ही आलोचकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था। हर्ष के राजसभा के पण्डित बाण ने हर्ष के कवित्व और त्याग की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[1] जयदेव ने उसे कविता-कामिनी का हर्ष कहा है[2] और सोड्ढल ने उसे 'गीहर्ष' बतलाया है।[3]

हर्ष अपनी दृष्टि में—हर्ष को अपनी कवि-प्रतिभा पर आत्म-विश्वास था। तीन नाटकों में पाये जाने वाले एक श्लोक में उसने स्वयं को 'निपुण कवि' कहा है।[4] प्रस्तावना मे उसने सूत्रधार के मुख के अपनी रचना को 'अपूर्ववस्तु-रचनालङ्कृत' कहलाया है[5]

हर्ष कवि के रूप में—यद्यपि संस्कृत के पण्डित हर्ष के केवल रूपकों से ही परिचित है और उनके आधार पर ही हर्ष का साहित्य में मूल्याङ्कन करते हैं क्योंकि उसका अन्य कोई ग्रन्थ पठन-पाठन में प्रचलित नहीं है और न ही काव्य की दृष्टि से अन्य ग्रन्थों का इतना महत्व है, फिर भी हर्ष के रूपकों के नाट्य गुणों के अतिरिक्त काव्य-गुणों पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि हर्ष उच्चकोटि का कवि है। भाषा और शैली की सुबोधता तथा भावाभिव्यक्ति की सरलता मे उसने अपने समकालीन बाण के पथ का अनुसरण न करके अपने पूर्ववर्ती कवि कालिदास के मार्ग को अपनाया है। साथ ही उसके नाटक भास के नाटकों के समान काव्य-गुणों से भी शून्य नहीं है। कालिदास के समान उसके नाटकों के काव्य और नाट्य-गुणों का सुख-

१. देखिये, ऊपर पृ० ६।
२. देखिये, ऊपर पृ० ११ पा० टि० १।
३. देखिये, ऊपर पृ० १० पा० टि० २।
४. श्रीहर्षो निपुणः कविः परिपदप्येषा गुणग्राहिणी। रत्नावली १, ५।
५. अस्मत्स्वामिना श्रीहर्षदेवेनापूर्ववस्तुरचनालङ्कृता रत्नावली नाटिका कृता पृ० ६।

दायक समन्वय हुआ है। हर्ष के नाटकों में यथास्थल नगर, प्रासाद, धारागृह, प्रभात, सन्ध्या, मध्याह्न, वन, आश्रम, पर्वत और युद्ध आदि प्रायः उन सभी वस्तुओं के सुन्दर एवं मार्मिक वर्णन हुए हैं, जिनका बहुधा संस्कृत काव्यों में समावेश पाया जाता है। हर्ष एक साथ प्रणय के कोमल एवं युद्ध और भयानक के उत्कट चित्र उतारने में सफल रहा है। उसकी भाषा भावों और वर्ण्य विषय के अनुरूप होती है। चित्रपट में लिखित नायिका के चित्र को देखकर नायक के हृदय पर हुए प्रभाव को कवि ने कैसे सरल शब्दों में प्रकट किया है—

लीलावधूतपद्मा कथयन्ती पक्षपातमधिकं नः।
मानसमुपैति केयं चित्रगता राजहंसीव ॥ रत्ना० २।६

लेकिन युद्ध के वर्णन में हर्ष की पदयोजना एकदम दूसरे ही प्रकार की होती है। उसमें लम्बे समासों और उपयुक्त संयुक्ताक्षरों की योजना होती है—

अस्त्रव्यस्तशिरस्त्रकषणोत्कृत्तोत्तमाङ्गे क्षणं
व्यूढासृक्सरिति स्वनत्प्रहरणे धर्मोद्वलद्वह्निनि।
आहूयाजिमुखे स कोसलपतिर्भङ्गप्रतीपीभव—
न्नेकेनैव रुमण्वता शरशतैर्मत्तद्विपस्थो हतः ॥रत्ना० ४।६

हर्ष ने श्लेष और अनुप्रास अलङ्कारों का समुचित उपयोग किया है। उत्तरवर्ती कवियों की भाँति उसका अलङ्कारों का प्रयोग कविता की गति में बाधक नहीं हुआ है।

हर्ष नाटककार के रूप में—हर्ष के नाटकों में यद्यपि कथा-वस्तु की मौलिकता नहीं है और उसके नाटकों में घटना-संयोग, वस्तु-योजना तथा पदावली पर कालिदास और भास का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है, फिर भी हर्ष ने पुराने आख्यान में नाटकीय व्यापार के लिये अपेक्षित परिवर्तन करके वस्तु-विन्यास में जो सुश्लिष्टता और गति उत्पन्न कर दी है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। बाद के नाट्यशास्त्रियों ने नाट्य अङ्गों के उदाहरण के लिये बहुधा हर्ष की रत्नावली और भट्टनारायण के वेणी-संहार नाटक को चुना है। उसकी रत्नावली में नाट्य अङ्गों के प्रायः सब उदाहरण मिल जाते हैं।

परन्तु भट्टनारायण के वेणी-संहार की भांति हर्ष की रत्नावली नाट्य अङ्गों के सचेष्ट समावेश से भारी-भरकम नहीं हुई है। उसकी कथा-वस्तु में उन स्थितियों का सहज विकास हुआ है जो किसी रूपक को नाटकीय गति प्रदान करती हैं।

वस्तुविन्यास की दृष्टि से हर्ष की प्रियदर्शिका और रत्नावली दोनों नाटिकायें अत्यधिक सफल कही जा सकती हैं। रत्नावली मे ऐन्द्रजालिका का दृश्य बड़ा विनोदपूर्ण और गतिमान् है। अन्तःपुर में अग्निकाण्ड की घटना की योजना करके कवि ने सागरिका की पहचान के लिये सर्वथा नाटकोचित अवसर की सृष्टि की है। सारिका के पिञ्जरे से निकलने, सागरिका और सुसंगता के वचनों को दुहराने तथा राजा द्वारा सुने जाने की कल्पना अनूठी है जो मूल घटना तथा नाटय-व्यापार को गति देने में सहायक सिद्ध होती है। वेष-परिवर्तन करके सागरिका का अभिसरण और संकेत-स्थान पर होने वाली भ्रान्तियां बड़ी ही स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण हैं। प्रियदर्शिका में गर्भाङ्क की योजना भी प्रियदर्शिका को दो प्रणय-कथाओं में परिणत करके दर्शक और पाठक को मुग्ध करने वाली है।

हर्ष की तीसरी रचना नागानन्द नाटक विषय की दृष्टि से पहली दो कृतियों से सर्वथा भिन्न है। उसका उद्देश्य जीवन की उदात्तता का प्रकाशन है। वस्तु-योजना की दृष्टि से उसे सफल नाटक नही कहा जा सकता। पहले तीन अंकों का विषय गन्धर्व-कुमार जीमूतवाहन और सिद्ध-कन्या मलयवती की प्रणय-कथा है, पिछले दो अकों मे जीमूतवाहन के आत्मोत्सर्ग एव पक्षि-राज गरुड़ के अनुताप की कथा है। पहले तीन अकों का पिछले दो अङ्कों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि नागानन्द नाटक तीन अङ्कों में ही समाप्त कर दिया जाय तो, वह भी प्रियदर्शिका और रत्नावली के समान प्रणय-कथा मात्र रह जाता।

हर्ष पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव—हर्ष साहित्य-प्रेमी था, इसलिये स्वाभाविक रूप से उसने पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं का आस्वादन किया होगा और उनसे प्रेरणा प्राप्त की होगी। आलोचकों ने हर्ष और कालिदास की

रचनाओं की तुलना करके हर्ष पर कालिदास के प्रभाव का विस्तार मे विवेचन किया है। कालिदास के मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय का हर्ष की प्रियदर्शिका, नागानन्द पर, और यहाँ तक कि रत्नावली पर भी, अत्यधिक प्रभाव कहा जाता है।

हर्ष की अन्यकवियों से तुलना—कुछ आलोचकों ने कालिदास और भवभूति की तुलना में हर्ष को केवल द्वितीय कोटि का कवि घोषित किया है। हर्ष निश्चित रूप से विशाखदत्त और भट्टनारायण से उच्चतर कोटि का कवि है। डॉ० कीथ ने अपने ग्रन्थ 'संस्कृत ड्रामा' में कहा है कि कालिदास के साथ तुलना किये जाने के कारण ही हर्ष को उतनी प्रशंसा प्राप्त नहीं हो सकी जितनी उसके नाटकों के कारण मिलनी चाहिये थी[1] अन्तःपुर की गुप्त प्रणय-लीला के चित्र अङ्कित करने में हर्ष सम्भवतः कालिदास से भी बढ़कर हैं। हर्ष प्रेम के गम्भीर पक्ष का उद्घाटन करने में भी असफल नहीं कहा जा सकता। सागरिका के प्रति पति की काम-चेष्टाओं से क्रुद्ध होकर वासवदत्ता के चले जाने पर जब उदयन को यह विचार आता है कि प्रेम के स्खलन के कारण वासवदत्ता कहीं आत्म-हत्या न करले तो उसे अपनी चञ्चलता पर बड़ा पश्चाताप होता है और वह गुप्त प्रेम-लीला में सहायक विदूषक की भर्त्सना करते हुये कहता है—'पहले न किये गये इस अपराध को मेरे द्वारा किया गया देखकर न सहन करने वाली प्रिय आज निःसन्देह प्राण त्याग कर देगी, क्योंकि उत्कट प्रेम का स्खलन असह्य होता है।'[2]

१. Comparison With Kalidasa is doubtless the cause why Harsha has tended to receive less pretise than is due to his dramas'. P. 175.

२. रत्नावली, ३/१५

—:o:—



(१) रत्नावली की कथावस्तु

पूर्व कथा—रत्नावली नाटिका उदयन के सम्बद्ध चार अंकों की नाटिका है। सिंहल के अधिपति विक्रमबाहु की पुत्री इसकी नायिका है, जिसके नाम पर नाटिका का नाम पड़ा है। इसका प्रमुख प्रेरक पात्र यौगन्धरायण है। उसने सिद्धों के इस वचन पर—जो सिंहलाधिपति की रत्नावली से विवाह करेगा वह चक्रवर्ती राजा होगा—विश्वास करके सिंहलेश्वर से उदयन के लिये उसकी पुत्री की याचना की। परन्तु सिंहल के राजा ने, जो उदयन की प्रधान रानी वासवदत्ता का सम्बन्धी था, वासवदत्ता का ध्यान रखकर वैसा करने से मना कर दिया। तब यौगन्धरायण ने यह प्रवाद फैला दिया कि वासवदत्ता लावाणक में अग्नि में जलकर मर गई और उसने बाभ्रव्य नामक कञ्चुकी के द्वारा सिंहल के राजा विक्रमबाहु के पास उदयन के पक्ष में फिर विवाह का प्रस्ताव भेजा, जो स्वीकृत कर लिया गया।

रत्नावली अपने पिता के मन्त्री वसुभूति और राजा उदयन के कञ्चुकी बाभ्रव्य के साथ जलयान द्वारा वत्स देश को आ रही थी कि दैवयोग से रास्ते मे जहाज टूट गया, लेकिन वह संयोग से एक तख्ते के सहारे किनारे पर आ लगी। उसके पिता ने विदा होते समय उसे एक रत्नमाला दी थी। उस रत्नमाला की पहचान से किसी कौशाम्बी निवासी व्यापारी ने, जो स्वदेश लौट रहा था, रत्नावली को पहचान लिया और उसे यौगन्धरायण के पास ले गया। यौगन्धरायण ने उसे सागर में से मिलने के कारण 'सागरिका' नाम से प्रख्यात करके रानी वासवदत्ता की सेविका के रूप में अन्तःपुर में रख दिया। ऐसा करने में यौगन्धरायण का यह अभिप्राय था कि अन्तःपुर में रहते हुए सागरिका अपने लावण्य से अवश्य ही राजा उदयन का ध्यान आकृष्ट कर लेगी। रानी वासवदत्ता भी सागरिका के सौन्दर्य और राजा उदयन की सौन्दर्य-प्रवणता से

आशङ्कित थी, इसलिये वह सागरिका को राजा की दृष्टि से बचाये रखने के लिये सतर्क रहती थी।

प्रथम अङ्क—प्रथम अङ्क में से पहले विष्कम्भक में यौगन्धरायण यह सूचना देता है कि भाग्य उसके स्वामी उदयन का बड़ा साथ दे रहा है क्योंकि उसके स्वामी को चक्रवर्ती पद का लाभ कराने की कारणभूत सिंहलेश्वर की पुत्री रत्नावली यान-भंग के कारण समुद्र में डूबकर भी फिर बच गई और किसी प्रकार उसे पहचान कर एक व्यापारी उसके पास ले आया। वह यह भी सूचना देता है कि उसने रत्नावली को वासवदत्ता के पास रखकर सर्वथा उचित किया है। इसी बीच नेपथ्य मे कलकल ध्वनि होती है और यौगन्धरायण यह देखकर कि महाराज उदयन वसन्तोत्सव देखने के लिये प्रासाद पर चढ रहे हैं, शेष कार्य की चिन्ता करने के लिये अपने घर चला जाता है।

कौशाम्बी में वसन्तोत्सव की धूम मे अन्तःपुर के सब सेवक और पुर के नर और नारी डूबे हुये हैं। मकरन्द उद्यान में महारानी वासवदत्ता को कामदेव की पूजा सम्पन्न करती है, जिसमें वह महाराजा उदयन की उपस्थिति भी चाहती है। राजा के मकरन्द उद्यान मे पहुँचने पर वासवदत्ता कामदेव-पूजन के लिये तत्पर होती है। परन्तु तभी उसे ज्ञात होता है कि सागरिका, जिसे महारानी ने सारिका की रक्षा के व्याज से राजा की दृष्टि से बचाने के अभिप्राय से कामदेव-पूजन के समय मकरन्द उद्यान से दूर रखने का प्रयत्न किया था, पूजा की सामग्री लिये खड़ी है। रानी वासवदत्ता ने सागरिका को सारिका की देख-रेख करने के लिये वहा से चले जाने की आज्ञा दी। परन्तु सागरिका को कौशाम्बी में काम-पूजन देखने का कुतूहल था, इसलिये वह छिप कर काम-पूजन देखने का निश्चय करती है और स्वयं काम-पूजन के लिये पुष्प-चयन के लिये चली जाती है।

इधर रानी वासवदत्ता काम-पूजा करने के पश्चात् राजा उदयन की पूजा करती है। तभी पुष्प चुनकर सागरिका भी आ जाती है और उसे यह देखकर आश्चर्य होता है कि कौशाम्बी मे चित्र मे बनाये गये कामदेव की पूजा नहीं होती, अपितु देहधारी कामदेव की पूजा होती है। वह उदयन को कामदेव

समझती है। और स्वयं भी उसकी पूजा करती है। लेकिन तभी वैतालिक के द्वारा पढ़ी गई स्तुति से सागरिका यह जान लेती है कि यह वही राजा उदयन है जिसके लिये उसके पिता ने उसे दिया था। वह राजा को साभिलाप होकर देखती है और उसे देखते रहने के अवसरों की सुलभता की आशा से अन्तःपुर मे सेविका के जीवन को भी बहुत मानती है।

द्वितीय अङ्क—द्वितीय अङ्क में नागरिक की मदनावस्था का वर्णन किया गया है। राजा के प्रति अनुरक्त सागरिका अपनी उत्कण्ठा मिटाने के लिये कदली गृह में बैठकर उसका चित्र बनाती है और सखी सुसङ्गता के पूछने पर रहस्य छिपाती है। परन्तु सुसङ्गता रहस्य को ताड़ लेती है और उस चित्र-फलक में सागरिका का चित्र भी बना देती है। इस पर सागरिका सुसंगता से कुपित हो जाती है, लेकिन सुसङ्गता के आग्रहपूर्वक पूछने पर अपनी सब व्यथा बतला देती है। पिंजरे में बन्द सारिका उनके इस वार्तालाप को सुन लेती है। इसी बीच अश्वशाला में बन्धन तुड़ा कर छूटा हुआ वानर अन्तःपुर मे भगदड़ मचा देता है। वानर को कदलीगृह की ओर आता देखकर सागरिका और सुसङ्गता घबराहट मे सारिका के पिंजरे और चित्रफलक को कदलीगृह में छोड़ कर तमाल-वीथि मे छिप जाती है। वानर पिंजरे का द्वार खोल देता है और सारिका उड़कर बकुल के वृक्ष पर बैठकर सागरिका और सुसङ्गता के मध्य हुए विश्रब्ध आलाप को दुहराने लगती है। श्री खण्डदास धार्मिक से सीखे हुए दोहद के प्रभाव से अकाल-पुष्पित नवमालिका को देखने के लिये मकरन्द उद्यान में जाते हुए राजा और विदूषक सारिका के आलाप को सुन लेते हैं और सारिका के पीछे-पीछे कदलीगृह मे पहुँच जाते हैं और वहाँ सागरिका की काम-दशा को सूचित करने वाले कमलिनी-पत्रों के शयन, मृणाल-हार और चित्रपट को देखते हैं। इसी बीच चित्रपट को लेने के लिये सागरिका और सुसङ्गता भी पुनः कदलीगृह के समीप पहुँच जाती है और सुसङ्गता बड़ी चतुरता से राजा और सागरिका का मिलन करा देती है। सुसङ्गता की वाचालता से कुपित सागरिका को प्रसन्न करने के लिये राजा उसका हाथ पकड़ता है, परन्तु विदूषक की मूर्खता से यह मिलन अपूर्ण रह जाता है और

भयभीत हुई सागरिका सुसङ्गता के साथ तमाल-वीथि की ओट मे होकर वहाँ से चली जाती है। अकाल-पुष्पित नवमालिका को देखने के लिये काञ्चनमाला को साथ लिये महारानी वासवदत्ता भी मकरन्द उद्यान आती है। वासवदत्ता को देखकर विदूषक चित्रपट को बगल में दबा लेता है। रानी वासवदत्ता राजा से नवमालिका के पुष्पित होने का समाचार पूछती है। वह राजा के हर्ष से खिले मुख को देखकर ही समझ लेती है कि नवमालिका पर फूल आ गये हैं और नवमालिका देखने जाने से मना करती है।

इस पर विदूषक विजय के हर्ष मे नाचने लगता है और उसकी बगल से चित्रपट नीचे गिर पड़ता है। वासवदत्ता उस चित्रपट में राजा और सागरिका के चित्र को देखकर कुपित हो जाती है। राजा तथा विदूषक के शपथ लेने और अनुनय-विनय करने पर भी वासवदत्ता प्रसन्न नहीं होती और शिरोवेदना के व्याज से यहाँ से चली जाती है। राजा और विदूषक भी महारानी को मनाने के लिये अन्त:पुर की ओर चले जाते हैं।

तृतीय अङ्क—कदलीगृह में सागरिका से मिलन के पश्चात् राजा उस पर अनुरक्त हो जाता है और सागरिका की चिन्ता मे डूबा रहता है। विदूषक सागरिका की सखी सुसंगता से मिलकर राजा और सागरिका के एकान्त में मिलन की योजना बनाता है जिसके अनुसार विदूषक प्रदोष काल में चित्रशाला के द्वार पर आकर क्रमशः वासवदत्ता और काञ्चनमाला का वेष बनाई हुई सागरिका और सुसंगता को माधवीलतामण्डप मे स्थित राजा से मिला देता। परन्तु वासवदत्ता को अपनी चेटी काञ्चनमाला के द्वारा विदूषक और सुसङ्गता के इस षड्यन्त्र का पता लग जाता है और वह काञ्चनमाला के साथ स्वयं संकेत-स्थान पर पहुँच जाती है। राजा और विदूषक दोनों वासवदत्ता को उसके वेष मे सागरिका समझते हैं। राजा उसके प्रति सागरिका नाम से सम्बोधन करके प्रेम प्रकट करता है और उसके रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा करता है। राजा की इस धूर्तता को सहन न करके वासवदत्ता क्रोध में आकर स्वयं को प्रकट कर देती है। वस्तुस्थिति को जानकर राजा वासवदत्ता के चरणों मे पड़कर क्षमा-याचना करता है, परन्तु वासवदत्ता राजा के अनुनय की अवहेलना करके वहाँ से चली जाती है।

भयभीत हुई सागरिका सुसङ्गता के साथ तमाल-वीथि की ओट मे होकर वहाँ से चली जाती है। अकाल-पुष्पित नवमालिका को देखने के लिये काञ्चनमाला को साथ लिये महारानी वासवदत्ता भी मकरन्द उद्यान आती है। वासवदत्ता को देखकर विदूषक चित्रपट को बगल में दबा लेता है। रानी वासवदत्ता राजा से नवमालिका के पुष्पित होने का समाचार पूछती है। वह राजा के हर्ष से खिले मुख को देखकर ही समझ लेती है कि नवमालिका पर फूल आ गये हैं और नवमालिका देखने जाने से मना करती है।

इस पर विदूषक विजय के हर्ष में नाचने लगता है और उसकी बगल से चित्रपट नीचे गिर पड़ता है। वासवदत्ता उस चित्रपट में राजा और सागरिका के चित्र को देखकर कुपित हो जाती है। राजा तथा विदूषक के शपथ लेने और अनुनय-विनय करने पर भी वासवदत्ता प्रसन्न नही होती और शिरोवेदना के ब्याज से वहाँ से चली जाती है। राजा और विदूषक भी महारानी को मनाने के लिये अन्तःपुर की ओर चले जाते हैं।

तृतीय अङ्क—कदलीगृह मे सागरिका से मिलन के पश्चात् राजा उस पर अनुरक्त हो जाता है और सागरिका की चिन्ता मे डूबा रहता है। विदूषक सागरिका की सखी सुसगता से मिलकर राजा और सागरिका के एकान्त मे मिलन की योजना बनाता है जिसके अनुसार विदूषक प्रदोष काल मे चित्रशाला के द्वार पर आकर क्रमशः वासवदत्ता और काञ्चनमाला का वेष बनाई हुई सागरिका और सुसगता को माधवीलतामण्डप मे स्थित राजा से मिला देता। परन्तु वासवदत्ता को अपनी चेटी काञ्चनमाला के द्वारा विदूषक और सुसङ्गता के इस षड्यन्त्र का पता लग जाता है और वह काञ्चनमाला के साथ स्वय सकेत-स्थान पर पहुँच जाती है। राजा और विदूषक दोनो वासवदत्ता को उसके वेष मे सागरिका समझते है। राजा उसके प्रति सागरिका नाम से सम्बोधन करके प्रेम प्रकट करता है और उसके रूप-सौन्दर्य की प्रशसा करता है। राजा की इस धूर्तता को सहन न करके वासवदत्ता क्रोध मे आकर स्वय को प्रकट कर देती है। वस्तुस्थिति को जानकर राजा वासवदत्ता के चरणों मे पड़कर क्षमा-याचना करता है, परन्तु वासवदत्ता राजा के अनुनय की अवहेलना करके वहाँ से चली जाती है।

भयभीत हुई सागरिका सुसङ्गता के साथ तमाल-वीथि की ओट में होकर वहाँ से चली जाती है। अकाल-पुष्पित नवमालिका को देखने के लिये काञ्चनमाला को साथ लिये महारानी वासवदत्ता भी मकरन्द उद्यान आती है। वासवदत्ता को देखकर विदूषक चित्रपट को बगल में दबा लेता है। रानी वासवदत्ता राजा से नवमालिका के पुष्पित होने का समाचार पूछती है। वह राजा के हर्ष से खिले मुख को देखकर ही समझ लेती है कि नवमालिका पर फूल आ गये हैं और नवमालिका देखने जाने से मना करती है।

इस पर विदूषक विजय के हर्ष में नाचने लगता है और उसकी बगल से चित्रपट नीचे गिर पड़ता है। वासवदत्ता उस चित्रपट में राजा और सागरिका के चित्र को देखकर कुपित हो जाती है। राजा तथा विदूषक के शपथ लेने और अनुनय-विनय करने पर भी वासवदत्ता प्रसन्न नहीं होती और शिरोवेदना के ब्याज से वहाँ से चली जाती है। राजा और विदूषक भी महारानी को मनाने के लिये अन्तःपुर की ओर चले जाते हैं।

तृतीय अङ्क—कदलीगृह में सागरिका से मिलन के पश्चात् राजा उस पर अनुरक्त हो जाता है और सागरिका की चिन्ता में डूबा रहता है। विदूषक सागरिका की सखी सुसंगता से मिलकर राजा और सागरिका के एकान्त में मिलन की योजना बनाता है जिसके अनुसार विदूषक प्रदोष काल में चित्रशाला के द्वार पर आकर क्रमशः वासवदत्ता और काञ्चनमाला का वेष बनाई हुई सागरिका और सुसंगता को माधवीलतामण्डप में स्थित राजा से मिला देता। परन्तु वासवदत्ता को अपनी चेटी काञ्चनमाला के द्वारा विदूषक और सुसङ्गता के इस षड्यन्त्र का पता लग जाता है और वह काञ्चनमाला के साथ स्वयं संकेत-स्थान पर पहुँच जाती है। राजा और विदूषक दोनों वासवदत्ता को उसके वेष में सागरिका समझते हैं। राजा उसके प्रति सागरिका नाम से सम्बोधन करके प्रेम प्रकट करता है और उसके रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा करता है। राजा की इस धूर्तता को सहन न करके वासवदत्ता क्रोध में आकर स्वयं को प्रकट कर देती है। वस्तुस्थिति को जानकर राजा वासवदत्ता के चरणों में पड़कर क्षमा-याचना करता है, परन्तु वासवदत्ता राजा के अनुनय की अवहेलना करके वहाँ से चली जाती है।

सागरिका भी वासवदत्ता के वेष मे मकरन्द उद्यान मे पहुँचती है और राजा से एकान्त में मिलने की योजना के उद्‌घाटन हो जाने मे अपमान की आशङ्का से आत्महत्या का प्रयत्न करती है। लेकिन वासवदत्ता ,वेष-धारिणी सागरिका को आत्महत्या करती हुई देखकर विदूषक उसे वासवदत्ता समझकर रक्षा के लिये राजा को वहाँ बुला लेता है। राजा समीप जाकर लतापाश को हटाता है और सुखद आश्चर्य के साथ सागरिका को पाकर उसके प्रति अपना प्रेम प्रकट करता है। वह कुछ क्षण पहले वासवदत्ता के प्रति प्रकट किये प्रेम-प्रदर्शन को कुलीनता के कारण की गई सेवामात्र बतलाता है।

इसी बीच राजा के अनुनय की अवहेलना करने पर पश्चात्ताप प्रकट करती हुई वासवदत्ता पुनः मकरन्द उद्यान में पहुँच जाती है। लेकिन वहाँ सागरिका को लक्ष्य कर किये गये राजा के प्रेमालाप को सुनकर आग–बबूला हो जाती है और विदूषक को लतापाश से बांधकर और सागरिका को आगे करके अपने महल में ले जाने की आज्ञा देकर चली जाती है। राजा भी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के लिये अन्तःपुर की ओर जाता है।

चतुर्थ अङ्क—महारानी वासवदत्ता ने प्रसन्न होकर विदूषक को तो छोड़ दिया, लेकिन सागरिका को कारावास मे डाल दिया। सागरिका जीवन से निराश हो गई और पिता द्वारा प्रस्थान के समय दी गई रत्नमाला किसी ब्राह्मण को दान देने के लिये अपनी सखी सुसङ्गता को सौंप दी। सखी की विपत्ति से दुःखी असंगता रत्नमाला देने के लिये किसी ब्राह्मण को खोजती है और विदूषक को पाकर रत्नमाला उसे ही दे देती है।

रत्नमाला लेकर विदूषक राजा के पास पहुँचता है और सागरिका की दुरवस्था से उसे परिचित कराता है। उसी समय राजा को यह समाचार मिलता है कि उसके सेनापति रुमण्वान् ने विन्ध्य-दुर्ग में स्थित कोशलाधिपति को युद्धक्षेत्र में मारकर कोशलदेश जीत लिया है। तभी उज्जयिनी से आया हुआ ऐन्द्रजालिक (जो वस्तुतः अमात्य यौगन्धरायण का प्रयोग था) अपना खेल दिखाने की अनुमति लेने आता है और राजा व वासवदत्ता साथ बैठकर

उसका आश्चर्यजनक खेल देखते हैं। इसी बीच अमात्य वसुभूति और कञ्चुकी बाभ्रव्य पहुँचते हैं और ऐन्द्रजालिक राजा से एक खेल अवश्य देखने का अनुरोध करता हुआ बाहर चला जाता है। जब वसुभूति राजकुमारी रत्नावली के समुद्र मे डूब जाने की कथा सुना रहा होता है तभी अन्तःपुर में भयङ्कर आग लग जाती है। महारानी वासवदत्ता राजा से कारागार में बांधकर डाली गई सागरिका की रक्षा करने की प्रार्थना करती है। राजा आग में घुसकर सागरिक को उठा लाता है और अमात्य वसुभूति उसकी आकृति राजकुमारी रत्नावली से मिलती जुलती देखकर राजा और वासवदत्ता से उसके विषय मे पूछता है। अन्त में सागरिका पहचान ली जाती है। और वह, और कोई नहीं वासवदत्ता के मामा की पुत्री रत्नावली सिद्ध होती है। इसी अवसर पर अमात्य यौगन्धरायण भी वहाँ पहुंच जाता है और अपनी सारी योजना प्रकट कर देता है। रानी वासवदत्ता भी रत्नावली को आभूषणों से अलङ्कृत करके उसका हाथ राजा को पकड़ा देती है और राजा से प्रार्थना करती है कि वह रत्नावली के प्रति ऐसा प्रेमपूर्ण व्यवहार करे कि अपने दूरस्थ बन्धुओं की याद न सताये।

(२) कथावस्तु का स्रोत

गुणाढ्य की बृहत्कथा—संस्कृत के नाटककारों ने प्रायः अपने नाटकों की कथावस्तु वीर-गाथा-काव्यों, प्राचीन आख्यानों अथवा प्रसिद्ध लोक-कथाओं मे की है। रत्नावली का लेखक हर्ष भी इसका अपवाद नहीं है। गुणाढ्य की कथा, जो पैशाची भाषा में लिखी कही जाती है और जिसका समय भी प्रथम और तृतीय शताब्दी के कहीं मध्य में अनुमान किया जाता है, जो लोक-कथाओं और आख्यानों का सबसे बड़ा संग्रह था, जो दुर्भाग्य से वर्तमान नहीं है।

बृहत्कथा के तीन संस्कृत संस्करण—परन्तु उसकी कथायें हमें क्षेमेन्द्र वृहत्कथामञ्जरी, सोमदेव के कथासरित्सागर और बुद्धस्वामी के वृहत्कथा-संग्रह इन तीन ग्रन्थो में संस्कृत भाषा में उपलब्ध हैं। इनमे से सोमदेव कथासरित्सागर बृहत्कथा का विस्तृत संस्करण कहा जाता है। क्षेमेन्द्र कथामञ्जरी उसका संक्षिप्त और काव्यमय रूप है। वृहत्कथा-श्लोक

संग्रह की बृहत्कथा का अधिक सही रूपान्तर समझा जाता है, परन्तु इसके केवल २८ सर्ग ही प्राप्त हुये हैं।

उदयन का आख्यान कथासरित्सागर और बृहत्कथा-मञ्जरी दोनों में समान रूप से पाया जाता है[1] और उसमें दोनों के वर्णनों में केवल दो स्थलों पर अन्तर पाया जाता है। बृहत्कथामञ्जरी के अनुसार उदयन द्वारा रक्षा किया गया सर्प उसे नाग-लोक (पाताल) ले गया था और वहां उदयन ने एक नागकन्या से विवाह करके घोषवती वीणा प्राप्त की थी। बृहत्कथामञ्जरी में सिद्ध के इस वचन का—जो राजकुमारी पद्मावती से विवाह करेगा, चक्रवर्ती राजा होगा—भी उल्लेख हुआ है। उपलब्ध बृहत्कथा श्लोक-संग्रह मे उदयन का पूर्ण आख्यान नही पाया जाता, उदयन सम्बन्धी केवल कुछ ही घटनायें मिलती हैं।

हर्ष के नाटकों की कथावस्तु का स्रोत बृहत्कथा अथवा प्रचलित लोक-कथा—

यह सम्भव है कि हर्ष को मूल बृहत्कथा उपलब्ध रही हो और उसने अपने तीनों नाटको की कथावस्तु सीधे बृहत्कथा से ली हो। नागानन्द नाटक की कथा की सोमदेव के कथासरित्सागर में वर्णित जीमूतवाहन की कथा से तुलना करने से प्रतीत होता है कि हर्ष ने नागानन्द की कथा बृहत्कथा से ली है। परन्तु उदयन से सम्बन्ध रखने वाली प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिकाओं के विषय मे यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। प्रथम तो यह निश्चित नही हैं कि कथासरित्सागर के लेखक सोमदेव ने मूल बृहत्कथा की उदयन सम्बन्धी कथा के घटनाओं के विकास-क्रम मे क्या परिवर्तन किये हैं? दूसरे, पाली बौद्ध साहित्य से लेकर ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक भारतीय साहित्य के अनेक क्षेत्रो में उदयन की कथा की चर्चा रही है।[2] कौटिल्य के अर्थशास्त्र और पतञ्जलि के महाभाष्य जैसे ग्रन्थों मे भी उदयन की कथा का संकेत हुआ। हर्ष ने स्वयं वत्सराज के चरित को 'लोकहारी'

१. कथासरित्सार, १–१६, बृहत्कथामञ्जरी, लम्बक २–३।

२. आधुनिक भारतीय भाषाओं मे भी उदयन सम्बन्धी साहित्य का निर्माण हुआ है।

कहा है ।[1] भास के दो नाटक स्वप्नवासवदत्त और प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण की कथा उदयन से सम्बन्ध है । अनङ्गहर्ष मात्रराज (६५० ई० और ८०० ई० के मध्य) के तापसवत्सराजचरित का विषय भी उदयन-चरित ही है । शूद्रक ने मृच्छकटिक मे उदयन की कथा का सकेत किया है ।[2] कालिदास ने मेघदूत मे अवन्ती देश मे ग्रामीण वृद्धों की उदयन-कथा से अभिज्ञता का उल्लेख किया है ।[3] इसस सिद्ध होता है कि उदयन की कथायें प्राचीन भारत मे अत्यधिक लोकप्रिय थी । इसलिये यह भी सम्भव है कि हर्ष ने रत्नावली और प्रियदर्शिका की कथा-वस्तु अपने समय मे प्रचलित किसी लोक-कथा से ली हो ।

यह मानकर कि सोमदेव का कथासरित्सागर मूल बृहत्कथा का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है[4] और सोमदेव ने उदयन-कथा की घटनाओं के विकास क्रम और सूक्ष्म विवरण में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया है । यदि रत्नावली की कथावस्तु की कथासरित्सागर के आधार पर बृहत्कथा-गत उदयन-कथा से तुलना करें तो यह पता चल सकता है कि उदयन-कथा को नाटकीय गति और प्रभाव देने में हर्ष ने कितनी मौलिकता और सूझ-बूझ का परिचय दिया है ।

कथासरित्सागर में वर्णित उदयन-कथा का सक्षिप्त सार—उदयन चन्द्रवंशीय अर्जुनकुलोत्पन्न राजा शतानिक के पुत्र कौशाम्बी नरेश सहस्रानीक और अयोध्या के राजा कृतवर्मा की पुत्री रानी मृगावती का पुत्र था । शाप के वशीभूत गर्भवती रानी ने दोहद में राजा से रुधिर मे स्नान करने की इच्छा प्रकट की तो राजा ने लाक्षा-रस के तालाब में उसके स्नान का प्रबन्ध कर दिया । लाक्षा-रस में लिप्त रानी को आमिष का पिण्ड समझकर पक्षिराज उठा ले गया और मकदग्नि ऋषि के आश्रम के समीप उदय-पर्वत पर छोड दिया । वहाँ ऋषि के आश्रम में रानी मृगावती ने उदयन

१. रत्नावली, १/१५
२. मृच्छकटिक, ४/।२६
३. मेघदूत, पू०, मे० ३०
४. साकोटे आदि विद्वान् इससे सहमत नही हैं ।

को जन्म दिया। एक दिन बालक उदयन मृगया के लिये घूम रहा था कि उसने एक सुन्दर सर्प को पकड़े हुये व्याध को देखा। दयार्द्र उदयन ने अपना कटक व्याध को देकर उस सर्प को छुड़ा लिया। वह सर्प नागराज वासुकि का बड़ा भाइ वसुनेमि था। वसुनेमि ने प्रसन्न होकर उसे घोषवती वीणा और अनेक मन्त्र दिये।

शबर कटक लेकर कौशाम्बी पहुँचा। जब वह बाजार में उस कड़े को बेच रहा था, तो उस पर राजा का नाम खुदा देखकर उसे रक्षकों ने पकड़कर राजसभा मे उपस्थित किया। शबर से कड़े की प्राप्ति की घटना जानकर राजा सहस्रानीक रानी और पुत्र को पाने के लिये चल पड़ा। राजधानी लौटने पर सहस्रानीक ने राजकुमार को युवराज बना दिया और अपने मन्त्रियो के तीन पुत्र यौगन्धरायण, रुमण्वान् और वसन्तक परामर्श के लिये उसे दे दिये। जब राजा वृद्ध हुआ तो वह राज्य-भार उदयन को सौंप कर स्वय तपस्या के लिये हिमालय पर चला गया।

राज-सिंहासन पर बैठने के पश्चात् राजा उदयन ने सब राज्य--भार मन्त्रियो पर डाल दिया और स्वयं मृगया खेलने और घोषवती वीणा बजाकर जंगली हाथियों को वंश में करने के सुख में आसक्त हो गया। उज्जयिनी के राजा चण्डमहासेन की पुत्री वासवदत्ता के रूप—गुणों को सुनकर उदयन ने उससे विवाह करना चाहा। चण्डमहासेन भी उदयन को अपना जामाता बनाना चाहता था, परन्तु दोनों राज्यों की पुरानी शत्रुता इसमे बाधक थी, इसलिये चण्डमहासेन ने एक युक्ति सोची। पहले उसने उदयन के पास यह सन्देश भिजवाया कि वह उज्जयिनी आकर उसकी पुत्री को गान्धर्व-शिक्षा देवे। परन्तु स्वाभिमानी उदयन ने यह स्वीकार नही किया और प्रतिसदेश में कहला कर भेजा कि यदि उसकी पुत्री गान्धर्व-शिक्षा लेनी चाहती है तो उसे कौशाम्बी भेज दिया जाय। इस पर उदयन की मृगयासक्ति और वव्य हाथियों के वशीकरण के व्यसन से अभिज्ञ चण्डमहासेन ने एक यन्त्र-गज (बनावटी हाथी) बनवाया और उसमें शस्त्रधारी सैनिकों को बैठाकर विन्ध्याटवी मे छोड़ दिया। जैसी कि आशा थी, मृगया के लिये आये उदयन ने हाथी की भ्रान्ति में उस

यन्त्र-गज को वीणा की स्वर-लहरी से वश में करने का प्रयत्न किया। लेकिन यन्त्र गज उसे दूर ले गया और जब उदयन अपने साथियों से दूर निकल गया तो अन्दर बैठे हुए सैनिकों ने बाहर निकलकर उसे घेर लिया और बांधकर उज्जयिनी ले गये। वहां चण्डमहासेन ने उसके प्रति उदार व्यवहार किया और राजकुमारी वासवदत्ता गान्धर्व गान्धर्व-विद्या की शिक्षा के लिये उसे सौंप दी। शीघ्र ही उदयन और वासवदत्ता अनुरक्त हो गये और उन दोनों का समय सुख से बीतने लगा।

इधर कौशाम्बी में यौगन्धरायण और रुमण्वान् आदि मन्त्रियों को स्वामी के पकड़े जाने का पता चला तो उन्होंने भी युक्ति से काम लेने का निश्चय किया। राज्य-भार रुमण्वान् को सौंपकर यौगन्धरायण वसन्तक को साथ लेकर उज्जयिनी की ओर चल पड़ा। उज्जयिनी के समीप पहुँचकर यौगन्धरायण ने ब्रह्म-राक्षस से सीखे हुए मन्त्र के प्रभाव से वसन्तक को विकलांग बना दिया और स्वयं भी पागल बन गया। इसी रूप में वे दोनों अन्तःपुर में पहुँचे और राजा को अपना परिचय दिया। यौगन्धरायण ने राजा उदयन के साथ आवश्यक परामर्श किया और वसन्तक, उदयन तथा वासवदत्ता के मनो-विनोद के लिये गान्धर्व-शाला में ही रह गया।

जब वासवदत्ता का उदयन के प्रति गाढ़ प्रेम हो गया और वह पितृगृह को छोड़कर उसके साथ भाग जाने को तत्पर हो गई तो यौगन्धरायण अदृश्य रूप में अपने स्वामी के पास गया और उसे निगड-बन्धन तोड़ने का योग बताया तथा अपनी सारी योजना समझा दी। निश्चित योजना के अनुसार उदयन रात्रि में वासवदत्ता के साथ भद्रवती नाम की हस्तिनी पर सवार होकर चुपके से निकल भागा। वसन्तक और वासवदत्ता की विश्वास-भाजन सखी काञ्चनमाला भी साथ में सवार थे। वासवदत्ता को लेकर उदयन के भाग निकलने के समाचार के प्रकट होते ही चण्डमहासेन के पुत्र पालक ने नडागिरि हाथी पर सवार होकर उसका पीछा किया। परन्तु जब नडागिरि ने अपनी सहचरी भद्रवती पर प्रहार न किया तो पीछे से आकर चण्डमहासेन दूसरे पुत्र गोपालक ने अपने भाई को समझा-बुझाकर वापिस लौटा लिया।

विन्ध्याटवी में पहुँचकर राजा अपने मित्र पुलिन्दक से मिला, जहाँ यौगन्धरायण पहले ही पहुँचा हुआ था। सेना लेकर रुमण्वान् भी सहायता के लिये पहुँच गया। तब सेना सहित उदयन अपनी राजधानी कौशाम्बी गया और चण्डमहासेन की अनुमति से गोपालक ने विधिवत् वासवदत्ता का उदयन के साथ विवाह कर दिया।

समय बीतने पर कभी चञ्चल राजा उदयन ने अन्तःपुर में रहने वाली परिचारिका विरचिता से, जिसका राजा से पहले भी सम्बन्ध रह चुका था, पुनः गुप्त सम्बन्ध कर लिया। एक दिन राजा द्वारा नामोच्चारण में की गई भूल से यह बात वासवदत्ता पर भी प्रकट हो गई और राजा ने कुपित रानी को चरणों में पड़कर प्रसन्न किया।

कभी ऐसा हुआ कि गोपालक ने किसी बन्धुमती नाम की राजकुमारी को मञ्जुलिका नाम से छिपाकर वासवदत्ता के पास भेजा। उस लावण्यवती मञ्जुलिका को देखकर राजा उस पर अनुरक्त हो गया और वसन्तक की सहायता से एक दिन उद्यान-लतागृह में उसके साथ गन्धर्वविधि से विवाह कर लिया। रानी वासवदत्ता ने यह सब देख लिया और कुपित होकर मञ्जुलिका और वसन्तक को बन्धन में डाल दिया। इस पर राजा वासवदत्ता के पितृगृह से आई वृद्धा प्रव्राजिका सांकृत्यायनी के पास पहुँचा। सांकृत्यायनी ने वासवदत्ता को समझा-बुझाकर प्रसन्न कर लिया। वासवदत्ता ने बन्धुमती राजा को दे दी और वसन्तक को भी बन्धक से मुक्त कर दिया।

इसके बाद राजा उदयन मदिरा, संगीत और वासवदत्ता के साथ काम-क्रीड़ा में अपना समय व्यतीत करने लगा। मन्त्री यौगन्धरायण और रुमण्वान् राजा की विलासिता और पड़ौसी मगध के शक्तिशाली राजा प्रद्योत की ओर से चिन्तित थे। रुमण्वान् के साथ मिलकर यौगन्धरायण ने वासवदत्ता और गोपालक को विश्वास में लेकर मगध—नरेश से मित्रता स्थापित करने के उद्देश्य से वत्सराज का मगध की राजकुमारी पद्मावती से विवाह-सम्बन्ध करने का निश्चय किया। यौगन्धरायण ने राजा उदयन के लिये पद्मावती की याचना की, परन्तु मगध-नरेश वासवदत्ता के प्रति उदयन के प्रेम भाव को

देखकर अपनी प्राणधिक प्रिय पुत्री को उसकी सपत्नी बनाने को तैयार न हुआ। इसलिये यौगन्धरायण पूर्व निश्चित योजना के अनुसार युक्ति से राजा उदयन को मगध की सीमा पर स्थित लावाणक ग्राम मे ले गया। एक दिन जब राजा आखेट के लिये गया हुआ था तो यौगन्धरायण ने योग के प्रभाव से स्वयं वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण किया और वासवदत्ता को ब्राह्मणी तथा वसन्तक को काणा बटु बना दिया और उन दोनों को लेकर मगध की ओर चल पड़ा। पीछे से रुमण्वान् ने अन्तःपुर मे आग लगाकर यह प्रसिद्ध कर दिया कि वासवदत्ता और वसन्तक आग मे जलकर मर गये।

मगध की राजधानी में पहुँच कर ब्राह्मण-वेषधारी यौगन्धरायण राजपुत्री पद्मावती से मिला और उससे प्रार्थना की कि उसकी पुत्री का व्यसनी पति अपनी पत्नी को छोड़कर कहीं परदेश चला गया है, इसलिये जब तक वह अपने जामात् को खोजकर लाये तब तक राजकुमारी उसकी पुत्री तथा काणे पुत्र को अपने पास रख लेवे। राजकुमारी पद्मावती ने ब्राह्मण की प्रार्थना स्वीकार कर ली। वासवदत्ता आवन्तिका नाम से ब्राह्मणी के रूप में और वसन्तक काणे बटु के रूप में कन्यान्तपुर में रहने लगे।

यौगन्धरायण मगध से लौटकर तुरन्त लावाणक गया। मन्त्रियों ने वासवदत्ता के विरह से व्याकुल राजा उदयन को अनेक प्रकार से सान्त्वना दी। लावाणक स्थित मगध के गुप्तचरों ने प्रद्योत को वासवदत्ता के अग्नि-दाह से अवगत करा दिया तो प्रद्योत ने यौगन्धरायण के समीप उदयन के साथ अपनी पुत्री के विवाह-सम्बन्ध का सन्देश भेजा, जिसे यौगन्धरायण ने बड़ी चाह से स्वीकार कर लिया और प्रतिसन्देश में कहला भेजा कि विवाह सातवें दिन हो जाना चाहिये जिससे राजा वासवदत्ता के विरह को भूल जाये। निश्चित लग्न पर पद्मावती के साथ राजा उदयन का विवाह हो गया। रानी वासवदत्ता भी पद्मावती के साथ कौशाम्बी आ गई। वासवदत्ता और पद्मावती के पारस्परिक सौहार्द के कारण दोनो के बन्धुओं को प्रसन्नता हुई। इस प्रकार स्वामिभक्त यौगन्धरायण के बुद्धि कौशल से वत्सदेश के दोनों शक्तिशाली प्रतिस्पर्धी मगध और अवन्ति के राज्य विवाह-सम्बन्ध में बंधकर मित्र हो गये और वत्सराज

उदयन ने दिग्विजय करके चक्रवर्तित्व पद प्राप्त कर लिया।

(३) रत्नावली की कथावस्तु पर मूल स्रोत का प्रभाव—परिवर्तन और उनका नाटकीय प्रभाव

मूल स्रोत का प्रभाव—ऊपर कथासरित्सागर के आधार पर संक्षेप में दिये गये उदयन के आख्यान से प्रकट होगा कि हर्ष ने रत्नावली में अपने कई प्रमुख पात्रों के तथा स्थानों के नाम मूल स्रोत से लिये हैं। वत्सराज उदयन वासवदत्ता, यौगन्धरायण, रुमण्वान्, वसन्तक और काञ्चनमाला ये पात्र रत्नावली और आख्यान दोनों मे पाये जाते है। रत्नावली में रुमण्वान् को मन्त्री के स्थान पर सेनापति के रूप में दिखलाया गया है। कौशाम्बी और लावाणक इन दो स्थानो के नाम भी आख्यान से लिये गये है।

रत्नावली की कथावस्तु का सम्बन्ध उदयन के वासवदत्ता के साथ विवाहोपरान्त चरित से है। उदयन के पूर्ववर्ती चरित के सम्बन्ध में केवल कुछ संकेत मात्र किये गये हैं।

लावाणक में वासवदत्ता का अग्निदाह का प्रवाद, उदयन की उद्यान-लता गृह में छद्म नाम से छिपाकर रखी गई बन्धुमती से गुप्त प्रेम-लीला, वासवदत्ता द्वारा उसका देख लिया जाना, वासवदत्ता द्वारा कुपित होकर वसन्तक और बन्धुमती को बन्धन में डाल देना, देवी का प्रसन्न होने पर राजकुमारी को पति को देना—आख्यान की इन घटनाओं का हर्ष ने रत्नावली में बड़ी चतुरता से उपयोग किया है, जिससे हर्ष की रचनात्मक प्रतिभा का पता लगता है।

आख्यान में किये गये परिवर्तन—हर्ष ने रत्नावली की कथावस्तु में अनेक परिवर्तन किये हैं। कुछ परिवर्तन हर्ष की सर्वथा नूतन कल्पनायें हैं और कुछ में मूल आख्यान की घटनाओं का भिन्न पात्रो तथा परिस्थितियों से सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। आख्यान में पद्मावती के साथ उदयन के विवाह का कारण मगध-नरेश को मित्र बनाने की चिन्ता है और विवाह का प्रस्ताव

मन्त्रियों की सलाह से किया गया है, परन्तु रत्नावली में रत्नावली के साथ विवाह का प्रस्ताव सिद्ध के इस वचन के विश्वास पर किया गया है कि जो रत्नावली से विवाह करेगा वह चक्रवर्ती राजा होगा। आख्यान में वासवदत्ता की सपत्नी पद्मावती मगध की राजपुत्री है, जब कि रत्नावली की नायिका सिंहलेश्वर विक्रमबाहु की कन्या है। आख्यान में वासवदत्ता और पद्मावती को क्रमशः चण्डमहासेन और प्रद्योत की पुत्री कहा गया है, परन्तु नाटिका में वासवदत्ता को प्रद्योत की पुत्री कहा गया है। बौद्ध साहित्य में भी वासवदत्ता प्रद्योत (पज्जोत) की पुत्री कही गई है। आख्यान में देवी वासवदत्ता छद्मवेश में पद्मावती के अन्तःपुर में मगध मे रहती है, रत्नावली मे नायिका सागरिका के नाम से छद्मवेश मे वासवदत्ता के साथ कौशाम्बी मे रहती है। आख्यान में लावाणक मे वासवदत्ता के दाह के प्रवाद का सम्बन्ध पद्मावती के विवाह के साथ है, जबकि रत्नावली में उसे नायिका के विवाह के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है। आख्यान मे पद्मावती के साथ उदयन का विवाह–सम्बन्ध मन्त्रियो की राजनैतिक चाल का फल है तथा उदयन पद्मावती के साथ विवाह-सम्बन्ध के प्रति कोई उत्सुकता नही दिखलाता है, प्रत्युत विवाहोपरान्त भी वासवदत्ता के प्रति सच्चा बना रहता है। रत्नावली में, यद्यपि मन्त्री यौगन्धरायण नायिका के साथ राजा का विवाह राजनैतिक कारणों से ही कराना चाहता है फिर भी, नायिका के प्रति नायक के आकर्षण का प्रधान कारण नायक की रूप-लोलुपता है। रत्नावली में आख्यान के बन्धुमती के प्रति राजा के अनुराग तथा तत्सम्बन्धी अन्य घटनाओ का सम्बन्ध सागरिका के नाम से छिपाकर रक्खी गई नायिका के साथ जोड दिया गया है। एक प्रकार से रत्नावली की नायिका आख्यान की बन्धुमती और पद्मावती दोनो का मिला-जुला रूप है। आख्यान में बन्धुमती के साथ राजा की गुप्त प्रेम-लीला को देखकर कुपित हुई वासवदत्ता प्रव्रजिका सांकृत्यायनी के बीच मे पड़ने पर प्रसन्न होती है और बन्धुमती तथा वसन्तक को बन्धक से छुड़ा कर बन्धुमती को राजा को दे देती है। रत्नावली मे कुछ देर रोने-धोने के बाद वासवदत्ता का कोप स्वय शान्त हो जाता है और कोप शान्त हो जाने पर वह वसन्तक को बन्धन से छुड़ा देती है, परन्तु नायिका को बन्धन से तभी छुड़ाती है, जब

उसे यह ज्ञात होता है कि सागरिका उसकी अपनी बहन रत्नावली है। आख्यान में वासवदत्ता पद्मावती के साथ अपने पति के विवाह के राजनैतिक फलितार्थों से पहले से ही अवगत है, इसलिये उसे पद्मावती के प्रति कोई ईर्ष्या नहीं होती है, परन्तु रत्नावली में वासवदत्ता को विश्वास में नहीं लिया गया है। आख्यान में पद्मावती के साथ विवाह के लिये राजा उदयन मगध गया है, रत्नावली में नायिका को विवाह के लिये कौशाम्बी लाया गया है। आख्यान में उदयन और बन्धुमती के गान्धर्व-विवाह का उल्लेखमात्र हुआ है, रत्नावली में नायक और नायिका के पारस्परिक प्रथमानुराग की परिस्थितियों की सृष्टि भी की गई है।

कथा-वस्तु में नूतन कल्पनायें—हर्ष ने उदयन के आख्यान को नाट्योपयोगी बनाने के लिये घटना-संयोगों को केवल क्रमबद्ध ही नहीं किया है, बल्कि उसे नाटिका के साँचे में ढालने और कथानक को अपेक्षित गति और प्रभावोत्पादकता प्रदान करने के लिये कई सर्वथा मौलिक कल्पनायें भी की हैं। यानभङ्ग की कल्पना हर्ष की मौलिक कल्पना है, जो नायिका को छद्मवेश में उदयन के अन्तःपुर मे रखने के लिये अवसर उपस्थित करती है वसन्तोत्सव मे काम-पूजन की घटना, जो हर्ष की अपनी कल्पना है, नायिका के हृदय में नायक के प्रति प्रथमानुराग उत्पन्न करने में सहायक है। सागरिका तथा चित्रपट की घटना भी हर्ष की अपनी सूझ है, जो नायिका के प्रति नायक में प्रथमानुराग की बीजा-रोपण कर देती है। सागरिका द्वारा वेष परिवर्तन करके अभिसरण की घटना भी नूतन कल्पना है, जो आख्यान में नहीं पाई जाती। ऐन्द्रजालिक की माया से कौशाम्बी मे अन्तःपुर-दाह की घटना भी नवीन कल्पना है।

परिवर्तनों का नाटकीय प्रभाव—हर्ष द्वारा आख्यान में किये गये परिवर्तनों के जादू से आख्यान का स्वरूप ही बदल गया है और हर्ष का यह दावा कि रत्नावली नाटिका 'अपूर्ववस्तुरचनालङ्कृत'[1] है, सर्वथा उचित है। आख्यान में यौगन्धरायण को वासवदत्ता और वसन्तक का वेष-परिवर्तन करने के लिये चमत्कार का सहारा लेना पड़ा है, लेकिन रत्नावली में यानभङ्ग की घटना ने

१. रत्नावली पृ० ६।

उसके गुप्त-वास को स्वाभाविक बना दिया है। पद्मावती के साथ विवाह के प्रति तटस्थ उदयन सागरिका और चित्रपट की घटना की योजना से नाटिका के उपयुक्त शृङ्गारी नायक के रूप में परिणत हो गया है। सागरिका का वेश-परिवर्तन करके अभिसरण करना, संकेत-स्थान पर वासवदत्ता का स्वयं पहुँच जाना और राजा पर कुपित होना, भेद खुल जाने पर सागरिका का आत्महत्या की चेष्टा करना, रुष्ट होकर चली गई वासवदत्ता के विषय में राजा का चिन्ता व्यक्त करना, वासवदत्ता की भ्रान्ति में आत्मघात की चेष्टा करती हुई सागरिका की रक्षा के लिये दौड़ना आदि इस प्रकार के घटना के सूक्ष्म विस्तारों के विधान ने नाटकीय व्यापार के लिये स्वाभाविक और उचित अवसर प्रदान किये हैं जिनसे सहृदय को उत्सुकता, सहानुभूति और हास्य मिश्रित आनन्द का अनुभव होता है।

ऐन्द्रजालिका-दृश्य के विधान ने सागरिका के बन्धन-मोचन और प्रत्यभिज्ञान के लिये नाट्योचित परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं। यद्यपि रङ्गमञ्च की दृष्टि से ऐन्द्रजालिक-दृश्य व्यवहारिक कठिनाइयाँ उपस्थित कर सकता है, परन्तु नाटकीय प्रभाव की दृष्टि से उसकी उपयोगिता अस्वीकार नहीं की जा सकती।

हर्ष की विजयवर्मा के रूप में नये पात्र की योजना भी प्रसशनीय है। इससे शोक एवं चिन्ता में ग्रस्त नायक को उभर आने का अवसर मिल गया है और उसके शौर्य तथा गुण-ग्राहकता आदि चरित्र-सम्बन्धी गुणों का निखार हो गया है।

(४) रत्नावली की घटना का समय और अवधि

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रत्नावली का कथानक उदयन के चरित के उस भाग से सम्बन्धित है, जो वासवदत्ता के साथ विवाह के पश्चात् प्रारम्भ होता है, रत्नावली के चौथे अङ्क में यौगन्धरायण के इस वचन से कि—'जब मेरे कहने से देवी ने पति का वियोग सहा तब मैंने स्वामी का दूसरी स्त्री के साथ सम्बन्ध स्थापित करके उसे दुःख ही दिया'—प्रतीत होता है कि यहाँ

'परकलत्रसंघटनया'' से योगन्धरायण का अभिप्राय पद्मावती का विवाह है।

प्रथम अङ्क—नाटिका का व्यापार वसन्त ऋतु[1] में वसन्तोत्सव के किसी दिन मध्याह्नोत्तर में प्रारम्भ होता है और नायिका के हृदय में नायक के प्रति प्रथमानुराग का आरोपण कामदेव-पूजन की विधि के समय होता है जब नायिका को यह पता चलता है कि जिसे वह कामदेव समझ रही थी वह अन्य कोई नहीं है, अपितु राजा उदयन है, जिसके लिये उसे पिता ने दिया था। यह दिन सम्भवतः पूर्णमासी का दिन था, क्योंकि सूर्य के अस्त होते ही चन्द्रोदय का कथन किया गया है।[2] प्रथम अङ्क की घटना की वास्तविक अवधि दो घण्टे के लगभग है और दिन के छिपते-छिपते प्रथम अङ्क समाप्त हो जाता है।

द्वितीय अङ्क—द्वितीय अङ्क की घटना प्रथम अङ्क की घटना से अगले दिन की प्रतीत होती है। क्योंकि प्रथम अङ्क में सागरिका द्वारा सुसंगता के हाथों सारिका सौंप देने का उल्लेख हुआ है और दूसरे अङ्क के आरम्भ में सुसंगता को सारिका-पिञ्जर उसे सौंपकर कहीं चली गई सागरिका की खोज में चिन्तित दिखलाया गया है। यह भी सम्भव है कि पहले और दूसरे अङ्क की घटनाओं में एक-दो दिन का अन्तर भी रहा हो। अङ्क की घटनायें दिन के किसी भाग में हुई हैं, इसका कोई संकेत नहीं हुआ है। परन्तु सम्भवतः राजा ने श्रीखण्डदास से नवमालिका को अकाल-कुसुमित करने वाला दोहद प्रातःकाल में सीखा था और सागरिका चित्र-लेखन की सामग्री लेकर कदली—गृह में मध्याह्न बाद गई थी। उसके बाद की घटनायें तुरन्त बाद की हैं। अङ्क की घटनायें सम्भवतः सूर्यास्त से पहले ही समाप्त हो जाती हैं।

तृतीय अङ्क—इस अङ्क का व्यापार अगले दिन रात्रि के प्रथम भाग में प्रारम्भ होता है। कुछ समालोचकों ने द्वितीय और तृतीय अङ्क की घटनायें एक ही दिन की मानी हैं। परन्तु ऐसा सम्भव प्रतीत नहीं होता। तृतीय अङ्क में राजा को अस्वस्थता के ब्याज से कामावस्था को छिपाता हुआ कहा गया है (न हि सागरिकां वर्जयित्वा ······पृष्ठ ६०)। देवी वासवदत्ता ने अस्वस्थ पति का समाचार जानने के लिये काञ्चनमाला को भेजा है (अस्वस्थ शरीरस्य

१. रत्नावली ४/२०। २. रत्नावली, १/६। ३. वही, पृ० ३८।

भर्तुः पृ० ९०)। यह सम्भव नहीं है कि दो-तीन घण्टे के अवान्तर में ही राजा के अनुचित प्रेम-सम्बन्ध पर कुपित रानी उसकी अस्वस्थता का विश्वास कर ले। इसलिये दूसरे और तीसरे अङ्क की घटना मे एक दिन का अन्तर अवश्य होना चाहिये। संकेत-स्थान पर जाते समय चारों ओर गाढ़ अन्धकार फैल गया है (भुवनस्येक्षणफल तमःसंघातोऽय हरति) और सागरिका से मिलन के समय चन्द्रोदय हो गया है (दर्शितमनेनोद्गच्छता जडरूपम् पृ० ११२)। इससे तृतीय अङ्क की घटना कृष्णपक्ष की द्वितीया की प्रतीत होती है और घटना का वास्तविक समय तीन घण्टे के लगभग है।

चतुर्थ अङ्क—इस अङ्क की घटनायें अगले दिन की हैं। अङ्क के आरम्भ में सूचना दी गई है कि देवी वासवदत्ता ने आधी रात के समय सागरिका को कहीं भेज दिया है। यह आधी रात तीसरे और चौथे अङ्क की घटनाओं के मध्य की है।

इस प्रकार रत्नावली नाटिका के कथावस्तु की घटनायें मदनमहोत्सव मे कामदेव-पूजन के दिन से प्रारम्भ होती हैं और कुल चार या पाँच दिन में समाप्त हो जाती हैं।

(५) रत्नावली का नाट्यशास्त्र की दृष्टि से विश्लेषण

संस्कृत नाटकों (नाट्यों) के प्रकार—संस्कृत काव्यो का प्रयोग की दृष्टि से दृश्य और श्रव्य दो श्रेणियो में विभाजन किया गया है।[1] दृश्य काव्यों को नाट्य, रूप या रूपक भी कहा गया है।[2] दृश्य काव्यो के लिये आजकल हिन्दी भाषा में नाटक शब्द प्रचलित है। परन्तु संस्कृत के नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में 'नाटक' शब्द का प्रयोग दृश्य-काव्य के एक विशेष प्रकार के लिये प्रयुक्त हुआ है। दृश्य-काव्यों के फिर रूपक और उपरूपक दो भेद किये गये हैं। संस्कृत के नाट्यों का आश्रय रस माना गया है और उनके वस्तु (कथानक)

१. दृश्यश्रव्यभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मातम। साहित्यदर्पण, ६/१

२ अवस्थानुकृतिर्नाट्य रूपं दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत्समारोपाद् दशधैव रसाश्रयम्॥ दशरूपक १/७

नेता (नायक) और रस के आधार पर और आगे उपभेद किये गये हैं। रूपक के १० और उपरूपक के १८ प्रकार होते हैं।[1]

संस्कृत नाटकों का रचना-विधान—(Structure of Sanskrit dramas) संस्कृत नाटकों की बाह्य रचना लगभग एक ही प्रकार की है। संस्कृत नाटकों का प्रारम्भ नान्दी (मङ्गलाचरण) से होता है, नाटक को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करते समय नटों को रंग मे आने वाले विघ्नों की शान्ति के लिये पूजा का विधान किया है। इसे पूर्वरङ्ग कहा जाता है।[2] नान्दी के पश्चात् सूत्रधार अथवा तत्सम स्थापक कवि और कृति का परिचय देता है और प्रायः नाटक के प्रयोग के समय की भी सूचना देता है।[3] वही नटी अथवा पारिपार्श्विक या भाप या विदूषक के साथ वार्तालाप मे चित्रोक्ति द्वारा अभिनेय वस्तु अथवा किसी प्रमुख पात्र की सूचना दे देता है।[4] सूत्रधार के इस वार्तालाप को नाट्य शास्त्र के शब्दों में आमुख या प्रस्तावना कहते हैं।

वस्तुतः नाट्य-व्यापार प्रस्तावना के पश्चात् प्रारम्भ होता है। मुख्य व्यापार से सम्बद्ध घटनाओं को दो प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है। जो घटना सरस और मुख्य पात्र (नायक) से सम्बद्ध होती है और जिसका वस्तुतः रङ्गमञ्च पर अभिनय किया जाता है, उसका समावेश अङ्क में किया

---

१. नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश॥
नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम्।
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा॥
संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका।
दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च॥
अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः।
विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम्॥ साहित्यदर्पण ६/३—६

२. साहित्य दर्पण, ६/२२, दशरूपक, ३/२।

३. केवल भास के नाटक और दक्षिणी भारत में प्राप्त कुछ अन्य नाटकों की पाण्डुलिपियाँ इसके अपवाद हैं।

४. दशरूपक ३/३—८, साहित्य दर्पण ६/२७, २८, ३१, ३२।

जाता है। एक अङ्क में प्राय: नाटक से सम्बन्ध एक दिन की घटना रक्खी जाती है।[1] परन्तु जो घटना नीरस, अङ्क में अदर्शनीय तथा अधिक समय तक घटने वाली होती है अथवा जब दो अङ्कों में निबद्ध की गई घटनाओं के मध्य अधिक लम्बी अवधि का अन्तर होता है तो उनकी केवल मात्र सूचना दे दी जाती है।[2] इस प्रकार घटनाओं की सूचना जिस भाग में दी जाती है, उसे 'अर्थोपक्षेपक' कहते हैं।[3] यदि मूल से ही सरस कथा प्रारम्भ हो जाती है त प्रस्तावना के तुरन्त बाद अङ्क रक्खा जाता है। लेकिन यदि अभिनेय घटना की परिस्थितियों को सुबोध बनाने के लिये कुछ पूर्ववर्ती घटनाओं की सूचना देना अपेक्षित होता है तो प्रस्तावना और प्रथम अङ्क के मध्य में विष्कम्भक की योजना की जाती है। पहले अङ्क के आदि में आवश्यकतानुसार केवल विष्कम्भक का ही प्रयोग किया जाता है। दो अङ्कों के मध्य में अन्य अर्थोपक्षेपकों—अधिकतर प्रवेशक—का प्रयोग किया जाता है। रत्नावली में प्रथम अङ्क के आदि में विष्कम्भक और शेष अङ्कों के आदि में तीन प्रवेशक रक्खे गये हैं।

संस्कृत के कुछ नाटकों में अंक के मध्य में मुख्य पात्र के चरित से सम्बद्ध पूर्व घटनाओं को नाटक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है (उदा० उत्तररामचरित सप्तम अंक, प्रियदर्शिका तृतीय अंक)। अंक में आये नाटक को गर्भांक' कहते हैं।

संस्कृत के प्रत्येक नाटक का अन्त भी, प्रारम्भ के समान पद्यमय आशीर्वचन से होता है, जिसमें लोक अथवा आश्रयदाता राजा या स्वयं कवि के कल्याण की कामना प्रकट की जाती है। पारिभाषिक शब्दों में इस पद्य को 'भरतवाक्य' कहते हैं।

---

१. दशरूपक, ३/३६, ३७। २. साहित्य दर्पण, ६/५१, ५२।
३. अर्थोपक्षेपक ५ प्रकार के होते हैं—विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार और अङ्कमुख (अंकास्य)। अर्थोपक्षेपक के ये भेद पात्रों की कोटि, नाट्यशाला में स्थिति और अङ्क से सम्बन्ध के आधार पर किये गये हैं। देखिये, साहित्य दर्पण ६/५४–६०।

संस्कृत नाटकों में भाषाओं की विविधता—संस्कृत नाटकों की एक अन्य विशेषता यह भी है कि उनमें संस्कृत के अतिरिक्त कई प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग किया जाता है। नाट्य-शास्त्र के नियमानुसार राजा, देव, मन्त्री, ब्राह्मण आदि उत्तम पात्रों की भाषा संस्कृत होती है और अन्य पात्रों की भाषा प्राकृत। उत्तम स्त्री पात्रों की भाषा प्रायः शौरसेनी होती है और नीच पात्रों की मागधी। पद्य में शौरसेनी-प्राकृत-भाषी पात्रों को महाराष्ट्री प्राकृत के प्रयोग का विधान है। जो नीच पात्र जिस देश का हो, उसे उस देश की भाषा बोलने का विधान किया गया है।[१]

श्रव्यता की दृष्टि से संवाद का विभाजन—रङ्गमञ्च की आवश्यकता के विचार से पात्रों के संवाद को श्रव्यता के आधार पर तीन प्रकार से विभक्त किया जाता है। जो वचन मञ्च पर उपस्थित सब पात्रों तथा रङ्गस्थ सामाजिकों को सुनाने का होता है, उसे सर्वश्राव्य या प्रकाश कहते है। संस्कृत नाटकों में ऐसे संवाद से पहले 'प्रकाशम्' यह रंगमञ्च निर्देश दिया होता है।[२] जो वचन किसी को भी सुनाने का नहीं होता, उसे 'अश्राव्य' या 'आत्मगत' कहते हैं और ऐसे संवाद से पहले 'आत्मगत' लिखा होता।[३] कुछ संवाद नियत-श्राव्य होता है। नियतश्राव्य दो प्रकार का होता है—(१) जनान्त और (२) अपवारित। 'जब त्रिपताक' कर से अन्य पात्रों को हटाकर दो पात्र दर्शकों के समीप परस्पर मन्त्रणा करते हैं, उसे 'जनान्तिक' कहा जाता है। ऐसे संवाद से पहले 'जनान्ते' या 'जनान्तिकम्' निर्देश दिया होता है। जब कोई पात्र एक ओर मुड़कर किसी दूसरे पात्र का रहस्य प्रकट करता है, उसे 'अपवारित' कहते हैं और ऐसे वचन से पहले 'सापवारितम्' या 'अपवार्य'[४] निर्देश दिया रहता है।

कुछ संस्कृत नाटकों मे ऐसा भी पाया जाता है कि कोई पात्र मञ्च पर दूसरे पात्र के बिना ही आकाश की ओर मुख उठाकर प्रश्नोत्तर करता है।

---

१. अधिक जानकारी के लिये साहित्यदर्पण, ६/१५८–१६६ देखिये।
२. उदाहरणार्थ, रत्नावली मूल पाठ, पृ० ३८ पर वासवदत्ता की उक्ति में।
३. वही स्थल।
४. रत्नावली मूल पाठ ८२ पर राजा की उक्ति।

इस प्रकार के प्रश्नोत्तरात्मक संवाद को 'आकाशभाषित' कहा जाता है और सवाद से पहले 'आकाशभाषितम्' निर्देश लिखा रहता है।

रत्नावली : नाटिका, उपरूपक का एक भेद—रत्नावली उपरूपकों के एक भेद 'नाटक' की कोटि में आती है। 'नाटिका' की कुछ विशेषतायें रूपकों के भेद 'नाटिका' और 'प्रकरण' के समान होती हैं। 'नाटक' के समान इसका नायक प्रख्यात होता है, परन्तु 'प्रकरण' के समान वृत्त कवि-कल्पित होता है। अङ्गी रस शृंगार और नायक धीरललित होता है। इसमे चार अङ्क होते हैं और स्त्री-पात्रों की अधिकता होती है। अन्तःपुर से सम्बद्ध अथवा संगीत में व्यापृत कोई नृपवंशज मुग्धा कन्या नायिका होती है। ईर्ष्यावती ज्येष्ठा प्रगल्भा देवी के भय से नायक डरता हुआ नायिका के प्रति प्रवृत्त होता है और अन्त में देवी के प्रसाद से ही नायक और नायिका का मिलन सम्भव होता है। नाटिका मे चार अक और विमर्श सन्धि को छोड़कर चार सन्धियाँ होती हैं। शृंगार रस के अनुरूप कैशिकी वृत्ति होती है। साहित्यदर्पण मे नायिका की परिभाषा इस प्रकार दी है—

नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात्स्त्रीप्राया चतुरङ्किका।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः॥
स्यादन्तःपुरसंबद्धा संगीतव्यापृताथवा।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा॥
सम्प्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शंकितः।
देवी पुनर्भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा॥
पदे पदे मानवती तद्वशः संगमो द्वयोः।
वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः।

रत्नावली का नायक प्रसिद्ध वत्सराज उदयन है जो कला और संगीत का प्रेमी है। वृत्त को कवि ने अपनी कल्पना से सर्वथा नूतन रूप दे दिया है।[1] रत्नावली की वस्तु चार अंकों में समाप्त हुई। प्रधान रस शृंगार है, यद्यपि सागरिका के विलाप और चतुर्थ अंक में युद्ध-वर्णन में क्रमशः करुण और वीररस

---

१. बृहत्कथा से लिये गये वृत्तों को वैसे भी कवि-कल्पित माना जाता है।

भी अङ्ग रूप मे आये हैं। नायिका सागरिका अन्तःपुर से सम्बद्ध मुग्धा नृप-कन्या है। ज्येष्ठा देवी वासवदत्ता प्रद्योत की पुत्री ईर्ष्यावती और कुपिता है। (देखिये, अज्जउत्त मम उण एदं चित्तफलअ पेक्खिअ सीसवेअणा समुप्पणा पृ० ८४, कोपश्च प्रकटीकृतो दयितया, पृ० ८६)। सागरिका के प्रति प्रेम-लीला में राजा को हमेशा देवी का भय रहता है, जैसा कि विदूषक की उक्ति से प्रकट किया गया है (जइ ण आ आदि देवी वासवदत्ता पृ० १२२; कदावि को वि देवीए एत्थ संचरदि पृ० १३८)। नायक का नायिका से मिलन देवी के अधीन दिखलाया गया है। देवीप्रसादं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि पृ० ११८; तत्किमिदानीमिह स्थितेन। देवी प्रसादयितुमभ्यन्तरमेव प्रविशामि पृ० १२८)। अन्तः-पुर में सुलभ गीत, नृत्य भोगविलास और काम-चेष्टा आदि की योजना होने से कैशिकी वृत्ति है। (आगे भू० पृ० ४८ देखिये)।

रत्नावली में अर्थप्रकृति, अवस्था और सन्धि का विचार—पहले कहा जा चुका है कि संस्कृत नाटकों का आश्रय रस होता है। रस की अभिव्यक्ति के लिये किसी सरस कथा का सहारा लिया जाता है। नाटक की कथा और व्यापार में गति तथा सहृदय की उत्सुकता बनाये रखने के लिये नाटककार को कथावस्तु के क्रमिक विकास और सुश्लिष्टता की ओर भी ध्यान रखना होता है। रस और कथा (वृत्त) दोनों के सम्यक् विकास के प्रयोजन से नाटककारों के मार्ग-प्रदर्शन के लिये अर्थप्रकृति कार्यावस्था और सन्धि तथा संध्यङ्गों का विचार किया है, जिससे कवि उन्हें जानकर रसाभिव्यक्ति के लिये उनका यथायथ सन्निवेश कर सकें।[1]

किसी नाटक की कथावस्तु की घटनायें दो प्रकार की होती हैं—(१) आधिकारिक, (२) प्रासङ्गिक। मुख्य घटनाओं को, जो अधिकार (फलप्राप्ति) अथवा अधिकारी से सम्बद्ध होती है, आधिकारिक कहते हैं।[2] आधिकारिक वृत

---

१. रसव्यक्तिमपेक्ष्यैषामङ्गानां सनिवेशनम्।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया॥ साहित्यदर्पण ६/१२०

२. अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम्॥ दशरूपक १/१२

के पुनः तीन भाग होते हैं[1]—(१) बीज, (२) बिन्दु और (३) कार्य। प्रासङ्गिक वृत्त भी दो प्रकार का होता है—(१) पताका, जो वृत्त नाटक में पर्याप्त दूर तक चलता है, (२) प्रकरी, जो वृत्त केवल एक भाग तक चलता है। कार्य (प्रयोजन) की अपेक्षा से बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य इन पाच को 'अर्थ प्रकृति' कहा जाता है। पताका और प्रकरी का प्रत्येक रूपक में होना अनिवार्य नहीं है।

कार्य का हेतुभूत जो वृत्त थोड़ा-सा कह दिया जाता है, वह बीज के समान अनेक प्रकार से विस्तार वाला होता है, इसलिये 'बीज' कहलाता है। रत्नावली नाटिका में सागरिका-प्राप्ति रूप कार्य का हेतु विष्कम्भक में उपनिबद्ध 'द्वीपादन्यस्माद्' से लेकर 'प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनः' इत्यादि भाग मे कहा गया यौगन्धरायण का व्यापार बीज है। अवान्तर प्रयोजन की समाप्ति पर छिन्न होती हुई कथा को जोड़ने वाले भाग को बिन्दु कहते हैं। रत्नावली में प्रथम अङ्क में कामदेव-पूजन की समाप्ति पर कथा विच्छिन्न हो जाती है, परन्तु 'उदयनस्ये-दोरिवोक्षते' से लेकर 'कधं अअं सो राआ उदअणो जस्स अहं तादेण दिण्णा' (पृ० ३८) तक का भाग सागरिका के हृदय मे प्रथमानुराग का हेतु होकर कथा को फिर से जोड़ देता है। इसलिये यह बिन्दु हुआ। विजयवर्मा द्वारा वर्णित रुमण्वान् का कोसलोच्छेद प्रकरी है। रत्नावली मे पताका नहीं है।

फलार्थी द्वारा प्रारब्ध, कार्य की पाँच अवस्थायें होती हैं। कार्य की पहली अवस्था 'आरम्भ' होती है, जिसमें फल-प्राप्ति की इच्छा प्रकट की जाती है। रत्नावली में 'प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ' इत्यादि से यौगन्धरायण के द्वारा कार्य का 'आरम्भ' दिखलाया गया है। फल की प्राप्ति न होने पर उसे प्राप्त करने के लिये जो उपाय किये जाते हैं, उसे 'प्रयत्न' कहते हैं। रत्नावली में वत्सराज से मिलन का उपाय सागरिका द्वारा उदयन का चित्र-

---

१. बीज, बिन्दु और कार्य को यद्यपि किसी नाट्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ में आधिकारिक वृत्त का भाग नहीं कहा गया है, परन्तु ये वृत्त के भाग ही प्रतीत होते हैं।

सेजन 'प्रयत्न' है। कार्य की वह अवस्था, जब उपाय और विघ्न की आशङ्का होने पर फल-प्राप्ति होना सम्भव हो जाये, 'प्राप्त्याशा' कहलाती है। रत्नावली के तृतीय अङ्क में वेष-परिवर्तन करके अभिसरण आदि उपाय होने पर वासव-दत्ता के रूप में विघ्न की आशङ्का 'एव्व' णेदं जइ अआलवादावली भविअ न आआदि देवी वासवदत्ता (पृष्ठ १२२) विदूषक के इन वचन से दिखलाई गई है। इसलिये इस स्थल में कार्य की 'प्राप्त्याशा' अवस्था है। जब अपाय के दूर हो जाने पर फल-प्राप्ति निश्चित हो जाती है कार्य की वह अवस्था 'नियताप्ति' कहलाती है। धनिक के अनुसार, रत्नावली के तृतीय अङ्क में विदूषक के 'साअरिआ उण दुक्करं जीविस्सदि' (पृष्ठ ११६) इस वचन से लेकर राजा की 'देवीप्रसादं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि' (पृष्ठ ११८) इस उक्ति तक के भाग में देवी रूपी विघ्न (अपाय) के प्रसादन द्वारा निवारण से फल-प्राप्ति की सुनिश्चितता सूचित हो रही है। इसलिये यहाँ कार्य की 'नियताप्ति' अवस्था है। जब समग्र फल-प्राप्ति हो जाये, कार्य की उस अवस्था को 'फलागम' या (फलयोग) कहते हैं। रत्नावली में सागरिका-लाभ द्वारा चक्रवर्तित्व प्राप्ति की सूचना वासवदत्ता की उक्ति 'अज्जउत्त पडिच्छ एदं' (पृष्ठ १७२) से लेकर यौगन्धरायण की इदानीं सफलपरिश्रमोऽस्मि संवृत्तः' (पृष्ठ १७२) इस उक्ति तक के भाग में मिलती है। इसलिये यह कार्य की 'फलागम' अवस्था है।

पांच अर्थ-प्रकृति और पांच कार्यावस्थाओं को मिलाकर उनके आधार पर नाट्य-शरीर का एक तीसरे प्रकार से विभागीकरण किया गया है जिसे सन्धि कहते हैं।[1] एक सन्धि में एक प्रयोजन से अन्वित कथांशों का एक अवान्तर प्रयोजन से सम्बन्ध होता है।[2] ये सन्धियां भी पांच होती हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण सन्धि

---

१ अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः॥ अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति। दशरूपक १/२२–२३

२ एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः सन्धिः। दशरूपक १/२३ पर धनिक की टीका।

मे क्रमशः कार्य की आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलयोग अवस्था होती है।

रत्नावली टीका मे विष्कम्भक में यौगन्धरायण के 'एवमेतत्'। कः सन्देह ···इत्यादि (पृष्ठ १०) इस वचन से लेकर द्वितीय अङ्क में कदली-गृह में चित्र-फलक और लेखन-सामग्री लेकर गई हुई सागरिका के चित्र बनाकर वत्सराज के दर्शन के प्रयत्न से पहले तक 'मुख' सन्धि है। द्वितीय अङ्क में सागरिका के 'जाव ण को वि इह आअच्छादि ताव सालेक्खमप्पिद तं अहिमदं जण पेक्खिअ जधासमीहिद करिस्सं' (पृष्ठ ४४) इस वचन से लेकर अङ्क की समाप्ति तक 'प्रतिमुख' सन्धि है। तृतीय अङ्क में 'गर्भ' सन्धि है, क्योंकि यहाँ वेष-परिवर्तन द्वारा कुछ समय के लिये सागरिका-प्राप्ति सम्भव हुई है, लेकिन वासवदत्ता के आने और सागरिका तथा वसन्तक को पकड़ ले जाने से उसमें विघ्न पड़ा है, और राजा देवी के प्रसादन द्वारा फिर आपाय निवारण के उपाय का अन्वेषण करता है। चौथे अङ्क में ऐन्द्रजालिक द्वारा प्रकट कृत्रिम अग्नि से अन्तःपुर दाह तक 'विमर्श' सन्धि समाप्त हो गई है क्योंकि अन्तःपुर में अग्नि-दाह से वासव-दत्ता को सागरिका के प्रति अनुराग हो गया है (एसा क्खु मए णिग्घिणाए इध णिअडेण संजमिदा सामरिआ विविज्जदि। ता णं परित्ताअदु अज्जउत्तो (पृष्ठ १५८), इसलिये देवी रूप अपाय के अभाव से फल-प्राप्ति निश्चित हो गई है। चौथे अङ्क के शेष भाग में 'निर्वहण' सन्धि है।

नाट्यशास्त्रियों ने पांचों सन्धियों के भी सूक्ष्म विभाग किये हैं, जिन्हें सन्ध्यङ्ग कहते हैं और जिनकी संख्या ६४ (१२+१३+१२+१३+१४) है। रत्नावली में इन संध्यङ्गों को यहाँ दिखलाना सम्भव नहीं है। जिज्ञासु पाठकों को इसके लिये दशरूपक या साहित्यदर्पण देखना चाहिये, जहां सन्ध्यङ्गों के उदाहरण अधिकतर रत्नावली और वेणी-संहार से लिये गये हैं।

रत्नावली में प्रयुक्त वृत्ति—नाट्यशास्त्र में वृत्ति से अभिप्राय नायक के रसानुरूप व्यापार (चेष्टा) से होता।[1] नाट्य के रस के अनुकूल ही नायक की चेष्टा होनी चाहिये। वृत्ति चार प्रकार की मानी गई हैं—कैशिकी सात्वती,

१. तद्व्यापारात्मिकाः। दशरूपक २/४७

आरभटी और भारती। इनमें से प्रथम तीन नायक की चेष्टाओं से सम्बन्ध रखती हैं और अर्थवृत्ति कहलाती हैं। चौथी भारती वृत्ति वचन सम्बन्धी होने से भारती कहलाती है। अलग-अलग रसों के अनुसार वृत्तियों का अलग-अलग विनियोग किया गया है। शृङ्गार में कैशकी, वीर में सात्वती और रौद्र तथा वीभत्स में आरभटी का विधान किया गया है, भारती वृत्ति सब रसों के अनुकूल है।[1]

रत्नावली नाटिका, जैसा पहले कहा जा चुका है, शृङ्गार-रस-प्रधान है, इसलिये इसमें मुख्य वृत्ति कैशकी है। प्रथम अंक में वसन्तोत्सव में गीत नृत्य, वाद्य और सुरा-पान से, द्वितीय अङ्क में सागरिका के चित्र को देखकर किये गये सौन्दर्य-वर्णन से, तृतीय अङ्क में 'अङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्यहि निर्वापय' (पृ० ११०) आदि काम-चेष्टाओं से नायक की कैशिकी वृत्ति सूचित होती है। द्वितीय अङ्क में वानर-कृत उपद्रव में आरभटी वृत्ति का भी प्रयोग हुआ है। 'श्रीहर्षो निपुणः कविः' इत्यादि प्ररोचना में भारती वृत्ति स्पष्ट ही है।

रत्नावली में प्रयुक्त प्रवृत्ति—नाट्यशास्त्र में प्रवृत्ति से अभिप्राय देश-भेद के अनुसार नाट्य के पात्रों की भाषा, क्रिया और वेष का भेद है।[2] रङ्गमञ्चीय प्रभाव (Stage effect) के लिये यह आवश्यक है कि जो पात्र जिस देश का हो उसकी भाषा, चेष्टा और वेष आदि उस देश जैसे ही हों। रत्नावली में पात्रों के वेष और चेष्टा के विषय में कोई संकेत नहीं मिलता। जहाँ तक पात्रों की भाषा का सम्बन्ध है, हर्ष ने नाट्यशास्त्र के नियमों का पूरा पालन किया है।

(६) रत्नावली पर विहंगम दृष्टि

रत्नावली की विशेषतायें—कथावस्तु की सुश्लिष्टता, घटना की गतिशीलता और रङ्गमञ्च पर अभिनेयता की दृष्टि से हर्ष की रत्नावली संस्कृत के रूपकों में सर्वश्रेष्ठ कही जा सकती है। रत्नावली की रचना में हर्ष ने नाट्यशास्त्र के नियमों का पूरा पालन किया है। यही कारण है कि उत्तरवर्ती नाट्यशास्त्रियों ने नाट्य सिद्धान्तों के विवेचन में उदाहरण अधिकतर रत्नावली से लिये हैं। यह उल्लेखनीय है कि हर्ष ने सन्ध्यङ्गों का समावेश केवल नियम पालन के

१. दशरूपक २।६२
२. देशभाषाक्रियावेषलक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः। दशरूपक २/६३

लिये नहीं किया है, अपितु नाटिका की वस्तु और व्यापार के स्वाभाविक विकास में ही उनका समावेश हो गया है। यही कारण है कि भट्टनारायण के वेणीसंहार के समान रत्नावली में वस्तु-विन्यास की शिथिलता नहीं पाई जाती। दामोदरगुप्त ने रत्नावली की प्रशंसा में कहा है—

आश्लिष्टसीधबन्धं सत्पात्रसुवर्णयोजितं सुतराम्।
निपुणपरीक्षकदृष्टं राजति रत्नावलीरत्नम्॥

रत्नावली सर्वथा निर्दोष नाटिका है। यदि उसका कोई दोष है तो केवल यह कि उसकी कथा-वस्तु प्रियदर्शिका नाटिका से बहुत ही मिलती-जुलती है। (ऊपर पृ० १९--२१ भी देखिये)।

रत्नावली का उत्तरवर्ती नाटिकाओं पर प्रभाव—हर्ष की नाटिकाओं का, *विशेषतया रत्नावली का, उत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य पर, विशेषकर नाटिकाओं* पर, बड़ा प्रभाव पड़ा है। राजशेखर की विद्धशालभञ्जिका और कर्णपूरमञ्जरी (सट्टक), बिल्हण की कर्णसुन्दरी और ह्रास-काल की दो तीन और नाटिकायें, *जिनमें कायस्थ मथुरानाथ की वृषभानुजा नाटिका प्रमुख है,* हर्ष के पदचिन्हों पर चलती दिखाई पड़ती हैं। उत्तरवर्ती साहित्य पर रत्नावली के प्रभाव के विषय में प्रो० आगडन ने लिखा है—"In the eyes of all later Hindu writers the Ratnavali, because of its excellence was accorded a place of honour and its influence was marked."[1]

डॉ० कीथ ने भी लिखा है कि संस्कृत नाट्यों में से नाटिकाओं का ऐसा वर्ग है, जिनकी रचना में कवियों ने नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का मुखापेक्षी न बनकर अपनी रचनाओं की प्रेरणा नाट्य-कृतियों से पाई है, उत्तरवर्ती नाटिकाकारों का आदर्श हर्ष की नाटिकायें रही हैं।

रत्नावली : अन्तःपुर की प्रणय कथा (A Court Comedy)—हर्ष *की रत्नावली की कथावस्तु शूद्रक के मृच्छकटिक के समान कवि-कल्पित* है, परन्तु रत्नावली, मृच्छकटिक के विपरीत, केवल अन्तःपुर की प्रणय-लीला को ही चित्रित करती है। रत्नावली से हर्षकालीन समाज के रहन-सहन और रीति-रिवाजों पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है। हर्ष के समय में भी

१. प्रियदर्शिका, कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस, Introduction, P. xc.

सम्भवतः आजकल के समान होली जैसा कोई मदनमहोत्सव वसन्त ऋतु में मनाया जाता था और जनता भूत-प्रेतों तथा योगी और सिद्धों की दिव्य-शक्ति में विश्वास रखती थी। राजाओं के अन्तःपुर में अनेक रानियाँ तथा दासियाँ रहती थीं और राजा लावण्यवती दासियों के साथ अपनी विषय-वासना को तृप्त करते थे।

रत्नावली की भाषा तथा शैली—हर्ष की संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषायें शुद्ध व्याकरण संमत हैं। केवल कुछ स्थलों को छोड़कर उसकी भाषा सरल, विरल-समास-युक्त और प्रसादगुणपूर्ण है। संक्षेप में उसके वाक्य-विन्यास को वैदर्भी रीति का कहा जा सकता है। (ऊपर पृ० १६—२२ भी देखिये।)

रत्नावली में चरित्र-चित्रण—हर्ष की नाटिकाओं के चरित्र 'टाइप' अधिक है। रत्नावली का नायक उदयन, सागरिका और वासवदत्ता सर्वथा नाटिका के अनुरूप चित्रित किये गये हैं। हर्ष के उदयन और वासवदत्ता भास के स्वप्नवासवदत्ता नाटक के उदयन और वासवदत्ता से बहुत भिन्न हैं। रत्नावली का उदयन ललित प्रकृति का विलासी और स्त्रैण राजा है। उसमें दक्षिण, शठ, और धृष्ट नायक का मिश्रण हुआ है। नायिका सागरिका मुग्धा नवानुरागा कन्या है। उसका एकमात्र गुण लावण्य है। वासवदत्ता नाटिका की ज्येष्ठा के अनुरूप सेर्ष्य और मानवती है। राजा का नर्म-सचिव वसन्तक (विदूषक) बेवकूफ होते हुए भी प्रत्युत्पन्नमति है।

रत्नावली में प्रयुक्त छन्द—रत्नावली नाटिका में १३ प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। प्रयुक्त छन्दों के लक्षण स्थल-निर्देश सहित निम्नलिखित हैं—

अनुष्टुभ् (श्लोक)—श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघुपञ्चमम्। द्विचतुःपादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥ आठ अक्षरों के प्रत्येक चरण में ५ वाँ लघु और छठा अक्षर गुरु होता है, ७वाँ अक्षर प्रथम तथा तृतीय चरण में गुरु और द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में लघु होता है और अक्षरों में गुरु-लघु का नियम नहीं है। उदा० १.२२; २.६, १०, १८; ३.२, १६; ४.४, १४, १८।

आर्या—यस्या पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या। मात्रिक छन्द; चरणों में क्रमशः १२, १८, १२ और १५ मात्रायें। उदा० १६, १६, २१, २४; २.६, १२, १६, ३.१०, १२

उपजाति—इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा का मिश्रण। इन्द्रवज्रा—स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। त, त, ज, ग, ग। उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ। ज, त, ज, ग, ग। उदा० २·१५।

पुष्पिताग्रा—अयुजि न युगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा। अर्धसमवृत्त, विषम चरण—न, न, र, य; सम चरण—न, ज, ज, र, ग। उदा० १·४।

पृथ्वी—जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः। ज, स, ज, स, य, ल, ग, ८वें अक्षर पर विराम। उदा० २·१६, ४·१७।

प्रहर्षिणी—म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्। म, न, ज, र, ग; तीसरे अक्षर पर विराम। उदा० २.८।

मालिनी—ननमयययुतेयं मालिनीभोगिलोकैः। न, न, म, य, य, ८वें अक्षर पर विराम। उदा० २.१४, ३.१७, ३.१६।

वसन्ततिलका (क)—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः। त, भ, ज, ज, ग, ग उदा० १.८, १२; २० २.१७; ३.६, १४; ४.२, ३, १६।

शार्दूलविक्रीडित—सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्। म, स, ज, स, त, त, ग; १२वें अक्षर पर विराम। उदा० १.१, २, ५, ६, ११, १७, २३, २५, २.३, ४, ५, ११, २१, ३.१, ३, ११, १३, १८, १६, ४.१, ६, १२, २०, २१।

शालिनी—मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः। म, त, त, ग, ग, चौथे अक्षर पर विराम। उदा० १.७।

शिखरिणी—रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलाग् शिखरिणी। य, म, न, स, भ, ल, ग, छठे अक्षर पर विराम। उदा० २.१३, २०, ३.४, १७, १५, ४.१३।

स्रग्धरा—म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्। म, र, भ, न, य, य, य, ७वें और १४वें अक्षरों पर विराम। उदा० १.३, १०, १६, २.२, ३.५, ८, ४.५, ११, १४, २२।

हरिणी—नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता। न, स, म, र, स, ल, ग, छठे और १०वें अक्षरों पर विराम। उदा० ३.६।

—०—

॥ श्रीः ॥

महाकविश्रीहर्षदेवविरचिता

रत्नावली

नाटिकास्थ-पात्राणि

राजा—वत्सदेश का राजा उदयन (नायक)।
विदूषक—राजा का नर्म-सचिव वसन्तक।
यौगन्धरायण—उदयन का प्रधान-मन्त्री।
विजयवर्मा—उदयन के प्रधान सेनापति रुमण्वान् का भानजा।
बाभ्रव्य—उदयन का कञ्चुकी।
वसुभूति—सिंहल के अधिपति विक्रमबाहु का मन्त्री।
ऐन्द्रजालिक—उज्जयिनी-निवासी जादूगर।
रत्नावली या सागरिका—सिंहल के अधिपति विक्रमबाहु की पुत्री (नायिका)।
वासवदत्ता—उदयन की राजमहिषी (देवी)।
काञ्चनमाला—वासवदत्ता की सेविका।
सुसंगता—परिचारिका, सागरिका की सखी।
चूतलतिका, मदनिका, निपुणिका—परिचारिकायें।
वसुन्धरा—द्वारपालिका (प्रतीहारी)।

रत्नावली

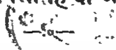
प्रथमोऽङ्कः

पादाग्रस्थितया मुहुः स्तनभरेणानीतया नम्रतां ॥१॥
शम्भोः सस्पृहलोचनत्रयपथं यान्त्या तदाराधने ।
ह्रीमत्या शिरसीहितः सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया
विश्लिष्यन्कुसुमाञ्जलिर्गिरिजया क्षिप्तोऽन्तरे पातु वः

अपि च

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया ॥२॥
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायाऽस्तु वः

व्याख्या—निर्विघ्नतया सिद्धिकामः कविसिद्धस्तत्रभवान् श्रीहर्षदेव आदौ मङ्गलभूताम् 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्' इति वचनानुरोधादाशीरूपां नान्दीमवतारयति—पादाग्रेति । तदाराधने पादाग्रस्थितया मुहुः स्तनभरेण नम्रतामानीतया शम्भोः सस्पृहलोचनत्रयपथमायान्त्या सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया ह्रीमत्या गिरिजया शिरसि ईहितः क्षिप्तः अन्तरे विश्लिष्यन् कुसुमाञ्जलिः वः पातु । इत्यन्वयः । तस्य शम्भोराराधने सेवायां पादाग्रस्थितया पादयोरग्रे स्थितया, मुहुः पुनः स्तनभरेण स्तनयोर्भरेण भारेण नम्रतामवनतिमानीतया प्रापितया' शम्भोः सस्पृहलोचनत्रयपथं स्पृहया सहितं सस्पृहं तच्च लोचनत्रयः तस्य पन्थान मार्गं यान्त्या गच्छन्त्या (शिवेन सस्पृहलोचनैर्दृष्टयेत्यर्थः) सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया च पुलका रोमाञ्चाः स्वेदोद्गमो घर्माविर्भाव उत्कम्पो वेपथुस्तैः सहितया ह्रीमत्या लज्जावत्या गिरिजया पार्वत्या शम्भोः शिरसि मूर्ध्नि (स्थापयितुम्) ईहित दृष्टः क्षिप्तः सन् अन्तरे मध्य एव विश्लिष्यन् विशीर्णः पतन् कुसुमाञ्जलिः कुसुमानां पुष्पाणामञ्जलिर्वः सामाजिकान् पातु रक्षतु ॥१॥



रत्नावली-हिन्दी अनुवाद

उसके (शिव के) आराधन में पैरों के अगले भाग पर खड़ी हुई, (परन्तु) स्तनों के भार से बार बार झुकाई गई, शम्भु के लालसापूर्ण तीनों नेत्रों के पथ में जाती हुई, (अतः) रोमाञ्च, पसीने तथा कम्पन से युक्त, (अतः) लजाती हुई पार्वती द्वारा (शिव के) सिर पर डालने के लिये) चाही गई (परन्तु) फेंके जाने पर (शिव और पार्वती के) बीच में बिखरती हुई पुष्पों की अञ्जलि तुम्हारी (अर्थात् सभासदों की) रक्षा करे ॥१॥

और भी —

प्रथम मिलन में उत्सुकता के कारण (पति की ओर जाने की शीघ्रता करती हुई, (लेकिन) सहज लज्जा के कारण लौटती हुई; फिर सम्बन्धी स्त्रियों के उन उन (अनेक प्रोत्साहित करने वाले) वचनों द्वारा (शिव के) सामने ले जाई गई, आगे पति को देखकर भय तथा आनन्द का अनुभव करती हुई, रोमाञ्चित हुई तथा (पार्वती की विचित्र अवस्था को देखकर) हसते हुये शिव द्वारा आलिंगन की गई गौरी तुम्हारे कल्याण के लिये होवे ॥२॥

पुनरपि नान्दीमेवावतारयति—औत्सुक्येनेति । नवे सगमे, औत्सुक्येन कृतत्वरा, सहभुवा ह्रिया व्यावर्तमाना, बन्धुवधूजनस्य तैः..तैः वचनैः पुनः आभिमुख्य नीता, अग्रे वरं दृष्ट्वा आत्तसाध्वसरसा, संरोहत्पुलका, हसता हरेण श्लिष्टा गौरी वः शिवाय अस्तु । इत्यन्वयः । विवाहानन्तर नवे संगमे प्रथम-समागम औत्सुक्येनोत्सुकतया कृतत्वरा कृता विहिता त्वरा शीघ्रता यया सा, सहभुवा सहजया ह्रिया लज्जया हेतुना व्यावर्तमाना पराणर्तमाना, पुनर्बन्धुवधू-जनस्य बन्धुवधूनां भ्रातृजायादीनां जनस्य समूहस्य तैस्तैरनेकविधैर्वचनैः प्रोत्साहनभाषणैराभिमुख्यं नीता पत्युः संमुखं प्रापिता, अग्रे पुरतो वरं परिणेतारं दृष्ट्वाऽवलोक्याऽऽत्तसाध्वसरसाऽऽत्तौ प्राप्तौ साध्वसरसौ भयानन्दौ यया सा, संरोहत्पुलका संरोहन्त उत्पद्यमानाः पुलका रोमाञ्चा यस्याः सा, हसता स्मयमा-नेन हरेण श्लिष्टाऽऽलिङ्गिता गौरी पार्वती वो युष्माकं शिवाय श्रेयसेऽस्तु ॥२॥

अपि च

संप्राप्तं मकरध्वजेन मथनं त्वत्तो मदर्थे पुरा ,
तद्युक्तं बहुमार्गगां मम पुरो निर्लज्ज वोढुं तव ।
तामेवानुनय स्वभावकुटिला हे कृष्णकण्ठग्रह
मुञ्चेत्याह रुषा यमद्रितनया लक्ष्मीश्च पायात्स वः ॥

अपि च

क्रोधेद्धैर्दृष्टिपातैस्त्रिभिरुपशमिता वह्नयोऽमी त्रयोऽपि
त्रासार्ता ऋत्विजोऽधश्चपलगणहृतोष्णीषपट्टाः पतन्ति ।
दक्षः स्तौत्यस्य पत्नी विलपति करुणं विद्रुतं चापि देवैः
शंसन्नित्यात्तहासो मखमथनविधौ पातु देव्यै शिवो वः ॥ ३ ॥

संप्राप्तमिति श्लोकः केषुचित्पुस्तकेष्वधिक उपलभ्यते । अत्र श्लिष्टोक्त्या लक्ष्मीपार्वत्योः स्वस्वभर्तारमुद्दिश्य सरोषवचनान्याह । शिवस्य शिरसि स्थितां गङ्गां दृष्ट्वा सपत्नीद्वेषादद्रितनययोक्तमाह हे कृष्णकण्ठ, पुरा कमरध्वजेन मदर्थे त्वत्तः मथनं संप्राप्तम् । तद् निर्लज्ज मम पुरः तव बहुमार्गगां वोढुं युक्तम् ? स्वभावकुटिलां तामेव अनुनय, ग्रह मुञ्च, इति रुषा अद्रितनया यमाह स वः पायात् । इत्यन्वयः । हे कृष्णकण्ठ नीलकण्ठ पुरा पूर्वकाले मकरध्वजेन मकरो मीनो ध्वजः केतनो यस्य तेन कामदेवेन मदर्थे मत्कारणात्त्वत्तो मथनं संप्राप्तं नाशो लब्धः । तत्तस्मान्निर्लज्ज मम पुरोऽग्रे तव बहुमार्गगां बहुभिर्मार्गैर्गच्छतीति बहुमार्गगा तां त्रिपथगां गङ्गां वोढुं शिरसि धारयितुं युक्तमुचितमिति काक्वा नोचितमित्यर्थः । स्वभावकुटिलां स्वभावेन प्रकृत्या कुटिलां वक्रां तां गङ्गामेवानुनय प्रीणय । ग्रहं मद्देहग्रहणं मुञ्च त्यजेतीत्थं रुषा क्रोधेनाद्रितनया पर्वतपुत्री य शिवमाह स शिवो वो युष्मान् पायाद्रक्षतु ।

पक्षान्तरे लक्ष्म्या विष्णुं प्रति सरोषभाषितमाह-हे कृष्ण, पुरा मकरध्वजेन मदर्थे त्वत्तः मथनं संप्राप्तम्, तद् निर्लज्ज मम पुरः तव बहुमार्गगां वोढुं युक्तम् ? भावकुटिलां तामेव अनुनयस्व, कण्ठग्रहं मुञ्च, इति लक्ष्मीः रुषा यमाह स वः पायत् । इत्यन्वयः । हे कृष्ण पुरा क्षीरसागरमन्थनकाले मकरध्वजेन मकरला-

और भी—

शिव पक्ष में—"पहले मेरे कारण कामदेव ने तुम से नाश प्राप्त किया था, हे निर्लज्ज, तब क्या मेरे सामने अनेक मार्गों में बहने वाली (त्रिपथगा गंगा) को वहन करना तेरे लिये उचित है? हे नीलकण्ठ (शिव) स्वभाव से कुटिल उस (गंगा) को ही प्रसन्न कर, (मेरी) पकड़ छोड़ दे।" इस प्रकार क्रोध से पार्वती ने जिसे कहा था, वह (शिव) तुम्हारी रक्षा करे।

विष्णु-पक्ष में—"पहले मेरे कारण समुद्र ने तुमसे मंथन प्राप्त किया था, हे निर्लज्ज, तब क्या मेरे सामने अनेकों के मार्गों पर चलने वाली (कुलटा, कुब्जा) को वहन करना तेरे लिये उचित है। हे कृष्ण, हृदय से कुटिल उस (कुब्जा) को ही प्रसन्न कर (मेरे) कण्ठ का आश्लेष छोड़ दे।" लक्ष्मी ने इस प्रकार क्रोधपूर्वक जिससे कहा था, वह (विष्णु) तुम्हारी रक्षा करे।

और भी—

"क्रोध से दीप्त तीन दृष्टियों के प्रक्षेप ने यह तीनों ही अग्नियाँ बुझा दी, भय से आक्रान्त पुरोहित, जिनके दुपट्टे चञ्चल गणों ने छीन लिये थे, नीचे गिरने लगे, दक्ष (प्रजापति) स्तुति करने लगा, इसकी पत्नी करुण विलाप करने लगी और देव लोग भी भाग खड़े हुए।" इस प्रकार यज्ञ-विध्वंस के विधान के विषय में देवी (पार्वती) से कहकर अट्टहास करता हुआ शिव तुम्हारी रक्षा करे ॥३॥

च्छनेन समुद्रेण मदर्थे मत्कारणात् (लक्ष्म्याः सागरमन्थनोत्पन्नत्वात्) त्वत्तो मथन विलोडन संप्राप्तम्। तत्तस्मान्निर्लज्ज मम पुरस्तव बहुमार्गगां बहूनां मार्गं गच्छतीति तां कुलटां तां कुब्जा वोढुं परिणेतुं युक्तम्? भावकुटिलां भावेनाभिप्रायेण कुटिलां वक्रां तामेव कुब्जामेवानुनयस्व प्रसादय। मम कण्ठग्रहं कण्ठश्लेषं मुञ्चेति लक्ष्मीयं विष्णु रुषा कोपेनाह कथितवती स विष्णुर्वः पायात्।

क्रोधेद्धैरिति—क्रोधेद्धैः त्रिभिः दृष्टिपातैः अमी त्रयः अपि वह्नयः उपशमिताः, त्रासार्ताः चपलगणहृतोष्णीषपट्टाः ऋत्विजः अधः पतन्ति, दक्षः स्तौति, पत्नी करुणं विलपति, देवैः च अपि विद्रुतम्, इति मखमथनविधौ [illegible] आत्तहासः शिवः वः पातु। इत्यन्वयः। क्रोधेद्धैः क्रोधेन रुपेद्धैः [illegible]

अपि च

जितमुडुपतिना नमः सुरेभ्यो द्विजवृषभा निरुपद्रवा भवन्तु ।
भवतु च पृथिवी समृद्धसस्या प्रतपतु चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्रः ॥४॥

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण । अद्याहं वसन्तोत्सवे सबहुमानमाहूय नानादिग्देशागतेन राज्ञः श्रीहर्षदेवस्य पादपद्मोपजीविना राजसमूहेनोक्तो यथा—अस्मत्स्वामिना श्रीहर्षदेवेनापूर्ववस्तुरचनालङ्कृता रत्नावली नाम नाटिका कृता । सा चास्माभिः श्रोत्रपरम्परया श्रुता न तु प्रयोगतो दृष्टा । तत्तस्यैव राज्ञः सकलजनहृदयाह्लादिनो बहुमानादस्मासु चानुग्रहबुद्ध्या यथावत्प्रयोगेण त्वया नाटयितव्येति । तद् यावदिदानीं नेपथ्यरचनां कृत्वा यथाभिलषितं सम्पादयामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) अये, आवर्जितानि सकलसामाजिकानां मनांसीति मे निश्चयः । कुतः—

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम् ।

पातैर्लोचनप्रक्षेपैरमी त्रयोऽपि दक्षिणगार्हपत्याहवनीया वह्नयोऽनय उपशमिता निर्वापिताः । चपलगणहृतोष्णीषपट्टाश्चपलैश्चञ्चलैर्गणैः शिवभटैः प्रमथादिभिर्हृता उष्णीषपट्टाः शिरोवेष्टनवस्त्राणि येषां ते, त्रासार्तास्त्रासेन भयेनार्ताः पीडिता ऋत्विजो योजका अधः पतन्ति । दक्षः प्रजापतिं स्तौति स्तुतिं करोति । अस्य दक्षस्य पत्नी करुणं दीनं यथा स्यात्तथा विलपति क्रन्दति । देवैश्चापि भयाद् विद्रुतं पलायितम् । इत्येवं मखमथनविधौ मखस्य यज्ञस्य मथनस्य विध्वंसस्य विधौ विधाने (तमधिकृत्येत्यर्थः) देव्यै पार्वत्यै शंसन् कथयन् आत्तहासः आत्तो गृहीतो हासो येन स युष्मान् पातु रक्षतु ॥३॥

जितमुडुपतिनेति—उडुपतिना जितम्, सुरेभ्यः नमः द्विजवृषभाः निरुपद्रवाः भवन्तु, पृथ्वी समृद्धसस्या भवतु, चन्द्रवपुः नरेन्द्रचन्द्रः च प्रतपतु । इत्यन्वयः । उडुपतिनोडूनां नक्षत्राणां पत्या चन्द्रेण जितं सर्वोत्कर्षेण स्थितम् । सुरेभ्यो देवेभ्यो नमः । द्विजवृषभा द्विजेषु ब्राह्मणेषु वृषभाः पुंगवा इवेति द्विजवृषभा

और भी—

नक्षत्रों का अधिपति (चन्द्रमा) सर्वोत्कर्ष को प्राप्त है, देवों को (मेरा) नमस्कार है, श्रेष्ठ ब्राह्मण उत्पीडन से मुक्त हों, पृथ्वी-समृद्ध धान्य वाली हो और चन्द्रमा के समान (सुन्दर) शरीर वाला, चन्द्र सदृश राजा प्रताप प्रदर्शित करे।

(नान्दी के पश्चात्)

सूत्रधार—बस, अधिक बस! आज वसन्तोत्सव के अवसर पर अनेक दिशाओं तथा देशों से आये हुए, राजा श्री हर्षदेव के चरण—कमलों के आश्रित राजा लोगों ने अत्यादरपूर्वक बुलाकर मुझसे कहा है—'हमारे स्वामी श्री हर्षदेव ने अपूर्व कथा-रचना से अलंकृत रत्नावली नाम की नाटिका रची है। हमने श्रोत-परम्परा से उसके विषय में सुना तो है, लेकिन उसका अभिनय नहीं देखा है। इसलिये सब लोगों के हृदय को आनन्दित करने वाले उस राजा के प्रति अत्यधिक आदर के कारण और हमारे प्रति अनुग्रह करके तुम्हें उचित अभिनय द्वारा उसका नाट्य करना चाहिए।' तो, अब मैं वेष-विन्यास करके मन-चाहा किये देता हूँ। (घूमकर और देखकर) अहा! मुझे निश्चय है कि सब हृदयों के चित्त (हमारे नाट्य के लिये) लालायित हैं। क्योंकि—

श्रीहर्ष चतुर कवि है, यह सभा भी गुणों की ग्राहक है, वत्सराज (उदयन) का चरित लोगों को लुभाने वाला है और हम अभिनय-कला में पारंगत हैं।

ब्राह्मणश्रेष्ठा निरुपद्रवा निर्गता उपद्रवा उपप्लवा येषां ते भवन्तु। पृथिवी समृद्ध-सस्या समृद्धं विपुलं सस्यं व्रीह्यादि यस्यां सा भवतु। चन्द्रपुरश्चन्द्रस्य वपुरिव वपुः शरीरं यस्य स नरेन्द्रचन्द्रो नरेन्द्रचन्द्र इवेति नरेन्द्रचन्द्रो राजश्रेष्ठः प्रतपतु प्रतापं दर्शयतु ॥४॥

सम्प्रति सामाजिकानां प्रोत्साहनार्थं प्रशसारूपां प्ररोचनामवतारयति—श्रीहर्ष इति। श्रीहर्षः निपुणः कविः, एषा परिषदपि गुणग्राहिणी, वत्सराज-चरितं च लोके हारि, वयं च नाट्ये दक्षाः, इह एकैकमपि वस्तु वाञ्छितफल-प्राप्तेः पदम्, किं पुनः भद्र्याग्योपचयाद् अयं गुणानां सर्वः गणः समुदितः। इत्यन्वयः। श्री हर्षस्तदाख्यः कान्यकुब्जेश्वरतया प्रसिद्धो निपुणः प्रवीणः कविः।

वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन—
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥५॥

तद् यावद् गृहं गत्वा गृहिणीमाहूय सङ्गीतकमनुतिष्ठामि। (परिक्रम्य नेपथ्याभिमुखमवलोक्य च) इदमस्मदीयं गृहम्। यावत् प्रविशामि। (प्रविश्य) आर्ये! इतस्तावत्।

(प्रविश्य)

नटी—अज्जउत्त, इअम्हि। आणवेदु अज्जो को णिओओ अणुचिट्ठीअदुत्ति।

[आर्यपुत्र, इयमस्मि। आज्ञापयत्वार्यः को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति।]

सूत्रधारः—आर्ये रत्नावलीदर्शनोत्सुकोऽयं राजलोकः। तद् गृह्यतां नेपथ्यम्।

नटी—(निःश्वस्य सोद्वेगम्) अज्जउत्त, णिच्चिन्तो दाणिं सि तुमम्। ता कीस ण णच्चसि। मह उण मन्दभाआए एक्का जेव्व दुहिदा। सा वि तुए कहिंपि देसन्तरे दिण्णा। कधं एव्व दूरदेसट्ठिदेण जामादुणा सह से पाणिग्गहणं भविस्सदित्ति इमाए चिन्ताए अप्पा वि ण मे पडिहदि। किं उण णच्चिदव्वम्।

[आर्यपुत्र निश्चिन्त इदानीमसि त्वम्। तत्किमिति न नृत्यसि। मम मन्दभाग्यायाः पुनरेकैव दुहिता। सापि त्वया कस्मिन्नपिदेशान्तरे दत्ता। कथमेव दूरदेशस्थितेन जामात्रा सहास्याः पाणिग्रहणं भविष्यतीत्यनया चिन्तयात्मापि न मे प्रतिभाति। किं पुनर्नर्तितव्यम्]

सूत्रधारः—आर्ये, दूरस्थितेनेत्यलमुद्वेगेन। पश्य—

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥६॥

एषा परिषत् सभा गुणग्राहिणी गुणान् गृह्णातीति तच्छीला। वत्सराजचरित्र वत्सराजस्योदयनस्यैतत्काव्यनायकस्य चरितं लोके हारि मनोहरम्। वय नटाश्च नाट्येऽभिनयकर्मणि दक्षा निष्णाताः। इह प्रयोगविषय एकैकमपि वस्तु वाञ्छितफलप्राप्तेर्वाञ्छितमभीष्टं फलं सामाजिकानामावर्जनरूपं तस्य प्राप्तेः पदं स्थानम्। पुनर्भूयो (यदा) मद्भाग्योपचयान्मम भाग्यस्योपचयात् समृद्धेरयं गुणानामनुकूलवस्तूनां सर्वः सकलो गणः समूहः समुदितः संभूय मिलितः (तदा) किं वक्तव्यम् ॥५॥

अत्र नटस्य शब्दानादाय पात्रप्रवेशार्थं प्रस्तावनाभेदं कथोद्घातमवतारति—
इनमें से एक-एक वस्तु भी अभीष्ट फल की प्राप्ति का कारण होती है। फिर भला क्या (कहना, जबकि) मेरे भाग्य के उत्कर्ष से यह सब गुणों का समूह एकत्र उपस्थित हो गया है।।५।।

तो अब घर जाकर और गृहिणी को बुलाकर संगीत का प्रबन्ध करता हूँ। (प्रवेश करके) आर्ये, इधर तो आओ।

(प्रवेश करके)

नटी—आर्यपुत्र, यह आ गई। आर्य आज्ञा देवें कि क्या आज्ञा सम्पन्न की जाय ?

सूत्रधार—आर्ये ये राजा लोग रत्नावली देखने को उत्सुक हैं। इसलिये वेषविन्यास कर लीजिये।

नटी—(लम्बा सांस लेकर परेशानी के साथ) आर्यपुत्र, तुम तो अब निश्चित हो, नाचोगे क्यों नहीं ? लेकिन मुझ भाग्यहीन की तो एक ही पुत्री थी, वह भी तुमने कहीं परदेश में दे दी। इतने दूर देश में रहने वाले दामाद से इसका विवाह कैसे होगा—इस चिन्ता से मुझे तो आपा भी नहीं सुहाता, फिर भला नाचना क्या ?

सूत्रधार—आर्ये, दूर रहने वाले (पति से कैसे विवाह होगा) इसके लिये परेशानी न उठाओ। देखो—

अनुकूल भाग्य अन्य द्वीप से भी, समुद्र के मध्य से भी और दिशा के छोर से भी अभीष्ट को लाकर तुरन्त मिला देता है ॥६॥

द्वीपादिति। अभिमुखीभूतः विधिः अन्यस्माद् द्वीपादपि जलनिधेः मध्यादपि दिशः अन्तादपि अभिमतं झटिति आनीय घटयति। इत्यन्वयः। अनभिमुखोऽभिमुखो भूत इत्यभिमुखीभूतोऽनुकूलः सन् विधिर्दैवमन्यस्माद् द्वीपाद् द्विर्गता [illegible] द्वीपस्तस्मादपि, जलनिधेः सागरस्य मध्यादपि [illegible] झटिति द्रागानीय घटयति मेलयति ॥६॥

(नेपथ्ये)

साधु, भरतपुत्र, साधु । एवमेतत् । कः संदेहः ['द्वीपात्–' (१/६) इत्यादि पठति] ।

सूत्रधारः—(आकर्ण्य नेपथ्याभिमुखमवलोक्य सहर्षम्) आर्ये, नन्वयं मम यवीयान्भ्राता गृहीतयौगन्धरायणभूमिकः प्राप्त एव । तदेहि । आवामपि नेपथ्यग्रहणाय सज्जीभवावः ।

(इति निष्क्रान्तौ)

॥ इति प्रस्तावना ॥

(ततः प्रविशति यौगन्धरायणः)

यौगन्धरायणः—एवमेतत् । कः सन्देहः ? (द्वीपादन्यस्मादिति पुनः पठित्वा) अन्यथा क्व सिद्धादेशप्रत्ययप्रार्थितायाः सिंहलेश्वरदुहितुः समुद्रे यानभङ्गमग्नोत्थितायाः फलकासादनं क्व च कौशाम्बीयेन वणिजा सिंहलेभ्यः प्रत्यागच्छता तदवस्थायाः समाधानं रत्नमालाचिह्नायाः प्रत्यभिज्ञानादिहानयनं च । (सहर्षम्) सर्वथा स्पृशन्ति नः स्वामिनमभ्युदयाः । (विचिन्त्य) मयापि चैनां देवीहस्ते सगौरवं निक्षिपता युक्तमेवानुष्ठितम् । श्रुतं च मया—बाभ्रव्योऽपि कञ्चुकी सिंहलेश्वरामात्येन वसुभूतिना सह कथं कथमपि समुद्रादुत्तीर्य कोशलोच्छित्तये गतवता रुमण्वता मिलित इति । तदेवं निष्पन्नप्रायमपि प्रभुप्रयोजनं न मे धृतिमावहतीति कष्टोऽयं खलु भृत्यभावः । कुतः—

प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ
दैवेनेत्थं दत्तहस्तावलम्बे ।
सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्यं तथापि
स्वेच्छाचारी भीत एवास्मि भर्तुः ॥७॥

प्रारम्भेऽस्मिन्निति । स्वामिनः वृद्धिहेतौ अस्मिन् प्रारम्भे दैवेन इत्थं दत्त–हस्तावलम्बे (सति) सिद्धेः भ्रान्तिः नास्ति (इति) सत्यम्, तथापि स्वेच्छाचारी (अहं) भर्तुः भीतः एव अस्मि । इत्यन्वयः । स्वामिनः प्रभोर्वत्सराजस्य वृद्धिहेतौ

(नेपथ्य में)

ठीक है, भरतपुत्र, ठीक है। ऐसा ही है। क्या सन्देह है? ('द्वीपादन्य-स्माद्' इत्यादि श्लोक का पाठ करता है)।

सूत्रधार—(सुनकर, नेपथ्य की ओर देखकर, हर्ष से) आर्ये, यह मेरा छोटा भाई यौगन्धरायण की भूमिका धारण करके आ ही गया। तो आओ। हम भी वेष-विन्यास के लिये तैयार होवें।

(दोनों निकल जाते हैं)

॥ प्रस्तावना समाप्त ॥

—: ० :—

(यौगन्धरायण प्रवेश करता है)

यौगन्धरायण—ऐसा ही है। क्या सन्देह? (द्वीपादन्यस्माद्' इत्यादि श्लोक पुनः पढकर) नहीं तो, कहाँ सिद्ध के वचन के विश्वास से मांगी गई, समुद्र में जहाज के टूट जाने से डूब कर बची हुई, सिंहल देश के राजा की पुत्री का तख्ते को पा लेना और कहाँ सिंहल देश से लौटने वाले कौशाम्बी-निवासी व्यापारी द्वारा उस दशा वाली की रक्षा और रत्नमाला के चिन्ह वाली को पहचान लेने के कारण यहाँ ले आना। (हर्ष के साथ) सब तरह हमारे स्वामी को अभ्युदय प्राप्त हो रहे हैं। (सोच कर) और मैंने भी इसे आदरपूर्वक महारानी के हाथों में सौंप कर ठीक ही किया है। और मैंने भी सुना है कि—कञ्चुकी बाभ्रव्य भी सिंहल के राजा के मन्त्री वसुभूति के साथ किसी प्रकार समुद्र से निकल कर कोशल के नाश के लिये गये हुए रुमण्वान् से मिल गया है। तो इस प्रकार लगभग सम्पन्न होता हुआ भी प्रभु का कार्य मुझे सन्तोष नहीं देता। सेवक होना, निश्चय ही, बड़ा कष्टकारी है। क्योंकि—

स्वामी की वृद्धि के निमित्तभूत, दैव के द्वारा इस प्रकार हाथ का सहारा दिये गये इस उद्योग के विषय में, सचमुच, सफलता में कोई संदेह नहीं है। तब भी, अपनी इच्छानुसार आचरण करने वाला मैं स्वामी से डरा हुआ ही हूँ ॥७॥

वृद्धिरभ्युदयश्चक्रवर्तित्वलाभरूपस्तस्य हेतौ कारणे रत्नावलीसमागमसम्बन्धिन्यस्मिन् प्रारम्भे कर्मणि दैवेन भाग्येनेत्थं यानभङ्गेन मग्नोत्थिताया रत्नावल्याः

(नेपथ्ये कलकलः)

यौगन्धरायणः—(आकर्ण्य) अये, यथायमभिहन्यमानमृदुमृदङ्गानुगतसंगीतमधुरः पुरः पौराणां समुच्चरति चर्चरीध्वनिस्तथा तर्कयामि मदनमहमहोत्सवं पुरजनप्रमोदमवलोकयितुं प्रासादाभिमुखं प्रस्थितो देव इति (ऊर्ध्वमवलोक्य) अये, कथमधिरूढ एव देवः प्रासादम् । य एषः—

विश्रान्तविग्रहकथो रतिमाञ्जनस्य
चित्ते वसन्प्रियवसन्तक एव साक्षात् ।
पर्युत्सुको निजमहोत्सवदर्शनाय
वत्सेश्वरः कुसुमचाप इवाभ्युपैति ॥८॥

तद्यावद् गृहं गत्वा कार्यशेषं चिन्तयामि । (इति निष्क्रान्तः)

इति विष्कम्भकः

(ततः प्रविशत्यासनस्थो गृहीतवसन्तोत्सववेषो राजा विदूषकश्च)

राजा—(सहर्षमवलोक्य) सखे वसन्तक !

विदूषकः—आणवेदु भवं । [आज्ञापयतु भवान् ।]

राजा—

राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ।

सागरिकाछलेन वत्सराजस्यान्तःपुरे समानयनाद् दत्तहस्तावलम्बे दत्तो हस्तस्यावलम्ब आश्रयो यस्य तस्मिन् सति सिद्धेः सफलतायाः भ्रान्तिः संशयो नास्तीति सत्यं तथापि पुनरपि स्वेच्छाचारी स्वेच्छयाऽऽचरतीति स्वेच्छाचारी भर्तुरनुमतिविनाऽस्मिन् कर्मणि प्रवृत्तोऽहं भर्तुः स्वामिन उदयनाद् भीत एवास्मि ॥७॥

विश्रान्तविग्रहेति—विश्रान्तविग्रहकथः रतिमान् जनस्य चित्ते वसन् प्रियवसन्तकः वत्सेश्वरः निजमहोत्सवदर्शनाय पर्युत्सुकः साक्षात् एव कुसुमचापः इवाभ्युपैति । इत्यन्वयः । विश्रान्तविग्रहकथो विश्रान्ता समाप्ता विग्रहस्य युद्धस्य शत्रूणामभावात् कथा यस्य स पक्षे विश्रान्ता विग्रहस्य शरीरस्यानङ्गत्वात् कथा यस्य सः, रतिमान् प्रजास्वनुरागवान् पक्षे रतिः स्वप्रिया तद्वान्, जनस्य प्रजायाः

(नेपथ्य में कलकल ध्वनि)

यौगन्धरायण (सुनकर) अरे ! जैसे कि यह सामने पीटे जाते हुए मृदुल शब्द करने वाले मृदंगों के साथ गाये गये गीतों के कारण मनोहारी, नागरिकों की करतलध्वनि बढ़ रही है, उससे सोचता हूँ कि देव मदनमहोत्सव के कारण बढ़े हुए, नगर निवासियों के उल्लास को देखने के लिये राजमहल की ओर चल पड़े हैं। (ऊपर की ओर देखकर) अरे कैसे ! महाराज राजमहल पर चढ़ भी गये। जो यह—

अनुरागवान्, प्रजा के हृदय में समाये हुए, वत्स देश के महाराजा हैं, जिनकी युद्ध की बात शान्त हो गई है और जिन्हें वसन्तक प्रिय है, वह मानो, साक्षात् कामदेव हो—जिसके शरीर की कथा समाप्त हो गई है, जिसकी रति नाम की पत्नी है, जो लोगों के चित्त में वास करता है और वसन्त ऋतु जिसका सखा है—अपने महोत्सव (मदन-महोत्सव) को देखने के लिये लालायित होकर सामने आ रहे हैं। तो अब घर जाकर शेष कार्य की चिन्ता करूँ। (बाहर चला जाता है)।

विष्कम्भक समाप्त

(आसन पर स्थित और वसन्तोत्सव का वेष धारण किये राजा विदूषक के साथ प्रवेश करता है।)

राजा—(हर्ष के साथ देखकर) मित्र वसन्तक।

विदूषक—आज्ञा कीजिये।

राजा—(यह) राज्य है, जिसमें सब शत्रुओं को जीत लिया है, सारा भार योग्य मन्त्री पर रख दिया है; प्रजायें, जिनके सब उपद्रव शान्त कर दिये

चित्ते हृदये वसन् प्रजयाऽनुरागात् स्मिग्रमाण इत्यर्थः पक्षे जनस्य लोकस्य चित्ते मनसि वसन् परिवर्तमानः कामस्य मनसिजत्वात्, प्रियवसन्तकः प्रियः वसन्तकस्तन्नामा विदूषको यस्य, पक्षे प्रियो वसन्त-ऋतुर्यस्य, वत्सेश्वरो वत्सानां तन्नाम्नो जनपदस्येश्वरो राजदयनो निजमहोत्सवदर्शनाय निज आत्म-प्रवर्तितो यो महानुत्सवस्तस्य दर्शनाय पर्युत्सुक उत्कण्ठितः साक्षात् प्रत्यक्षं कुसुम-चाप इव कुसुमं चापो यस्य स कामदेव इवाभ्युपैत्यभिमुखमागच्छति ॥८॥

प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥१०॥

विदूषकः—(सहर्षम्) भो वअस्स, एव्वं ण्णेदम् । अहं उण जाणामि ण भवदो ण कामदेअस्स मम ज्जेव्व एकस्स बम्हणस्स अअं मअण महूसवो जस्स पिअवअस्सेण एव्व मन्तीअदि । (विलोक्य) ता किं इमिणा । पेक्ख दाव इमस्स महुमत्त कामिणीजणसअग्गाहगहिदसिङ्गकजलप्पहारणच्चन्तणाअरजणजणिदकोदूहलस्स समन्तदो घुम्मन्तमद्दलुद्दामचच्चरीसद्दमुहररच्छामुहसोहिणो पइण्णपडवासपुञ्जपिञ्जरिज्जन्तदसदिसामुहस्स सस्सिरीअदं मअण महूस्सवस्स ।

[भो वयस्य, एव न्विदम् । अहं पुनर्जानामि न भवतो न कामदेवस्य ममैवैकस्य ब्राह्मणस्यायं मदनमहोत्सवो यस्य प्रियवयस्येनैव मन्त्र्यते विलोक्य । तत्किमनेन। प्रेक्षस्व तावदेतस्य मधुमत्तकामिनीजनस्वयंग्राहगृहीतश्रृङ्गकजलप्रहारनृत्यन्नागरजनजनितकौतूहलस्य समन्ततः शब्दायमानमर्दलोद्दामचर्चरीशब्दमुखररथ्यामुखशोभिनः प्रकीर्णपटवासपुञ्जपिञ्जरीकृतदशदिशामुखस्य सश्रीकतां मदनमहोत्सवस्य ।]

राजा—(समन्तादवलोक्य) अहो, परां कोटिमधिरोहति प्रमोदः पौराणाम् । तथा हि—

राज्यं निर्जितेति—निर्जितशत्रु राज्यं, योग्यसचिवे समस्तः भरः न्यस्तः, प्रजाः प्रशमिताशेषोपसर्गाः सम्यक्पालनलालिताः, प्रद्योतस्य सुता, वसन्तसमयः त्वं च इति कामः नाम्ना कामं धृतिम् उपैतु, पुनः मन्ये मम अयं महान् उत्सवः। इत्यन्वयः । निःशेषेण जिताः स्ववशमानीताः शत्रवो यस्मिन् तद् मे राज्यमस्ति। योग्ये कार्यक्षमे सचिवे मन्त्रिणि समस्तः सकलो भरो भारो न्यस्तो निहितो वर्तते । प्रजाः प्रशमिता विनाशिता अशेषा निखिला उपसर्गा उपप्लवा यासां ताः सम्यक् सुविहितं यत्पालनं रक्षणं तेन लालिताः संवर्धिताः सन्ति । प्रद्योतस्य तन्नाम्न उज्जयिनीनृपस्य सुता दुहिता वासवदत्ता रमणीयगुणाऽनुकूला च पत्नी वर्तते । भोगानुकूलो वसन्तस्य समयः कालो विद्यते । त्वं वसन्तकश्च मम प्रियकरणदक्षः सुहृद् वर्तसे । इति पूर्वोक्तैः षड्भिर्हेतुभिः कामो मदनो नाम्ना 'मदनमहोत्सव' इति नाममात्रात् कामं यथेच्छं तृप्तिं सन्तोषमुपैतु गच्छतु । पुनः

गये हैं, भली भांति रक्षा द्वारा वृद्धि को प्राप्त हैं, प्रद्योत की पुत्री (वासवदत्ता जैसी पत्नि) है, वसन्त ऋतु का समय है और तुम (अनुकूल मित्र) हो, इससे कामदेव (मदनमहोत्सव) नाम के कारण सन्तोष भले ही पा लेवे, लेकिन मै समझता हूँ कि यह महान् उत्सव मेरा (ही) है ॥६॥

विदूषक—(हर्ष के साथ) हे मित्र, हां ऐसा हो सकता है। लेकिन मुझे तो लगता है कि यह मदन-महोत्सव न आपका है और न ही कामदेव का, बल्कि अकेले आप मुझ ब्राह्मण का है, जिसका प्रिय मित्र इस प्रकार कह रहा है। (देखकर) खैर, इससे क्या ? मद्य से मस्त सुन्दरियों द्वारा स्वयं पकड़े गये और पिचकारियों के जल प्रहार से नाचते हुए नगर निवासियों द्वारा कुतूहल उत्पन्न करने वाले, चारों ओर बजाते हुए मृदंगो के कारण प्रचण्ड चर्चरी ध्वनि से गूंजती हुई सड़कों के मोड़ो से शोभा देने वाले और फेंके गये गुलाल के पुञ्ज से दसों दिशाओ के मुखों को पीला कर देने वाले इन मदन-महोत्सव की शोभा को देखो।

राजा (चारों ओर देखकर) आहा ! नागरिकों का उल्लास चरम-सीमा को पहुंच रहा है। क्योंकि—

परमहं मन्ये ममैवाऽय महानुत्सव इति ॥६॥

मधुमत्तकामिनीति—मधुना मद्येन मत्त: य: कामिनीनां वनितानां जनः समूहस्तेन स्वयंग्राहेण स्वेच्छया ग्रहणेन ग्रहीत:, शृ गाण्येव शृ गकाणि तेषां ये जलप्रहारास्तैर्नृत्यश्च यो नागरजनो नगरनिवासिजनस्तेन जनितं प्रेक्षकाणां कौतूहल कौतुक यस्मिन् तस्य। शब्दायमानेति—शब्दायमाना: सशब्दा ये मर्दला मृदंगास्तैरुद्दाम: प्रचण्डो यश्चर्चर्या गीतिविशेषस्य शब्दो ध्वनिस्तेन मुखराणि शब्दायमानि यानि रथ्यानां मुखानि तै: शोभते इति तस्य। प्रकीर्णपटवासेति—प्रकीर्णो विक्षिप्तो य: पटवास: पिष्टातस्तस्य पुञ्जै: समूहै: पिञ्जरीकृतानि पीतीकृतानि दशदिशानां मुखानि यस्मिन् तस्य। अत्र त्रीण्यपि मधुमत्तेत्यादीनि मदनमहोत्सवस्य विशेषणानि। सश्रीकेति—श्रिया शोभया सहित: सश्रीकस्तस्य भावस्तां शोभावत्ताम्।

कीर्णैः पिष्टातकौघैः कृतदिवसमुखैः कुङ्कुमक्षोदगौरै-
र्हेमालङ्कारभाभिर्भरनमितशिखैः शेखरैः कैङ्किरातैः।
एषा वेषाभिलक्ष्यस्वविभवविजिताशेषवित्तेशकोशा
कौशाम्बी शातकुम्भद्रवखचितजनेवैकपीता विभाति ॥१०॥

अपि च

धारायन्त्रविमुक्तसंततपयः पूरप्लुते सर्वतः
सद्यः सान्द्रविमर्दकर्दमकृतक्रीडे क्षण प्राङ्गणे।
उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत्सिन्दूररागारुणैः
सैन्दूरीक्रियते जनेन चरणन्यासैः पुरः कुट्टिमम् ॥ ११ ॥

विदूषकः—(विलोक्य) एदं पि दाव सुविअद्धजणभरिदसिङ्गकजलप्पहार-मुक्कसिक्कारमणोहरं वारविलासिणीजणविलसिदं आलोएदु पिअवअस्सो। [एतदपि तावत्सुविदग्धजनभरितशृङ्गकजलप्रहारमुक्तसीत्कारमनोहरं वारविलासिनीजनविलसितमालोकयतु प्रियवयस्यः।]

कीर्णं पिष्टातकेति—वेषाभिलक्ष्यस्वविभवविजिताशेषवित्तेशकोशा एषा कौशाम्बी *कुङ्कुमक्षोदगौरैः कृतदिवसमुखैः कीर्णैः पिष्टातकौघैः हेमालङ्कारभाभिः* भरनमितशिखैः कैङ्किरातैः शेखरैः शातकुम्भद्रवखचितजनेव एकपीता विभाति। इत्यन्वयः। येन नेपथ्येनाभिलक्ष्योऽनुमेयो यः स्वविभवो निजैश्वर्यं तेन विजितोऽशेषः सकलो वित्तानामीशस्य कुबेरस्य कोशो वित्तसञ्चयो यया सा, एषा पुरोदृश्यमाना कौशाम्बी कुशाम्बेन नाम राज्ञा निर्वृता नगरी वत्सानां राजधानी कुङ्कुमक्षोदगौरैः कुङ्कुमानां केसराणां क्षोदश्चूर्णं तेन गौरैररुणैरतः कृतदिवसमुखैः कृतं सम्पादितं दिवसस्य मुखमारम्भः प्रत्यूष इति यावद् यैस्तैः कीर्णैः प्रक्षिप्तैः पिष्टातकानां पटवासानामोघैः समूहैर्हेमालङ्कारभाभिर्हेम्नः स्वर्णस्यालङ्काराणां भाभिः कान्तिभिर्भरनमितशिखैर्भरेण भारेण नमिता नम्रीकृताः शिखाः शिरांसि यैस्तैः कैङ्किरातैः किङ्किरातानामशोकवृक्षाणां लक्षणयाऽशोकपुष्पाणां विकारैस्तन्निर्मितैः शेखरैः शिरोभूषणैर्हेतुभिः शातकुम्भद्रवखचितजनेव

केसर के चूर्ण से पीले, (अतः) (दिन को) उषाकाल में परिणत करने वाले, फेंके गये, सुगन्धित चूर्ण की राशियों से, स्वर्ण के आभूषणों की कान्तियों से और भार से सिरों को झुका देने वाले अशोक पुष्पों के शिरो-भूषणों से यह कौशाम्बी (नगरी), जिसने (नागरिकों के) वेष से प्रकट होने वाले अपने ऐश्वर्य से कुबेर के सम्पूर्ण कोष को जीत लिया है और जिसके निवासी जन, मानो, स्वर्ण के रस से लिप्त हैं, पीली ही पीली दीखती है ॥१०॥

और भी—

सब ओर पिचकारियों से छूटती हुई अविरत जल-धाराओं से भरे हुए और सभी अत्यधिक विमर्दन से (उत्पन्न) पङ्क में की गई क्रीडा वाले आंगन में लोगों द्वारा अत्यधिक मत्त स्त्रियों के कपोलों से गिरते हुए सिन्दूर के वर्ण से लाल पद-चिन्हों से यह सामने फर्श क्षण भर सिन्दूर वर्ण का किया जा रहा है ॥११॥

विदूषक—(देखकर) प्रिय मित्र वाराङ्गनाओं के विलास को तो देखें जो कि चतुर जनों द्वारा भरी हुई पिचकारी के जल के प्रहार के कारण छोड़ी गई सी-सी की ध्वनि से मनोहारी है।

शातकुम्भे नाम पर्वते भवं शातकुम्भं सुवर्णं तस्य द्रवो रसस्तेन खचिता व्याप्ता जना यस्यां सेवैकपीता, एकः प्रधानः पीतवर्णो यस्यां सा विभाति शोभते ॥१०॥

धारयन्त्रेति—सर्वतः धारायन्त्रविमुक्तसततपयः पूरप्लुते सद्यः सान्द्रविमर्दकर्दमकृतक्रीडे प्राङ्गणे जनेन उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत्सिन्दूररागारुणैः चरणन्यासैः पुरः कुट्टिमं क्षणं सैन्दूरीक्रियते इत्यन्वयः। सर्वतः समन्ताद् धारायन्त्रैर्जलोद्गारयन्त्रैः शृङ्गकैर्वा करर्विमुक्तो यः सन्ततो निरन्तरः पयःपूरो जलौघस्तेन प्लुते प्लाविते तथा च सद्यस्तत्क्षण सान्द्रो निबिडो यो विमर्दः पादैर्निष्पेषस्तेन यः कर्दमः पङ्कस्तस्मिन् कृता क्रीडा यस्मिन् तस्मिन् प्राङ्गणे महत्यङ्गने जनेनोद्दामा उद्दामानोऽप्रतिबन्धं क्रीडन्त्यो याः प्रमदाः प्रकृष्टो मदो यासां तास्तासां कपोलेभ्यो गण्डेभ्यो निपतन् यः सिन्दूररागस्तेनारुणैः रक्तैश्चरणन्यासैः पादविक्षेपैः पुरोऽग्रे दृश्यमानं कुट्टिमं बद्धभूमिः क्षणमल्पकालं सिन्दूरेण रक्तं सैन्दूरमसैन्दूरं सैन्दूरं क्रियत इति सैन्दूरीक्रियते ॥११॥

राज—(विलोक्य) वयस्य, सम्यग्दृष्टं भवता । कुतः—

अस्मिन्प्रकीर्णपटवासकृतान्धकारे
दृष्टोमनाङ्मणिविभूपणरश्मिजालैः ।
पातासमुद्यतफणाकृतिशृङ्गकोऽयं
मामद्य संस्मरयतीह भुजङ्गलोकः ॥१२॥

विदूषकः—(विलोक्य) भो वअस्स, पेक्ख पेक्ख । एसा क्खु मअणिआ मअणवसविसण्ठुल वसन्ताभिणअं णच्चन्ती चूअलदिआए सह इदो ज्जेव्व आअच्छदि । [भो वयस्य, प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व । एपा खलु मदनिका मदनवशाविसंष्ठुलं वसन्ताभिनयं नृत्यन्ती चूतलतिकया सहेत एवागच्छति ।]

(ततः प्रविशतो मदनलीलां नाटयन्त्यौ द्विपदीखण्डं गायन्त्यौ चेट्यौ)

चेट्यौ—

कुसुमाउहपिअदूअओ मउलाइदबहुचूअओ ।
सिढिलिअमाणग्गहणओ वाअदि दाहिणपवणओ ॥१३॥

[कुसुमायुधप्रियदूतको मुकुलायितबहुचूतकः ।
शिथिलितमानग्रहणको वाति दक्षिणपवनकः ॥१३॥]

विअसिअवउलासोअओ कङ्खिअपिअजणमेलओ ।
पडिवालणासमत्यओ तम्मइ जुवइसत्थओ ॥१४॥

सुविदग्धेति—सुविदग्धस्य तात्वक्रीडापटोर्जनस्य कर्तु जलभरितैः शृङ्गकैः करणैर्ये जलप्रहारा जलताडनानि तद्धेतुभिर्मुक्ता ये सीत्काराः सीदिति शब्दास्तैर्मनोहरम् । वारविलासीनीति—वारविलासिन्यो गणिकास्तासां जनः समूहस्तस्य विलसितं चेष्टितम् ।

अस्मिन् प्रकीर्णपटवासेति—अस्मिन् प्रकीर्णपटवासकृतान्धकारे मणिविभूषणरश्मिजालैः मनाग् दृष्टः उद्यतफणाकृतिशृङ्गकः अयं भुजङ्गलोकः इह अद्य मां पातालं संस्मरयति । इत्यन्वयः । अस्मिन् पुरो दृश्यमाने प्रकीर्णः क्षिप्तः

राजा—(देखकर) मित्र, तुमने खूब देखा ! क्योंकि—

बिखेरे गये गुलाल से किये गये इस अन्धकार में मणि जटित आभूषणों की किरण-समूह से कुछ-कुछ दीख पड़ने वाला, (सर्प के) फण के आकार वाली पिचकारी उठाये हुए वह कामी जनों का समूह (अन्य अर्थ—सर्पों का समूह) आज मुझे पाताल की याद दिला रहा है।

विदूषक—(देखकर) ए मित्र, देखो देखो। यह मदनिका काम-पीड़ित होने से लड़खड़ाते हुए वसन्त का अभिनय करती हुई चूतलतिका के साथ इधर ही आ रही है।

(मदनलीला का नाट्य करती हुई तथा द्विपदी-खण्ड गाती हुई दो चेटी प्रवेश करती हैं)।

दोनों चेटी—

कामदेव का प्रिय दूत, अनेक आम्र वृक्षों को मुकुलित करने वाला, (मानिनी सुन्दरियों के) प्रणय-कलह को शिथिल करने वाला, दक्षिण पवन बह रहा है ॥१३॥

पटवासः पिष्टातस्तेन कृतोऽन्धकारस्तस्मिन् मणिमयानि विभूषणानि मणिविभूषणानि तेषां रश्मीनां किरणानां जालैः समूहैर्मनाक् किञ्चिद् दृष्टा उद्यताः फणाकृतयः फणेवाकृतिर्येषां ते शृङ्गका येन स पक्षे फणाकृतयः शृङ्गका इव येन सोऽयं भुजङ्गानां विटानां लोक. समूहः पक्षे भुजङ्गानां सर्पाणां समूह इहाद्य मा पातालं सस्मरयत्याध्यापयति ॥१२॥

मदनवशविसंष्ठुलमिति—मदनस्य कामस्य वशेनायत्तत्वेन विसंष्ठुलं यथास्यात्तथा।

कुसुमायुधेति—कुसुमायुधप्रियदूतकः मुकुलायितबहुचूतकः शिथिलितमानग्रहणकः दक्षिणपवनकः वाति। इत्यन्वयः। कुसुमायुधस्य कुसुमानि पुष्पाण्यायुधानि यस्य तस्य प्रियतो दूतो मुकुलायिता मुकुलैः कलिकाभिर्निर्मिता बहवश्चूता आम्रा येन सः शिथिलितं मन्दीकृतं मानस्य प्रणयकलहस्य ग्रहणं स्वीकरणं येन स दक्षिणो दक्षिणदिगुत्पन्नः पवन एव पवनको वाति वहति ॥१३॥

[विकसितवकुलाशोककः काङ्क्षितप्रियजनमेलकः ।
प्रतिपालनासमर्थकस्ताम्यति युवतिसार्थकः ॥१४॥

इह पढम महुमासो जणस्स हिअलाइं कुणइ मिउलाई ।
पच्छा विज्झइ कामो लद्धप्पसरेहिं कुसुमबाणेहिं ॥१५॥

[इह प्रथमं मधुमासो जनस्य हृदयानि करोति मृदुलानि ।
पश्चाद्विध्यति कामो लब्धप्रसरैः कुसुमबाणैः ॥१५॥]

राजा—(निर्वर्ण्य सविस्मयम्) अहो निर्भरः क्रीडारसः परिजनस्य । तथाहि—

स्रस्तः स्रग्दामशोभां त्यजति विरचितामाकुलः केशपाशः
क्षीबायां नूपुरौ च द्विगुणतरमिमौ क्रन्दतः पादलग्नौ ।
व्यस्तः कम्पानुबन्धादनवरतमुरो हन्ति हारोऽयमस्याः
क्रीडन्त्याः पीडयेव स्तनभरविनमन्मध्यभङ्गानपेक्षम् ॥१६॥

विकसितवकुलेति—विकसितवकुलाशोककः काङ्क्षितप्रियजनमेलकः प्रतिपालनासमर्थकः युवतिजनसार्थकः ताम्यति । इत्यन्वयः । विकसिताः पुष्पिता बकुलाश्चाशोकाश्च येन सः, पादाघातैरशोको विकसति बकुलो योषितामास्यमद्यैरिति कविसमयात्, काङ्क्षितोऽभिलषितः प्रियजनैर्मेलकः सङ्गमो येन सः, प्रतिपालनासमर्थकः प्रतिपालने प्रियागमनप्रतीक्षणेऽसमर्थ एवासमर्थको युवतीनां सार्थ एव सार्थकः समूहस्ताम्यति खिद्यते ॥१४॥

इह प्रथममिति—इह प्रथमं मधुमासः जनस्य हृदयानि मृदुलानि करोति पश्चात् कामः लब्धप्रसरैः कुसुमबाणैः विध्यति । इत्यन्वयः । इहास्मिन् वसन्तावतारे प्रथमं पूर्वं मधुमासो वसन्तमासो जनस्य लोकस्य हृदयानि मृदुलानि कोमलानि कुसुमशरभेदयोग्यानि करोति, पश्चात्तदनन्तरं कामो लब्धः प्रसरोऽवकाशो यैस्तैः कुसुमैश्च तैर्बाणैश्च कुसुमबाणैः पुष्पशरैर्विध्यति भिनत्ति ॥१५॥

राजा परिजनस्य क्रीडारसनिर्भरत्वं वर्णयति स्रस्तः स्रग्दामेति—क्षीबायाः

मौलसरी तथा अशोक को विकसित करने वाला, प्रियजनों के साथ की इच्छा करने वाला, (प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा करने में असमर्थ युवतियों का समूह व्याकुल हो रहा है ॥१४॥

यहाँ (वसन्त आरम्भ होने पर) पहले वसन्त मास लोगों के हृदयों को कोमल कर देता है, (तब) बाद में, कामदेव अवसर पाए हुए पुष्प-बाणों से बींध देता है ॥१५॥

राजा—(आश्चर्य से देखकर) आह ! सेवकों को (तो) क्रीडा का बड़ा आनन्द (आ रहा है) । जैसे कि—

मधु-पान से मत्त हुई (और) स्तनों के भार से झुकते हुए कटिभाग के टूटने की चिन्ता करके नाचती हुई इस (सेविका) का खुला हुआ (अतः) बिखरा हुआ जूड़ा, मानो पीडा के कारण, किये गये पुष्प-मालाओं के प्रसाधन को छोड़ रहा है, ये पैरों में बंधे हुए दोनों नूपुर (मानो पीडा के कारण और दुगुना चिल्ला रहे हैं, कम्पन की निरन्तरता के कारण झूलता हुआ यह हार (मानो पीडा से) अनवरत छाती पीट रहा है ॥१६॥

स्तनभरविनमन्मध्यभङ्गानपेक्षं क्रत्यन्त्याः अस्याः स्रस्तः आकुलः केशपाशः पीडयेव विरचितां स्रग्दामशोभां त्यजति, इमौ पादलग्नौ नूपुरौ (पीडयेव) द्विगुणतरं क्रन्दतः, कम्पानुबन्धाद् व्यस्तः अयं हारः (पीडयेव) अनवरतम् उरः हन्ति । इत्यन्वयः । क्षीबाया मधुपानेन मत्ताया अतः स्तनयोर्भरेण भारेण विनमन् नम्रीभवन् यो मध्यः कटिभागस्तस्य भङ्गस्तत्रानपेक्षाऽनवधानं यस्मिन् कर्मणि तत्तथा क्रीडन्त्या अस्याः पुरो दृश्यमानायाः स्रस्तो बन्धनाद् विगलित आकुलो व्यस्तः केशपाशः केशकलापः पीडयेव व्यथयेव विरचितां कृतां स्रग्दाम्नो माल्यगुणस्य शोभां त्यजति । इमौ पादयोर्लग्नौ ससक्तौ नूपुरौ मञ्जीरौ पीडयेव द्विगुणतरं द्वौ गुणावावृत्ती यस्य तद् द्विगुणमतिशयेन द्विगुणं द्विगुणतरं यथा स्यात्तथा क्रन्दतो रुदन्तौ स्तः । कम्पानुबन्धात् कम्पस्यानुबन्धः सन्ततत्वं तस्माद् व्यस्त इतस्ततः क्षिप्तोऽयं हारः पीडयेवानवरतं सततमुरो वक्षो हन्ति ताडयति ॥१६॥

विदूषकः – भो वअस्स, अहं पि एदाणं मज्झे गदुअ णच्चन्तो गाअन्तो मअणमहूस्सवं माणइस्सं। [भो वयस्य, अहमप्येनामां मध्ये गत्वा नृत्यन् गायन् मदनमहोत्सवं मानयिष्यामि।]

राजा—(सस्मितम्) वयस्य एवं क्रियताम्।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि। (उत्थाय चेट्योर्मध्येनृत्यन्) भोदि मअणि भोदि चूवलदिए मं पि एदं चच्चरिं सिक्खावेध। [यद्भवानाज्ञापयति। भवति मदनिके भवति चूतलतिके। मामप्येतच्चर्चरिकं शिक्षयतम्।]

उभे—हदास ण क्खु एसा चच्चरी। [हताश, न खलु एषा चर्चरी।]

विदूषकः—ता किं णु एद। [तत्कि खल्वेतत्।]

मदनिका—दुवदीखण्डं णु एदं। [द्विपदीखण्ड खल्वेतत्।]

विदूषकः—(सहर्षम्) किं एदिणा खण्डेण मोअआ करिअन्ति। [किमेतेन खण्डेन मादकाः क्रियन्ते।]

मदनिका—(विहस्य) णहि णहि। पढीअदि ता क्खु एदं। [नहि नहि पठ्यते खल्वेतत्।]

विदूषकः—(सविषादम्) जइ पढीअदि ता अलं मम एदिणा। वअस्सस्स सहासं जेव्व गमिस्सम्। (गन्तुमिच्छति।) [यदि पठयते तदलं ममैतेन वयस्यस्य सकाशमेव गमिष्यामि।]

उभे—(हस्ते गृहीत्वा) एहि कीलम्ह। वसन्तअ कहिं गच्छसि। (इ बहुविधं वसन्तकमाकर्षतः)। [एहि क्रीडामः। वसन्तक, कुत्र गच्छसि।]

विदूषकः—(हस्तमाकृष्य प्रपलाय्य राजानमुपसृत्य।) वअस्स णच्चिदोम्हि णहि णहि। कीलिअ पलाइदोम्हि। [वयस्य नर्तितोऽस्मि। नहि नहि, क्रीडि पलायितोऽस्मि।]

राजा—साधु कृतम्।

चूत०—हञ्जे मअणिए चिरं क्खु अम्हेहिं कीलिदम्। [हञ्जे मदनिके चि खल्वाभ्यां क्रीडितम्।] ता एहि णिवेदेम्ह दाव भट्टिणीए संदेसं महाराअस्र [तदेहि निवेदयावस्तावत् भर्त्रा सदेश महाराजस्य।]

मदनिका—सहि, एवं करेम्ह। [सखि, एवं कुर्वः।]

विदूषक—ए मित्र, मैं भी इन दोनों के बीच में जाकर नाचता-गाता मदन-महोत्व मनाऊंगा।

राजा—(मुस्कराते हुए) मित्र, ऐसा (ही) करो।

विदूषक—(उठकर, चेटियों के बीच मे नाचते हुए) श्रीमती मदनिका जी, श्रीमती चूतलतिका जी, मुझे भी यह चर्चरी सिखा दो।

दोनों—(जोर से हँसकर) मूर्ख, यह चर्चरी नहीं है।

विदूषक—तो, यह क्या है ?

मदनिका—यह तो द्विपदी-खण्ड है।

विदूषक—(हर्ष से) क्या इस खण्ड (=खांड) से लड्डू बनाये जाते हैं ?

दोनों चेटियां—(जोर से हँसकर) नहीं, नहीं ! यह तो पढ़ी जाती है।

विदूषक—(विषाद से) यदि पढ़ी जाती है तो मेरे लिए इससे बस करो। मैं तो प्रिय मित्र के समीप ही जाता हूँ। (जाना चाहता है)

दोनों—(हाथ पकड़कर) आओ, खेलें। वसन्तक, कहाँ जाते हो ? (वसन्तक को इधर-उधर खींचती हैं)

विदूषक—(हाथ खींचकर, दौड़कर राजा के पास जाकर) प्रिय मित्र, मैं नाच लिया। ना, ना, खेलकर भाग आया।

राजा—अच्छा किया।

चूतलतिका—सखी मदनिका, हम दोनों बहुत देर खेल ली। तो आओ, अब महाराज को स्वामिनी का सन्देश निवेदन कर दें।

मदनिका—सखी ऐसा (ही) करें।

चेट्यौ—(परिक्रम्योपसृत्य च) जेदु जेदु भट्टा । भट्टा, देवी आणवेदि- (इत्यर्धोक्ते लज्जां नाटयन्त्यौ) णहि णहि । विण्णवेदि । [जयतु जयतु भर्ता । भर्तः देव्याज्ञापयति । नहि नहि । विज्ञापयति ।]

राजा—(विहस्य सादरम्) मदनिके, नन्वाज्ञापयतीत्येव रमणीयम् । विशेषतोऽद्य मदनमहोत्सवे । तत्कथय, किमाज्ञापयति देवी ।

विदूषकः—आः दासीए धीए, किं देवी आणवेदी । [आः दास्याः पुत्रि, किं देव्याज्ञापयति ।

चेट्यौ—एव्वं देवी विण्णवेदि—अज्ज क्खु मए मअरन्दुज्जाणं गदुअ रत्तासोअपाअवतलसंट्ठाविदस्स भअवदो कुसुमाउहस्स पूआ णिव्वत्तइदव्वा । तहिं अज्जउत्तेण संणिहिदेण होदव्वत्ति । [एवं देवी विज्ञापयति—अद्य खलु मया मकरन्दोद्यानं गत्वा रक्ताशोकपादपतलसंस्थापितस्य भगवतः कुसुमायुधस्य पूजा निर्वर्तयितव्या । तत्र आर्यपुत्रेण संनिहितेन भवितव्यमिति ।]

राजा—(सानन्दम्) वयस्य ननु वक्तव्यमुत्सवादुत्सवान्तरमापतितमिति ।

विदूषकः—भो वअस्स ता उट्ठेहि । तहिं जेव्व गच्छम्ह जेण तहिं गदस्स मम वि बम्हणस्स सोत्थिवाअणं किंवि भविस्सदि । [भो वयस्य, तस्मादुत्तिष्ठ तत्रैव गच्छावः । येन तत्र गतस्य ममापि ब्राह्मणस्य स्वस्तिवाचनं किमपि भविष्यतीति ।

राजा—मदनिके, गम्यतां देव्यै निवेदयितुमयमहमागत एव मकरन्दोद्यानमिति ।

चेट्यौ—जं भट्टा आणवेदि । (इति निष्क्रान्ते) । [यद्भर्ताऽऽज्ञापयति ।]

राजा—वयस्य, एहि । अवतरावः । (उभौ प्रासादावतरणं नाटयतः) वयस्य, आदेशय मकरन्दोद्यानस्य मार्गम् ।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि एदु एदु भवं । [यद्भवानाज्ञापयति । एत्वेतु भवान् ।]

(इति परिक्रामतः)

विदूषकः—(अग्रतोऽवलोक्य) भो एदं तं मअरन्दुज्जाणं । ता एहि । पविसम्ह । [भो एतत्तन्मकरन्दोद्यानम् । तदेहि । प्रविशावः ।]

दोनों चेटी—(घूमकर और समीप जाकर) स्वामी की जय हो। स्वामी, महारानी आज्ञा देती हैं······(यह आधा कह कर लज्जा का नाट्य करती हुई) ना, ना, विवेदन करती है।

राजा—(हंसकर,.आदर से) मदनिका, 'आज्ञा देती हैं' बस यही सुन्दर है, विशेषकर आज मदन-महोत्सव में। तब बतलाओ महारानी क्या आज्ञा देती हैं।

विदूषक—ए, दासी की बेटी, क्या देवी आज्ञा दे रही हैं ?

दोनों चेटी—देवी यह निवेदन करती हैं—कि आज मुझे मकरन्द नाम के उद्यान में जाकर रक्ताशोक वृक्ष के नीचे प्रतिष्ठापित भगवान् कामदेव की पूजा करनी है। वहाँ आर्यपुत्र उपस्थित होवें।

राजा—(आनन्द के साथ) प्रिय मित्र, अब तो यह कहना चाहिये कि एक उत्सव के पश्चात् दूसरा उत्सव आ गया।

विदूषक—हे प्रिय मित्र, तब उठो। वहीं चलें, क्योंकि वहाँ जाने पर मुझ ब्राह्मण का भी कुछ स्वस्तिवाचन हो जायेगा।

राजा—मदनिका, जाओ, महारानी से निवेदन करो कि बस मैं यह मकरन्द उद्यान में आ ही गया।

दोनों चेटी—जो स्वामी आज्ञा दें। (यह कहकर चली जाती है)

राजा—प्रिय मित्र, आओ। नीचे चलें। (दोनों महल से उतरने का अभिनय करते हैं) प्रिय मित्र, मकरन्द उद्यान का मार्ग बतलाओ।

विदूषक—जो आप आज्ञा देवें। चलिये, चलिये।

(दोनो घूमते हैं)

विदूषक—(आगे देखकर) अरे, यह वह मकरन्द उद्यान है। तो आओ, अन्दर चलें।

(इति प्रविशतः)

विदूषकः—(अवलोक्य सविस्मयम्) भो वअस्स, पेक्ख पेक्ख । एवं क्खु तं मलअमारुदान्दोलणपहुल्लन्तसहआरमञ्जरीरेणुपडलपडिबद्धपडविदाणं मत्तमहुअरमुक्कझंकारमिलिदमहुरकोइलारावसंगीदसुविसुहं तुहागमणदंसिदाअरं विअ मअरन्दुज्जाणं लक्खीअदि । ता पेक्खदु भवं । [भो वयस्य, प्रेक्षस्व । एतत् खलु तन्मलयमारुतान्दोलनप्रफुल्लत्सहकारमञ्जरीरेणुपटलप्रतिबद्धपटवितानं मत्तमधुकरमुक्तझङ्कारमिलितमधुरकोकिलारावसंगीतश्रुतिसुखं तवागमनदर्शितादरमिव मकरन्दोद्यानं लक्ष्यते । भवान् ।]

राजा—(समन्तादवलोक्य) अहो रम्यता मकरन्दोद्यानस्य । इह हि—

उद्यद्विद्रुमकान्तिभिः किसलयैस्ताम्रां त्विषं बिभ्रतो
भृङ्गालीविरुतैः कलैरविशदव्याहारलीलाभृतः ।
घूर्णन्तो मलयानिलाहतिचलैः शाखासमूहैर्मुहु-
र्भ्रान्तिं प्राप्य मधुप्रसङ्गमधुना मत्ता इवामी द्रुमाः ॥१७॥

अपि च

मूले गण्डूषसेकासव इव बकुलैर्वास्यते पुष्पवृष्ट्या
मध्वाताम्रे तरुण्या मुखशशिनि चिराच्चम्पकान्यद्य भान्ति ।

मलयमारुतान्दोलनेति—मलयस्य मारुतेन यदान्दोलनमितस्ततो विक्षेपस्तस्मात्कारणात् (पतन्तो ये) प्रफुल्लन्तीनामाम्रमञ्जरीणां रेणवः परागास्तेषां पटलेन समूहेन प्रतिबद्धं विरचितं पटवितानमुल्लोचो यस्मिन् तदिति मकरन्दोद्यानविशेषणम् । मत्तमधुकरेति—मत्तैर्मधुकरैर्भ्रमरैर्मुक्त उत्सृष्टो यो झङ्कारो गुञ्जनशब्दस्तेन मिलितो यो मधुरः कोकिलानामारावः शब्दः स एव संगीतं तेन श्रुतिभ्यां सुखयतीति सुखं सुखकरम् । तवागमनदर्शितेति—तवागमने दर्शितं आदरो येन तदिवेत्युत्प्रेक्षा ।

उद्यद्विद्रुमेति—अमी द्रुमाः अधुना मधुप्रसङ्गं प्राप्य उद्यद्विद्रुमकान्तिभिः किसलयैः ताम्रां त्विषं बिभ्रतः कलैः भृङ्गालीविरुतैः अविशदव्याहारलीलाभृतः,

(दोनो प्रवेश करते है)

विदूषक—(देखकर, आश्चर्य से) ए प्रिय मित्र, देखो, देखो। यह मकरन्द उद्यान, जिसमे मलय की वायु द्वारा झकझोर से खिलते हुए आम के बौर के पराग-समूह से शामियाना ताना है और जो मत्त भौरों से की गई झकार से मिली हुई कोयलों की मीठी कूक के सगीत से श्रोत्रो को सुखदायी है, मानो, तुम्हारे आने पर आदर दिखलाता हुआ प्रतीत होता है। इसलिये आप देखें।

राजा—(चारों ओर देखकर) आ! हा! मकरन्द उद्यान की रमणीयता *(आश्चर्यकारी है) क्योंकि यहाँ—*

. अब वसन्त ऋतु के सपर्क (अन्य अर्थ-मद्य के सपर्क) को पाकर उगते हुए मूँगों की कान्ति वाले नूतन पल्लवो से लाल कान्ति को धारण करते हुए, मधुर भ्रमर-माला की गुञ्जार से अस्पष्ट प्रलाप की चेष्टा को धारण करने वाले (और) मलय वायु के आघात से चञ्चल शाखाओं के समूहों से बार-बार झूमते हुए ये वृक्ष, मानो, मत्त-से प्रतीत होते है ॥१७।

और भी—

मौलसरी के वृक्ष जड़ मे मुंह मे भर-भरकर सीचे गये मद्य को पुष्प-वृष्टि से मानो, सुगन्धित कर रहे है, सुन्दरी युवति के मुखरूपी चन्द्रमा के मद्य से आरक्त होने पर चिरकाल बाद आज चम्पा के पुष्प शोभित हो रहे हैं और भ्रमरों के

मलयानिलहतिचलैः शाखासमूहैः मुहुः घूणन्तः मत्ता इव भान्ति। इत्यन्वयः। अमी एते द्रुमा वृक्षा अधुना सम्प्रति मधुप्रसङ्गं मधोर्वसन्तस्य पक्षे मधुनो मद्यस्य प्रसङ्ग सपर्कं प्राप्योद्यता प्ररोहतां विद्रुमाणा प्रवालाना कान्तय इव कान्तयो येषां तैः किसलयैर्नूतनपल्लवैर्हेतुभिस्ताम्रामोपरक्ता त्विव कान्ति बिभ्रतो धारयन्तः कलं व्यक्तमधुरैर्भृङ्गालीनां भ्रमरपङ्क्तीनां विरुतैर्गुञ्जनैरविशदोऽविस्पष्टो यो व्याहारो भाषितं तस्य लीला चेष्टा बिभ्रतीति लीलाभृतो मलयानिलस्य पवनस्याहतिभिस्ताडनैश्चलैश्चञ्चलैः शाखाना समूहैर्मुहुः पुनःपुनर्घूर्णन्तो भ्रमन्तो मत्ता इव भान्ति ॥१७॥

मूले गण्डूषसेकेति—बकुलैः मूले गण्डूषसेकासवः पुष्पवृष्ट्या वास्यते इव। तरुण्याः मुखशशिनि मध्वाताम्रे (सति) अद्य चम्पकानि चिराद् भान्ति

आकर्ण्याशोकपादाहतिषु च रसितां निर्भरं नूपुराणां
झङ्कारस्यानुगीतैरनुकरणमिवारभ्यते भृङ्गसार्थैः ॥१८॥

विदूषकः—(श्रुत्वा) भो वअस्स, ण एदे महुअरा णेउरसद्दं अणुहरन्ति। णेउरसद्दो ज्जेव्व एसो देवीए परिअणस्स। [भो वयस्य, नैते मधुकरा नूपुरशब्दमनुहरन्ति। नूपुरशब्द एवैष देव्याः परिजनस्य।]

राजा—वयस्य सम्यगुपलक्षितम्।

(ततः प्रविशति वासवदत्ता, काञ्चनमाला, पूजोपकरणहस्ता सागरिका, विभवतश्च परिवारः।)

वासवदत्ता—हञ्जे कञ्चणमाले, आदेसेहि मे मअरन्दुज्जाणस्स मग्गं।
[हञ्जे काञ्चनमाले, आदेशय मे मकरन्दोद्यानस्य मार्गम्।]

काञ्चनमाला—एदु एदु भट्टिणी। [एत्वेतु भर्त्री।]

वास०—(परिक्रम्य) हञ्जे कञ्चणमाले, अध केत्तिअ दूरे सो रत्तासोअपाअवो जहिं मए भअवदो कुसुमाउहस्स पूआ णिव्वत्तइदव्वा। [हञ्जे काञ्चनमाले, अथ कियद्दूरे स रक्ताशोकपादपो यत्र मया भगवतः कुसुमायुधस्य पूजा निर्वर्तयितव्या।]

काञ्च०—भट्टिणि, आसण्णो ज्जेव्व। किं ण पेक्खदि भट्टिणी। इमं क्खु सा णिरन्तरुब्भिण्णकुसुमसोहिणी भट्टिणीए परिग्गहिदा माहवी लदा। एसा वि अवरा णोमालिआ लदा जाए अआलकुसुमसमुग्गमसद्धालुण भट्टिणा अणुदिणं आआसीअदि अप्पा। ता एदं अदिक्कमिअ दीसदि ज्जेव सो रत्तासोअपाअवो जहिं देवी पूअं णिव्वत्तइस्सदि। [भर्त्रि, आसन्न एव। किं न प्रेक्षते भर्त्री। इयं खलु सा निरन्तरोद्भिन्नकुसुमशोभिनी भर्त्र्या परिगृहीता माधवीलता। एषाप्यपरा नवमालिका लता यस्या अकालकुसुमसमुद्गमश्रद्धालुना भर्त्रानुदिनमायास्यत

भृङ्गसार्थैः अशोकपादाहतिषु भृशं रणतां नूपुराणां झङ्कारस्य आकर्ण्य अनुगीतैः अनुरणनमिव आरभ्यते। इत्यन्वयः। वकुलैः केसरवृक्षैर्मूले पादे गण्डूषसेकस्यासवो मद्यं पुष्पाणां वृष्ट्या वास्यते सुरभीक्रियते इव। तरुण्या युवत्या मुखमेव शशी तस्मिन् मधुना मद्येनाताम्रे ईषद्रक्ते सत्यद्य चम्पकानि चम्पकपुष्पाणि

समूह (युवतियों के) अशोक वृक्षो को पैर से ताडन करने मे जोर से बजते हुये नूपुरों की झकार को सुनकर किये गये अपने गुंजारों से, मानों (युवतियो के नूपुरों की झकार को) गुनगुना रहे हैं ॥१८॥

विदूषक—(सुनकर) हे मित्र, यह भौरे नूपुर की ध्वनि का अनुकरण नही कर रहे, (अपितु) यह महारानी की दासियो के नूपुरो की ध्वनि ही है।

राजा—मित्र, (तुमने) ठीक पहचाना।

(तब वासवदत्ता, काञ्चनमाला हाथ मे पूजा की सामग्री लिये सागरिका और श्रेणी के अनुसार सेवक-समूह प्रवेश करता है।)

वासवदत्ता—सखी काञ्चनमाला, मुझे मकरन्द उद्यान का मार्ग बतलाओ।

काञ्चनमाला—स्वामिनी चलें चलें।

वासवदत्ता—(घूमकर) सखी काञ्चनमाला, अब वह रक्ताशोक वृक्ष कितनी दूर है, जहाँ मुझे भगवान् कामदेव की पूजा करनी है।

काञ्चनमाला—स्वामिनी, आ ही गया। क्या स्वामिनी देख नही रहीं? निश्चय ही, यह वह घने खिले पुष्पों से शोभा देने वाली, स्वामिनी द्वारा अपनाई गई माधवी लता है। और यह दूसरी नवमालिका लता है, जिसके बिना ऋतु पुष्पोद्गम मे विश्वास करने वाले स्वामी प्रतिदिन स्वयं को कष्ट दे रहे

चिरात् सुदीर्घकालस्य पश्चाद् भान्ति प्रकटीभवन्ति। भृङ्गाणां भ्रमराणां सार्थैः समूहैरशोकवृक्षाणां पादाभ्यामाहतिषु ताडनेषु भृशमुत्कट रणतां ध्वनिं कुर्वतां नूपुराणां मञ्जीराणां झङ्कारस्याकर्ण्यानुगीतैर्गानैरनुरणनं पश्चाद् ध्वननमिवारभ्यते ॥१८॥

निरन्तरोद्भिन्नेति—निर्गतमन्तरं यस्मात्तद् तथा स्यात्तथा निरन्तरमुद्भिन्नान्युद्गतानि कुसुमानि तैः शोभत इति। अकालकुसुमेति—अकालेऽनृतौ कुसुमानामुद्गमे प्रसवे श्रद्धालुना विश्वासवता।

आत्मा। तदेनामतिक्रम्य इदयत एव स रक्ताशोकपादपो यत्र देवी पूजां निर्वर्तयिष्यति ।]

वासव०—ता एहि। तहिं ज्जेव्व लहुं गच्छम्ह । [तदेहि तत्रैव लघु गच्छामः ।]

काञ्च०—एदु एदु भट्टिणी । [एत्वेतु भर्त्री ।]

(सर्वाः परिक्रामन्ति)

काञ्च०—भट्टिणि, अअं खु सो रत्तासोअपाअवो जहिं देवी पूआं णिव्वत्तइस्सदि। भर्त्रि, अयं खलु स रक्ताशोकपादपो यत्र देवी पूजां निर्वर्तयिष्यति ।]

वास०— तेन हि मे पूआणिमित्ताइं उवअरणाइं उवणेहि। [तेन हि मे पूजानिमित्तान्युपकरणान्युपानय ।]

साग०—(उपसृत्य) भट्टिणि, एदं सव्वं सज्जम् । [भर्त्रि, एतत्सर्वं सज्जम् ।]

वास०—(निरूप्यात्मगतम्) अहो पमादो परिअणस्स। जस्स ज्जेव्व दंसणपधादो पअत्तेण रक्खीअदि तस्स ज्जेव्व दिट्ठिगोअरे पडिदा भवे। भादु। एवं भणिस्सं। (प्रकाशम्) हञ्जे साअरिए, कीस तुम अज्ज मअणमहूस्सवपराहीणे परिअणे सारिअं उज्झिअ इध आअदा। ता तहिं ज्जेव्व लहुं गच्छ। एदं वि सव्वं पूओवअरणं कञ्चणमालाए हत्थे समप्पेहिं। [अहो प्रमादः परिजनस्य। यस्यैव दर्शनपथात्प्रयत्नेन रक्ष्यते तस्यैव दृष्टिगोचरे पतिता भवेत्। भवतु। एवं तावद्भणिष्यामि। हञ्जे सागरिके, कस्मात्त्वमद्य मदनमहोत्सवपराधीने परिजने सारिकामुज्झित्वेहागता। तत्तत्रैव लघु गच्छ। एतदपि सर्वं पूजोपकरणं काञ्चनमालाया हस्ते समर्पय ।]

साग०—जं भट्टिणी आणवेदि। (इति तथा कृत्वा कतिचित्पदानि गत्वा आत्मगतम्) सारिआ मए उण सुसंगदाए हत्थे समप्पिदा। एदं वि अत्थि मे पेक्खिदुं कोदुहलं किं जहा तादस्स अन्तेउरे भअवं अणंगो अच्चिअदि इह वि तहज्जेव्व किं अण्णहेत्ति। ता अलक्खिदा भविअ पेक्खिस्सं (परिक्रम्यावलोक्य च) ता जाव इह पूआसमओ होदि ताव अहं पि भअवन्तं अणंगं ज्जेव पूअइदुं कुसुमाइं अवचिणिस्सं। (इति कुसुमावचयं नाटयति। [यद्भर्त्र्याज्ञापयति। सारिका मया पुनः सुसङ्गताया हस्ते समर्पिता। एतदप्यस्ति मे प्रेक्षितुं कौतूहलं किं यथा तातस्यान्तःपुरे भगवाननङ्गोऽर्च्यते, अत्रापि तथैव किमन्यथेति।

हैं। तो इसे पार करके वह रक्ताशोक वृक्ष दीख ही पड़ रहा है, जहाँ देवी पूजा करेंगी।

वासवदत्ता—तो आओ। शीघ्र वहीं चलें।

काञ्चनमाला—स्वामिनी चलिये, चलिये।

(सब घूमती हैं)

काञ्चनमाला—स्वामिनी, यही वह रक्ताशोक वृक्ष है, जहाँ महारानी पूजा करेंगी।

वासवदत्ता—तब मुझे पूजा के लिये सामग्री दो।

सागरिका—(समीप जाकर) स्वामिनी, यह सब तैयार है।

वासवदत्ता—(देखकर मन ही मन) ओह! सेवकों की लापरवाही जिसके ही दृष्टि-पथ से प्रयत्न पूर्वक बनाई जा रही है, उसकी ही दृष्टि में पड़ जायेगी। अच्छा, तब ऐसे कहूँगी। (प्रकट में) सखी सागरिका, आज सेवकों से मदन-महोत्सव से बे-सुध होते हुए तू सारिका को छोड़कर यहाँ कैसे आ गई। जल्दी से वहीं पहुँच और इस सब पूजा की सामग्री को काञ्चनमाला के हाथ में सौंप दे।

सागरिका—जो स्वामिनी आज्ञा दें। (वैसा ही करके और कुछ पद जाकर, स्वगत) सारिका तो मैंने सुसङ्गता के हाथ सौंप दी है। फिर, मुझे यह देखने की उत्सुकता है कि पिता के अन्तःपुर में भगवान कामदेव की जैसे पूजा होती है, क्या यहाँ भी वैसे ही होती है, या अन्यथा। इसलिये छिपकर देखूँगी। (घूमकर और देखकर), जब तक यहाँ पूजा का समय होवे, तब तक मैं भी भगवान कामदेव ही की पूजा के लिये पुष्प चुनती हूँ। (पुष्प चुनने का नाट्य करती है)।

तस्मादलक्षिता भूत्वा प्रेक्षिष्ये । तद्यावदिह पूजासमयो भवति तावदहमपि भगवन्तमनङ्गमेव पूजयितुं कुसुमान्यवचेष्यामि ।]

वास०—कञ्चणमाले, पडिट्ठावेहि असोअमूले भअवन्तं पज्जुण्णं ।

[काञ्चनमाले, प्रतिष्ठापयाशोकमूले भगवन्तं प्रद्युम्नम्]

काञ्च०—जं भट्टिणी आणवेदि। (इति तथा करोति) । [यद्भर्त्र्याज्ञापयति]

विदू०—भो वअस्स, जधा वीसन्तो णेउरसद्दो तधा तक्केमि आअदा देवी असोअमूलंत्ति । [भो वयस्य, यथा विश्रान्तो नूपुरशब्दस्तथा तर्कयाम्यागता देव्यशोकमूलमिति ।

राजा—(अवलोक्य) वयस्य, सम्यगवधारितम् । पश्येयं देवी या किलैषा-

कुसुमसुकुमारमूर्तिर्दधती नियमेन तनुतरं मध्यम् ।
आभाति मकरकेतोः पार्श्वस्था चापयष्टिरिव ॥१९॥

तदेहि । उपसर्पावः । (उपसृत्य) प्रिये वासवदत्ते ।

वास०—(विलोक्य) कधं अज्जउत्तो । जअदु जअदु अज्जउत्तो । एदं आसणं। एत्थ उवविसदु अज्जउत्तो । [कथमार्यपुत्रः । जयतु जयत्वार्यपुत्रः । एतदासनं अत्रोपविशत्वार्यपुत्रः ।]

(राजा नाट्येनोपविशति)

काञ्च०—भट्टिणि, सहत्थदिण्णेहि कुङ्कुमचन्दणथासएहिं सोहिदं कदुअ रत्तासोअपाअवं अच्चीअदु भअवं पज्जुण्णो । [भर्त्रि, स्वहस्तदत्तैः कुङ्कुमचन्दन-स्थासकैः शोभितं कृत्वा रक्ताशोकपादपमर्च्यतां भगवान्प्रद्युम्नः ।]

वासव०—उवणेहि मे पूओवअरणाइं । [उपनय मे पूजोपकरणानि ।]

काञ्चनमालोपनयति । वासवदत्ता तथा करोति ।)

राजा—प्रिये

कुसुमसुकुमारेति—कुसुमसुकुमारमूर्तिः नियमेन तनुतरं मध्यं दधती (एषा

वासवदत्ता—काञ्चनमाला, अशोक की मूल में भगवान् कामदेव की प्रतिष्ठापना करो।

काञ्चनमाला—जो स्वामिनी की आज्ञा हो। (वैसा करती है)

विदूषक—हे मित्र, जैसे कि नूपुरों की ध्वनि शान्त हो गई है, उससे समझता हूँ कि महारानी अशोक की मूल पर पहुँच गई है।

राजा—(देखकर) मित्र, ठीक समझा। देखो, यह महारानी है जो यह—

पुष्प के समान कोमल शरीर वाली (और) व्रत-उपवास जो क्षीणतर कटि को धारण करती हुई कामदेव के समीप में स्थित, मानो, धनुर्यष्टि-सी लगती है ॥६॥

तो आओ। पास चलें। (समीप जाकर) प्रिय वासवदत्ता।

वासवदत्ता—(देखकर) कैसे ! आर्यपुत्र !! आर्यपुत्र की जय हो, जय हो। (लीजिये) यह आसन। आर्यपुत्र इस पर बैठें।

(राजा बैठने का नाट्य करता है)

काञ्चनमाला—स्वामिनी, रक्ताशोक वृक्ष को अपने हाथ लगाये गये केसर के लेप से भूषित करके भगवान् प्रद्युम्न की पूजा कीजिये।

वासवदत्ता—पूजा की सामग्री मेरे पास लाओ।

(काञ्चनमाला समीप ले जाती है और वासवदत्ता वैसा करती है)

राजा—प्यारी,

देवी) मकरकेतोः पार्श्वस्था चापयष्टिरिव आभाति। [illegible] सुकुमारा कोमला मूर्तिः कायो यस्याः सा पक्षे [illegible] सा, नियमेन व्रतेन पक्षे नियमेन निश्चयेन [illegible] पक्षे मध्यभागं दधती धारयन्ती देवी वासवदत्ता [illegible] कामदेवस्य पार्श्वस्था, समीपस्था चापयष्टि[illegible]

प्रत्यग्रमज्जनविशेषविविक्तकान्तिः
कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता ।
विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती
बालप्रवालविटपिप्रभवा लतेव ॥२०॥

अपि च

स्पृष्टस्त्वयैष दयिते स्मरपूजाव्यापृतेन हस्तेन ।
उद्भिन्नापरमृदुतरकिसलय इव लक्ष्यतेऽशोकः ॥२१॥

अपि च

अनङ्गोऽयमनङ्गत्वमद्य निन्दिष्यति ध्रुवम् ।
यदनेन न संप्राप्तः पाणिस्पर्शोत्सवस्तव । २३॥

काञ्च०—भट्टिणि, अचिन्दो भअवं पज्जुण्णो । ता करेहि भत्तुणो उइदं पूआसक्कारम् । [भर्त्रि, अर्चितो भगवान् प्रद्युम्नः । तत्कुरु भर्तुरुचित पूजासत्कारम् ।]

वास०—तेण हि उवणेहि मे कुसुमाइं विलेवणं च । [तेन हि उपनय मे कुसुमानि विलेपनं च ।]

स्वहस्तेति—स्वहस्तेन दत्ता या कुङ्कुमस्य चर्चिका चर्चा तया शोभित विभूषितम् ।

प्रत्यग्रमज्जनेति—प्रत्यग्रमज्जनविशेषविविक्तकान्तिः कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता मकरकेतनमर्चयन्ती बालप्रवालविटपिप्रभवा लतेव विभ्राजसे। इत्यन्वयः। प्रत्यग्रेणाचिरवृत्तेन मज्जनेन स्नानेन विशेषेणाऽधिक विविक्तोज्ज्वला कान्तिर्यस्याः सा, पक्षे प्रत्यग्र -यन्मज्जन जलसिञ्चनं तेन विशेषेण विविक्ता स्वच्छा कान्तिर्यस्यास्तादृशी, कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता कौसुम्भेन कुसुम्भपुष्पजन्येन रागेण रञ्जनद्रव्येण रुचिरः सुन्दरः स्फुरन् लसंश्चांशुकस्य पटस्यान्तो यस्याः सा पक्षे कौसुम्भस्येव कौसुम्भपुष्पस्येव यो रागो लौहित्यं तेन रुचिरा स्फुरद्भिरंशुभिः किरणैः कान्ता रमणीया च, मकरकेतनं कामदेवमर्च-

सद्यःस्नान से विशेष निर्मल कान्ति वाली, कुसुम्भी रंग (में रंगने) से सुन्दर चमकते हुए आंचल वाली, तुम कामदेव की पूजा करती हुई ताजे जल-सिंचन से विशेष निर्मल कान्ति वाली, कुसुम्भ के पुष्प की सी लाली से सुन्दर एवं चमचमाती हुई किरणों से रमणीय, नूतन-पल्लवों वाले वृक्ष पर उगी हुई, लता के समान शोभा दे रही हो ॥२०॥

और भी—

प्रिये, तुम्हारे द्वारा कामदेव की पूजा में संलग्न हाथ से स्पर्श किया गया यह अशोक वृक्ष (ऐसा) लगता है कि जिसमें, मानो, दूसरा अतिकोमल नूतन-पल्लव फूट आया है ॥२१॥

और भी—

आज, निश्चित ही, यह कामदेव (अपनी) शरीर हीनता की निन्दा करेगा कि यह तेरे हाथ के स्पर्श के आनन्द को न प्राप्त हुआ ॥२२॥

काञ्चनमाला—स्वामिनी, भगवान् प्रद्युम्न की पूजा कर ली। अब स्वामी का योग्य पूजा-सत्कार कीजिये।

वासवदत्ता—तो पुष्प और अङ्गराग मेरे पास लाओ।

यन्ती पूजयन्ती बालप्रवालविटपिप्रभवा बाला, नूतनाः प्रवालाः पल्लवाः यस्य स विटपी वृक्षः प्रभव उत्पत्तिस्थानं यस्याः सा लतेव विभ्राजसे शोभसे ॥२०॥

स्पृष्टस्त्वयेति—दयिते, त्वया स्मरपूजाव्यापृतेन हस्तेन स्पृष्टः एषः अशोकः उद्भिन्नापरमृदुतरकिसलयः इव लक्ष्यते। इत्यन्वयः। दयिते प्रिये, त्वया देव्या वासवदत्तया स्मरपूजायां कामदेवार्चनायां व्यापृतेन संलग्नेन हस्तेन स्पृष्ट एषोऽशोकस्तान्नामा वृक्ष उद्भिन्न उद्गतोऽन्यो मृदुतरः कोमलतरः किसलयः पल्लवो यस्य स इव लक्ष्यते दृश्यते ॥२१॥

अनङ्ग इति—ध्रुवम् अद्य अयम् अनङ्गः अनङ्गत्वं निन्दिष्यति, यद् अनेन तव पाणिस्पर्शोत्सवः न सम्प्राप्तः। इत्यन्वयः। ध्रुवं निश्चयेनाद्यास्मिन् दिवसेऽयं पुरतोऽर्च्यमानो नास्त्यङ्गं यस्य सोऽनङ्गः कामदेवोऽनङ्गत्वमनङ्गस्य भावोऽनङ्गत्वं देहहीनत्वं तन्निन्दिष्यति, यद् यतोऽनेन तव पाणिना हस्तेन यः स्पर्शः परामर्शः स एवोत्सव आनन्दः स न सम्प्राप्त उपलब्धः ॥२२॥

काञ्च०—भट्टिणि, एदं सव्व सज्ज। [भत्रि, एतत् सर्वं सज्जम्।]

(वासवदत्ता नाट्येन राजानं पूजयति)

साग०—(गृहीतकुसुमा) हद्धी हद्धी। कहं कुसुमलोहोक्खित्त हिअआए अदिचिरं ज्जेव मए किदं। ता इमिणा सिन्दुवारविडवेण ओवारिअसरीरा भविअ पेक्खामि (तथा कृत्वा विलोक्य सविस्मयम्) कधं पच्चक्खो एव्व भअवं कुसुमाउहो इह पूजं पडिच्छदि। अम्हाण तादस्स अन्तेउरे उण चित्तगदो अच्चीअदि। ता अह वि इमेहिं कुसुमेहिं इह ट्ठिदा ज्जेव्व भअवन्तं कुसुमाउहं पूअइस्सं (कुसुमानि प्रक्षिप्य) णमो दे भअवं कुसुमाउह अमोहदंसणो मे भविस्ससि। (इति प्रणमति)। दिट्ठं जं दिट्ठव्वं। ता जाव ण कोवि मं पेक्खवि दाव ज्जेव्व गमिस्सं। (इति कतिचित् पदानि गच्छति)। [हा धिक्, हा धिक्! कथं कुसुमलोभोत्क्षिप्तहृदययातिचिरमेव मया कृतम्। तदनेन सिन्धुवारविटपेनापवारितशरीरा भूत्वा प्रेक्षे। कथं प्रत्यक्ष एव भगवान् कुसुमायुध इह पूजां प्रतीच्छति। अस्माकं तातस्यान्तःपुरे पुनश्चित्रगतोऽर्च्यते। तदहमप्येभिः कुसुमैरिह स्थितैव भगवन्तं कुसुमायुधं पूजयिष्ये। नमस्ते भगवन् कुसुमायुधः अमोघदर्शनो मे भविष्यसि। दृष्टं यद् द्रष्टव्यम्। तद्यावन्न कोऽपि मां प्रेक्षते तावदेव गमिष्यामि।]

काञ्च०—अज्ज वसन्तअ, एहि। संपदं तुमं वि सोत्थिवाअणं पडिच्छ। [आर्य वसन्तक, एहि साम्प्रतं त्वमपि स्वस्तिवाचनं प्रतीच्छ।]

(विदूषकः उपसर्पति)

वास०—(विलेपनकुसुमाभरणदानपूर्वकम्) अज्ज, सोत्थिवाअणं पडिच्छ। (इत्यर्पयति)। [आर्य स्वस्तिवाचनं प्रतीच्छ]

विदू०—(सहर्षं गृहीत्वा सोत्थि भोदीए। [स्वस्तिवाचन भवत्यै।]

(नेपथ्ये वैतालिकः पठति)

अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा-
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायंतने संपतन्।

कुसुमलाभेति—कुसुमानां लोभेनोत्क्षिप्तमाकृष्टं हृदयं यस्यास्तया।
अस्तापास्तेति—अस्तापास्तसमस्तभासि रवौ नभसः पारं प्रयाते सायन्तने समये

काञ्चनमाला—स्वामिनी, यह सब तैयार है।

(वासवदत्ता राजा की पूजा का नाट्य करती है)

सागरिका—(पुष्प लिये हुए) हाय धिक्कार ! हाय धिक्कार !! पुष्पों के लोभ मे आकृष्ट हृदय होकर क्यों मैंने बहुत देर कर दी ? तो अब इस सिन्धुवार के झुरमुट मे शरीर छिपाकर देखती हूँ। (वैसा करके और देखकर, आश्चर्य से) यह क्या है ? यहाँ भगवान् कामदेव प्रत्यक्ष होकर पूजा ग्रहण करता है। हमारे पिता के अन्तःपुर में तो चित्र मे बना हुआ पूजा जाता है। तो मैं भी यहाँ खड़ी रह कर ही इन पुष्पों से भगवान् कामदेव की पूजा करूँगी। (पुष्प फेंक कर) भगवान् कामदेव· तुम्हें प्रणाम। अब तुम मेरे लिए सफल दर्शन वाले होगे। (इस प्रकार प्रणाम करती है)। जो देखना था (वह) देख लिया। इसलिये जब तक कोई मुझे नहीं देखता, तब तक चली जाती हूँ। (यह कहकर कुछ पद जाती है)।

काञ्चनमाला—आर्य वसन्तक, आओ। अब तुम भी स्वस्ति-वाचन ग्रहण करो।

(विदूषक समीप जाता है)

वासवदत्ता—(अङ्गराग, पुष्प और आभूषण देते हुए) आर्य, स्वस्ति-वाचन लीजिये। (देती है)।

विदूषक—(हर्ष से लेकर) आपका कल्याण (हो)।

(नेपथ्य मे वैतालिक पाठ करता है)

समस्त कान्ति को अस्ताचल पर डाल चुके हुए सूर्य के आकाश के पार पहुँच जाने पर अब सायंकाल के समय एक साथ राजसभा की ओर मिलकर

समम् आस्थानी संपतन् एषः नृपजनः सम्प्रति दृशां प्रीत्युत्कर्षकृतः उदयनस्य इन्दोः सरोरुहद्युतिमुषः पादान् इव (दृशां प्रीत्युत्कर्षकृतः उदयनस्य) तव (सरोरुहद्युतिमुषः पादान्) आसेवितुमुद्वीक्षते। इत्यन्वयः। अस्तेऽस्ताचलेऽपास्ता निक्षिप्ताः समस्ता भासः किरणा येन तस्मिन् रवौ नभसः पारमन्त प्रयाते गते सायंतने सान्ध्ये समये सम युगपद् आस्थानी राजसभा संपतन् गच्छन् एष नृपजनो राजसमूहः सम्प्रति दृशां नेत्राणां प्रीत्या आनन्दस्योत्कर्षमाधिक्यं करोतीति

सप्रश्रयेप सरोरुहद्युतिमुषः पादांस्तवासेवितुं
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते ॥२३॥

साग०—(श्रुत्वा सहर्षं परिवृत्य राजानं सस्पृहं पश्यन्ती) कधं अअं सो राआ उदअणो जस्स अहं तादेण दिण्णा। (दीर्घं निःश्वस्य) ता परप्पेसणदूसिदं वि मे जीविदं एदस्स दंसणेण दाणीं बहुमदं संवुत्तं। [कथमयं स राजा उदयनो यस्याहं तातेन दत्ता। तत्परप्रेषणदूषितमपि मे जीवितमेतस्य दर्शनेनेदानीं बहुमतं सवृत्तम्]।

राजा—कथमुत्सवापहृतचेतोभिरस्माभिः सन्ध्यातिक्रमोऽपि नोपलक्षितः। सम्प्रति परिणतमहः देवि, पश्य—

उदयतटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ् निशानाथम्।
परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी ॥२४॥

देवि, तदुत्तिष्ठ। आवासाभ्यन्तरमेव प्रविशावः।

(सर्वं उत्थाय परिक्रामन्ति)

सागरिका—कधं पत्थिदा देवी। भोदु। ता अहं वि तुरिदं गमिस्सं। (राजानं सस्पृहं दृष्ट्वा निःश्वस्य) हद्धी हद्धी। मन्दभाइणीए मए पेक्खिदुं वि चिरं ण पारिदो अअं जणो। (इति राजानं पश्यन्ती निष्क्रान्ता)। [कथं प्रस्थिता देवी। भवतु। तदहमपि त्वरितं गमिष्यामि। हा धिक्, हा धिक्। मन्दभागिन्या मया प्रेक्षितुमपि चिरं न पारितोऽयं जनः।]

तस्योदयनस्योदूर्ध्वमयनं गमनं यस्य तस्येन्दोश्चन्द्रमसः सरोरुहद्युतिमुषः सरसि रोहन्तीति सरोरुहाणि कमलानि तेषां द्युतिं कान्तिं मुष्णन्ति चोरयन्तीति सरोरुहद्युतिमुषस्तान् पादान् किरणानिव सम्यक्पालनेन प्रजानां दृशा प्रीत्युत्कर्षकृत उदयनस्य नाम राज्ञस्तव सरोरुहद्युतिमुषः कमलतुल्यकान्तीन् पादान्

जाता हुआ यह राज-समूह चन्द्रमा के समान नेत्रों को आनन्द का अतिशय उत्पन्न करने वाले तुझ उदयन के, कमलों की कान्ति को चुराने वाले, चरणों की सेवा करने के लिए ऊपर (मुख करके) प्रतीक्षा कर रहा है ॥२३॥

सागरिका—(सुनकर, हर्ष से मुड़कर राजा को चाह से देखती हुई) अरे ! यह राजा उदयन है जिसके पिता ने मुझे दिया था। (लम्बा सांस लेकर) तब दूसरे की चाकरी से दूषित भी मेरा जीवन इसके दर्शन से अब आदरणीय हो गया।

राजा—अरे ! यह क्या ! उत्सव से लुभाये चित्त वाले हमने सन्ध्या का बीत जाना भी न देखा। अब दिन समाप्त हो गया है। देवी देखो,

यह पूर्व दिशा उदयगिरि के तट से व्यवहित चन्द्रमा को, जैसे (विरहिणी) रमणी पीले मुख से हृदय में स्थित प्रिय को, सूचित कर रही है ॥२४॥

देवी, तब उठो। घर के अन्दर ही चलें।

(सब उठकर घूमते हैं)

सागरिका—ऐं, महारानी चल पड़ीं। अच्छा, तब मैं भी जल्दी से जाती हूँ। (राजा को चाह से देखकर और गहरा सांस लेकर) हाय ! धिक्कार ! हाय !! धिक्कार !! मैं मन्दभाग्य इस जन को देर तक देख न सकी। (इस प्रकार राजा को देखती हुई निकल जाती है)।

चरणानासेवितुमुद्वीक्षत उन्मुखः सन् प्रतीक्षते ॥२३॥

उदयतटान्तरितमिति—रमणी परिपाण्डुना मुखेन हृदयस्थितं प्रिय मिव इय प्राची दिग् उदयतटान्तरितं निशानाथं सूचयति। इत्यन्वयः। रमणी परिपाण्डुना पीतेन मुखेन हृदये स्थित प्रियमिवेय प्राची पूर्वा दिगुदयस्योदयाचलस्य तटेनान्तरितं तिरोहितं निशाया नाथं चन्द्रं सूचयति ॥२४॥

राजा—(परिक्रामन्)

देवि त्वन्मुखपङ्कजेन शशिनः शोभातिरस्कारिणा
पश्याब्जानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छायताम् ।
श्रुत्वा ते परिवारवारवनितागीतानि भृङ्गाङ्गना
लीयन्ते मुकुलान्तरेषु शनकैः सञ्जातलज्जा इव ॥२४॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति मदनमहोत्सवो नाम प्रथमोऽङ्कः ॥

—: ० :—

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति सारिकापञ्जरव्यग्रहस्ता सुसङ्गता)

सुसङ्गता—हद्धी हद्धी । कहिं दाणिं मम हत्थे सारिआपञ्जरं णिक्खिविअ गदा मे पिअसही साअरिआ । ता कहिं पुण एणं पेक्खिस्सं । (अग्रतो निरूप्य) कहं एसा क्खु णिउणिआ इदो ज्जेव्व आअच्छदि । ता जाव एणं पुच्छिस्सं । [हा धिक् ! हा धिक् ! कुत्रेदानीं मम हस्ते सारिकापञ्जरं निक्षिप्य गता मे प्रियसखी सागरिका । तत्कुत्र पुनरेनां प्रेक्षिष्ये । कथमेषा खलु निपुणिका इत एवागच्छति । तद्यावदेनां प्रक्ष्यामि ।]

(ततः प्रविशति निपुणिका)

निपुणिका—(सविस्मयम्) अच्चरिअं अच्चरिअं । अणण्णसरिसो पभावो मण्णे देवदाए । उवलद्धो क्खु मए भट्टुणो वुत्तन्तो । ता गदुअ भट्टिणीए णिवेदइस्सं । (इति परिक्रामति) [आश्चर्यम् आश्चर्यम् । अनन्यसदृशः प्रभावो मन्ये देवतायाः । उपलब्धः खलु मया भर्तुर्वृत्तान्तः । तद्गत्वा भर्त्र्यै निवेदयिष्यामि ।]

देवि त्वन्मुखेति—देवि, पश्य, शशिनः शोभातिरस्कारिणा त्वन्मुखपङ्कजेन विनिर्जितानि अब्जानि सहसा विच्छायतां गच्छन्ति, भृङ्गाङ्गनाः त्वत्परिवार-वारवनितागीतानि श्रुत्वा संजातलज्जा इव शनकैः मुकुलान्तरेषु लीयन्ते ।

राजा—(घूमता हुआ) देवी, देखो, चन्द्रमा की कान्ति को तिरस्कृत करने वाले तुम्हारे मुख रूपी कमल से जीते गये जलज अचानक कान्ति-हीन हो रहे है। तुम्हारी सेविका गणिकाओं के गीतों को सुनकर भ्रमराङ्गनायें, जिन्हे मानो, लज्जा उत्पन्न हो रही है, धीरे से कुड्मलो के मध्य मे छिप रही है।।२।।

(सब निकल जाते हैं)

* मदनमहोत्सव नाम का प्रथम अंक समाप्त *

—: ० :—

द्वितीय अङ्क

(सारिका का पिंजड़ा हाथ में लिये सुसङ्गता आती है)

सुसङ्गता—हाय ! हाय !! मेरे हाथ मे सारिका का पिंजडा सौंपकर अब मेरी प्यारी सखी सागरिका कहाँ चली गई ? अब फिर उसे कहाँ देखूं ? (आगे देखकर) हूँ, यह निपुणिका इधर ही आ रही है तब उससे ही पूछूँगी।

(निपुणिका प्रवेश करती है)

निपुणिका—(विस्मय से) आश्चर्य ! आश्चर्य !! मैं देवता का अद्भुत प्रभाव स्वीकार करती हूँ। मैंने स्वामी का वृत्तान्त पा लिया। अब जाकर स्वामिनी से कहे देती हूँ। (घूमती है)

इत्यन्वयः। देवि वासवदत्ते पश्य। शशिनः शोभां कान्तिं तिरस्करोतीति तेन तव मुखमेव पङ्कजं कमलं तेन विनिर्जितान्यभिभूतान्यब्जान्यप्सु जातानि कमलानि सहसाऽकस्माद् विगता छाया कान्तिर्येषां तेषां भावो विच्छायता तां कान्तिहीनतां गच्छन्ति। भृङ्गानामङ्गना भ्रमर्यस्तव परिवारेषु परिजनेषु या वारवनिता गणिकास्तासां गीतानि श्रुत्वा सजातलज्जाः संजाता लज्जा यासां ता इव लज्जिता इव शनकैः शनैर्मुकुलानां कुड्मलानामन्तरेषु मध्यभागेषु लीयन्ते गूढास्तिष्ठन्ति ॥२५॥

* इति मदनमहोत्सवो नाम प्रथमोऽङ्कः *

सुसगता—(उपसृत्य) हला णिउणिए, कहिं दाणिं विम्हओक्खित्तहिअआ विअ इह ट्ठिद म अवहीरिअ इदो अदिक्कामसि। [हला निपुणिके, कुत्रेदानीं विस्मयोत्क्षिप्तहृदयेवेह स्थितां मामवधीर्यैतोऽतिक्रामसि।]

निपुणिका—कधं सुसगता। हला सुसगदे, सुट्ठु तुए जाणिदं। एदं क्खु मम विम्हअस्स कारणं। अज्ज किल भट्टा सिरिपव्वदादो आअदस्स सिरिखण्ड-दासणामधेअस्स धम्मिअस्स सआसादो अआलकुसुमसज्जणदोहलं सिक्खिअ अत्तणो परिग्गहिदं णोमालिअं कुसुमसमिद्धिसोहिदं करिस्सदित्ति। तहिं एदं वुत्तन्तं जाणिदुं देवीए पेसिदम्हि। तुम उण कहिं पत्थिदा। [कथं सुसङ्गता। हला सुसङ्गते, सुष्ठु त्वया ज्ञातम्। एतत्खलु मम विस्मयस्य कारणम्। अद्य किल भर्ता श्रीपर्वतादागतस्य श्रीखण्डदासनामधेयस्य धार्मिकस्य सकाशादकालकुसुम-सञ्जननदोहदं शिक्षित्वाऽऽत्मनः परिगृहीतां नवमालिकां कुसुमसमृद्धिशोभितां करिष्यतीति। तत्रैतद्वृत्तान्तं ज्ञातुं देव्या प्रेषितास्मि। त्वं पुनः कुत्र प्रस्थिता?]

सुसंगता—पिअसहिं साअरिअं अण्णेसिदुम्। [प्रियसखीं सागरिकामन्वेष्टुम्।]

निपुणिका—सहि, दिट्ठा मए दे पिअसही साअरिआ गहिदसमुग्गअचित्तफलअवट्टिआ समुव्विग्गा विअ कअलीघरं पविसन्ती। ता गच्छ पिअसहिं। अहं वि देवीसआसं गमिस्सं। [सखि, दृष्टा मया ते प्रियसखी सागरिका गृहीतसमुद्गक-चित्रफलकवर्तिका समुद्विग्नेव कदलीगृहं प्रविशन्ती। तद्गच्छ प्रियसखीम्। अहमपि देवीसकाशं गमिष्यामि।]

(इति निष्क्रान्ते)

। इति प्रवेशकः ।

(ततः प्रविशति गृहीतचित्रफलकवर्तिका मदनावस्था नाटयन्ती सागरिका)

सागरिका—(निःश्वस्य) हिअअ, पसीद पसीद। किं इमिणा आआसमेत्तफलएण दुल्लहजणप्पत्थणाणुबन्धेण। अण्णं च, जेण एव्व दिट्ठेण ने ईदिसो सदावो णं वड्ढदि पुणो वि त जेव्व पेक्खिदुं अहिलससित्ति अहो दे मूढदा। कधं अ अदिणिसस जम्मदो पहुदि सह सव्वड्ढिद इमं जणं परिच्चइअ क्खणमेत्त-दंसणपरिचिदं जणं अणुगच्छन्तो ण लज्जेसि। अहवा को तुह दोसो। अणङ्गसरप-

सुसंगता—(समीप जाकर) सखी निपुणिका, तू अब कहाँ आश्चर्य से हर लिये गये हृदय वाली-सी मुझ यहाँ खड़ी हुई की उपेक्षा करके इधर से निकली जा रही है।

निपुणिका—कैसे ! सुसंगता ! सखी सुसंगता, तुमने ठीक जान लिया। मेरे आश्चर्य का कारण यह है—सुना है कि आज स्वामी श्रीपर्वत से आये हुए, श्रीखण्डदास नाम के महात्मा से बिना ऋतु के पुष्प उत्पन्न करने वाले योग को सीखकर अपनी अपनाई हुई नवमालिका को पुष्पों की बाहर से शोभित करेगा। यह वृत्तान्त जानने के लिये महारानी ने मुझे यहाँ भेजा था। लेकिन तू कहाँ चली ?

सुसंगता—प्रिय सखी सागरिका को खोजने।

निपुणिका सखी, मैंने तेरी प्रिय सखी सागरिका रंगों का डिब्बा, चित्रपट और कूँची लिये परेशान-सी कदली-गृह मे घुसती देखी थी। तब तू प्रिय सखी के पास जा। मैं भी महारानी के पास जाती हूँ।

(दोनो निकल जाती हैं)

प्रवेशक समाप्त

(तत्पश्चात् चित्रपट और वर्ण लिये, कामावस्था का नाट्य करती हुई सागरिका प्रवेश करती है)

सागरिका—(गहरा सास लेकर) हृदय, प्रसन्न हो। प्रसन्न हो। इस दुर्लभ जन की अभिलाषा के हठ से, जिसका केवलमात्र फल दुःख है, क्या लाभ ? और फिर, जिसके देखने मात्र से तुझे इतना सन्ताप बढ रहा है, फिर भी तू उसे ही देखने की अभिलाषा कर रहा है। आश्चर्य है तेरी मूढता ! और अति-क्रूर, जन्म से लेकर साथ बड़े हुए इस जन को छोड़ कर क्षण भर के दर्शन से परिचित जन का अनुगमन करते तू लज्जित क्यो नही होता ? अथवा तेरा क्या दोष ? कामदेव के बाण के पडने से आशङ्कित हुए तूने आज ऐसा किया है। (आसू लाकर) अच्छा, तब कामदेव को ही उपालम्भ दूंगी। (हाथ जोड़कर)

इणभीरेण तुए एव्वं अज्ज ववसिदं। (सास्रम्)। होदु। अणङ्गं दाव उवालहिस्सं। (अञ्जलिं बद्ध्वा) भअवं कुसुमाउह, णिज्जिअसअलसुरासुरो भविअ इत्थिआजण पहरन्तो कधं ण लज्जेसि। (विचिन्त्य)। अहवा अणङ्गो सि। (निःश्वस्य) सव्वधा मम मन्दभाइणीए इमिणा दुण्णिमित्तेण अवस्सं मरण एव्व उवट्ठिद। (फलकमवलोक्य)। ता जाव इह कोवि ण आअच्छदि दाव आलेक्खसमप्पिद त अहिमदं जणं पेक्खिअ जधासमीहिदं करिस्सं '(सावष्टम्भमेकमना भूत्वा नाट्येन फलक गृहीत्वा निःश्वस्य)। जइ वि मे अदिसद्धसेण वेवदि अअं अदिमेत्त अग्गहत्थो तधावि तस्स जणस्स अण्णो दसणोवाओ णत्थित्ति जधा तधा आलिहिअ ण पक्खिस्स। (इति नाट्येन लिखति)।

[हृदय, प्रसीद प्रसीद। किममुनायासमात्रफलकेन दुर्लभजनप्रार्थनानुबन्धेन। अन्यच्च, येनैव दृष्टेन तं ईदृशः सन्तापो ननु वर्धते पुनरपि तमेव प्रेक्षितुमभिलषसीत्यहो ते मूढता। कथं चातिनृशंसजन्मतः प्रभृति सहसंवर्धितमिमं जन परित्यज्य क्षणमात्रदर्शनपरिचितं जनमनुगच्छन्न लज्जसे। अथवा कस्तव दोषः। अनङ्गशरपतनभीतेन त्वयैवमद्य व्यवसितम्। भवतु। अनङ्गं तावदुपालप्स्ये। भगवन् कुसुमायुध, निर्जितसकलसुरासुरो भूत्वा स्त्रीजनं प्रहरन् कथ न लज्जसे। अथवानङ्गोऽसि। सर्वथा मम मन्दभागिन्या अनेन दुर्निमित्तेनावश्य मरणमेवोपस्थितम्। तद्यावदिह कोऽपि नागच्छति तावदालेख्यसमर्पितं तमभिमतं जनं प्रेक्ष्य यथासमीहितं करिष्यामि। यद्यपि मेऽतिसाध्वसेन वेपतेऽयमतिमात्रमग्रहस्तस्तथापि तस्य जनस्यान्यो दर्शनोपायो नास्तीति यथातथाऽऽलिख्यैनं प्रेक्षिष्ये।]

(ततः प्रविशति सुसङ्गता)

सुसङ्गता—एद त कअलीघरं। ता पविसामि। (प्रविश्याग्रतोऽवलोक्य च सविस्मयम्) एसा मे पिअसही साअरिआ। किं उण एसा गुरुअणुराओक्खित्तहिअआ किं पि आलिहन्ती ण म पेक्खदि। भोदु। ता जाव इमाए दिट्ठिपधं परिहरिअ णिरूवइस्सं किं एसा आलिहदित्ति। (स्वैरं पृष्ठतोऽस्याः स्थित्वा दृष्ट्वा सहर्षम्) कह भट्टा आलिहिदो। साहु, साअरिए साहु। अहवा ण कमलाअरं उज्झअ राअहंसी अण्णहिं अहिरमदि। [एतत्तत्कदलीगृहम्। तत्प्रविशामि। एषा मे प्रियसखी सागरिका। किं पुनरेषा गुर्वनुरागोत्क्षिप्तहृदया किमप्यालिखन्ती न मां प्रेक्षते। भवतु। तद्यावदस्या दृष्टिपथं परिहृत्य निरूपयिष्यामि

भगवान् कामदेव, सब सुर एवं असुरों को जीतने वाले होकर भी स्त्री जन पर प्रहार करते हुये लजाते क्यों नहीं हो ? (सोचकर) या (ठीक है), तुम शरीर-हीन हो। (गहरा साँस लेकर) इस अपशकुन के कारण निश्चित ही मुझ मन्दभागिनी की मृत्यु आ गई है। (चित्रपट को देखकर) तो जब तक कोई यहाँ नहीं आता, तब तक चित्र में लिखित इस अभीष्ट जन को देखकर इच्छानुसार करूँगी। (संभल कर एकाग्र मन होकर चित्रपट उठाने का नाट्य करके गहरा साँस लेकर) यद्यपि अधिक घबराहट से मेरी अंगुलियाँ बहुत काँप रही हैं, फिर भी इस जन को देखने का कोई अन्य उपाय नहीं है। इसलिये जैसा-तैसा चित्रित करके इसे देखूँगी। (चित्र बनाने का नाट्य करती है)।

(तत्पश्चात् सुसंगता प्रवेश करती है)

सुसंगता—यही वह कदली-गृह है। तो अन्दर जाती हूँ। (प्रवेश करके, आगे देखकर, विस्मय से) यही मेरी प्रिय सखी सागरिका है, लेकिन अधिक अनुराग से आक्रान्त-हृदय सी, कोई चित्र बनाती हुई, यह मुझे क्यों नहीं देख रही ? अच्छा ! तब इसकी नजर बचाकर देखूँगी कि वह क्या चित्र बना रही है ? (उसके पीछे की ओर निश्शङ्क खड़ी होकर और देखकर हर्ष से) क्या स्वामी का चित्र बनाया है ? धन्य हो, सागरिका, धन्य हो। ठीक है, राजहंसी कमल-वन को छोड़ कर अन्यत्र रमण नहीं करती।

किमेषाऽलिखितीति । कथं भर्ताऽलिखितः । साधु, सागरिके, साधु । अथवा न कमलाकरमुज्झित्वा राजहंस्यन्यस्मिन्नभिरमते ।]

साग०—(सबाष्पम्) आलिहिदो मए एसो । किं उण अणवरदणिवडन्तबप्फसलिलेण मे दिट्ठि वेक्खिदुं ण पहवदि । (मुखमुन्नमय्याश्रूणि निवारयन्ती सुसङ्गता दृष्ट्वोत्तरीयेण फलकं प्रच्छादयन्ती सविस्मयस्मितम्) कथं पिअसही सुसंगदा । सहि, इदो उवविस । [आलिखितो मयैषः । किं पुनरनवरतनिपतद्बाष्पसलिलेन मे दृष्टि: प्रेक्षितुं न प्रभवति । कथं प्रियसखी सुसङ्गता । सखि, इहोपविश ।]

सुसं०—(उपविश्य बलात्फलकमाकृष्य) सहि को एसो तुए एत्थ चित्तफलए आलिहिदो । [सखि, क एष त्वयात्र चित्रफलक आलिखितः ।]

साग०—(सलज्जम्) सहि, पउत्तमअणूसवे भअवं अणङ्गो । [सखि, प्रवृत्तमदनमहोत्सवे भगवाननङ्गः ।]

सुसं०—(सस्मितम्) अहो दे णिउणत्तं । किं सुण्णं विअ एदं चित्तं पडिभादि । ता अहंपि आलिहिअ रदिसणाहं करिस्सं । (वर्तिकां गृहीत्वा नाट्येन रतिव्यपदेशेन सागरिकामालिखति) । [अहो ते निपुणत्वम् । किं पुनः शून्यमिवैतच्चित्रं प्रतिभाति । तदहमप्यालिख्य रतिसनाथं करिष्ये ।]

साग०—(विलोक्य सासूयम्) सुसंगदे, कीस तुए एत्थ अहं आलिहिदा ।
[सुसङ्गते, कस्मात्त्वयात्राहमालिखिता ।]

सुसंगता—(विहस्य) सहि, किं अकारणं कुप्पसि । जादिसो तुए कामदेवो आलिहिदो तादिसी मए रदी आलिहिदा । ता अण्णधासम्भाविणि किं तुह एदिणा आलविदेण । कहेहि सव्वं वुत्तन्तं । [सखि, किमकारणं कुप्यसि । यादृशस्त्वया कामदेव आलिखितस्तादृशी मया रतिरालिखिता । तदन्यथासम्भाविनि, किं तवैतेनालपितेन । कथय सर्वं वृत्तान्तम् ।]

साग०—(सलज्जा स्वगतम्) णं जाणिम्हि पिअसहीए । (सुसङ्गताया हस्तं गृहीत्वा प्रकाशम्) पिअसहि, महदी क्खु मे लज्जा । ता तहा करेसु जहा ण कोवि अवरो एदं वुत्तन्तं जाणादि त्ति । [ननु ज्ञातास्मि प्रियसख्या । प्रियसखि, महती खलु मे लज्जा । तदयथा कुरु यथा न कोऽप्यपर एतद्वृत्तान्तं जानाति ।]

सागरिका—(आंसु भर कर) मैंने यह बना तो लिया। लेकिन निरन्तर बहते हुये आंसुओं के कारण मेरी दृष्टि इसे देख नही पाती। (मुख ऊपर उठा कर, आंसुओ को रोकते हुये और सुसगता को देखकर ओढनी से चित्रफलक ढकते हुये लज्जा और मुस्कान के साथ) क्या सखी सुसंगता है ? सखी, इधर बैठो।

सुसगता—(बैठकर और बलपूर्वक चित्रफलक को खीचकर) सखी, यहां चित्रपट मे तुमने किसे चित्रित किया है ?

सागरिका—(लजाते हुये) सखी, (इस) हो रहे मदन-महोत्सव में भगवान कामदेव।

सुसगता—(मुस्करा कर) धन्य है तुम्हारी निपुणता। फिर भी यह चित्र कुछ सूना-सा क्यो लग रहा है ? तो मैं भी चित्र बनाकर (इसे) रति से युक्त कर दूं (कूंची लेकर रति के ब्याज से सागरिका का चित्र बनाने का नाटय करती है)।

सागरिका—(देखकर, नाराज होकर) सुसंगता, इसमे तूने मेरा चित्र क्यों बनाया ?

सुसगता—(हंस कर) सखी, बिना कारण क्यों नाराज होती हो ? जैसा तूने कामदेव बनाया है, वैसी मैंने रति बना दी है। इसलिये, ए उल्टा समझने वाली, तेरी इस बकवाद से क्या लाभ है ? सब सच्ची बात कह।

सागरिका—(लजाते हुये मंन मे) प्रिय सखी ने मेरी बात जान ली है। (सुसङ्गता का हाथ पकड़ कर, प्रकट रूप से) प्रिय सखी, मुझे बड़ी लज्जा आ रही है। इसलिये, ऐसा करो कि कोई दूसरा इस बात को न जान पाये।

सुसंगता—सहि, मा लज्ज । ईदिसस्स कण्णारअणस्स अवस्सं एव्व ईदिसे वरे अहिलासेण होदव्वं । तहावि जहा ण कोवि अवरो एद वुत्तन्तं जाणिस्सदि तहा करेमि । एदाए उण मेधाविणीए सारिआए एत्थ कारणेण होदव्वं । कदावि एसा इमस्स आलावस्स गहिदक्खरा कस्स वि पुरदो मन्तइस्सदि । [सखि, मा लज्जस्व । ईदृशस्य कन्यारत्नस्यावश्यमेवेदृशे वरेऽभिलाषेण भवितव्यम् । तथापि यथा न कोऽप्यपर एतं वृत्तान्तं ज्ञास्यति तथा करोमि । एतया पुनर्मेधाविन्या सारिकयात्र कारणेन भवितव्यम् । कदाप्येषास्यालापस्य गृहीताक्षरा कस्यापि पुरतो मन्त्रयिष्यते ।]

साग०—हा किं दाणिं एत्थ करइस्सं । अदोवि मे अहिअदरं संदावो वड्ढदि । (इति मदनावस्थां नाटयति) । [तत्किमिदानीमत्र करिष्यामि अतोऽपि मेऽधिकतरं सन्तापो वर्धते ।]

सुसं०—(सागरिकाया हृदये हस्तं दत्वा) सहि समस्सस समस्सस । जाव इमाए दिग्घिआए णलिणीवत्ताइं मुणालिआओ अ गेण्हिअ लहुं आअच्छामि । (निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य च नाट्येन नलिनीपत्रैः शयनीयं मृणालैर्वलयानि च रचयित्वा परिशिष्टानि नलिनीपत्राणि सागरिकाया हृदये निक्षिपति) । [सखि, समाश्वसिहि समाश्वसिहि । यावदस्या दीर्घिकाया नलिनीपत्राणि मृणालिकाश्च गृहीत्वा लघ्वागच्छामि ।]

साग०—सहि, अवणेहि इमाइं णलिणीवत्ताइं मुणालवलआइं अ । अलं एदिणा । कीस अआरणे अत्ताणं आआसेसि । णं भणामि । [सखि, अपनयेमानि नलिनीपत्राणि मृणालवलयानि च । अलमेतेन किमित्यकारण आत्मनमायासयसि । ननु भणामि ।

दुल्लहजणअणुराओ लज्जा गुरुई परव्वसो अप्पा ।
पिअसहि विसमं प्पेम्मं मरणं सरणं ण वरमेक्कम् ॥१॥
[दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।
प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं न वरमेकम् ॥१॥]

(इति मूर्च्छति)

दुर्लभजनेति—दुर्लभजनानुरागः, गुर्वी लज्जा, परवशः आत्मा । प्रियसखि

सुसंगता—सखी, लज्जा न करो। ऐसी उत्तम कन्या को अवश्य ही ऐसे वर की अभिलाषा करनी चाहिये। फिर भी, जिससे कोई दूसरा इस बात को न जान पाये, मैं वैसा करूंगी। लेकिन यह बुद्धिमती सारिका इस (रहस्योद्घाटन) का कारण हो सकता है। कहीं यह इस बात-चीत के शब्दों को जानकर किसी के सामने कह सकती है।

सागरिका—तो अब इस विषय में क्या करूं? मेरा सन्ताप तो इससे भी अधिक बढ़ रहा है। (कामावस्था की चेष्टा करती है)।

सुसंगता—(सागरिका के हृदय पर हाथ रखकर) सखी, धैर्य रक्खो। धैर्य रक्खो, अभी मैं इस बावड़ी से कमलिनी के पत्ते और नाल लेकर तुरन्त आती हूँ।

(बाहर जाकर फिर प्रवेश करके कमलिनी के पत्तों से बिछावन और नालों से कड़े बनाकर और बचे हुये कमलिनी के पत्रों को सागरिका के वक्ष पर रखने का नाट्य करती है)।

सागरिका—सखी, इन कमल-पत्रों तथा नाल-वलयों को अलग हटा दो इससे कुछ न होगा। क्यों व्यर्थ अपने को कष्ट दे रही हो? मैं ठीक कहती हूँ—

दुर्लभ जन के प्रति प्रेम है, भारी लाज है और शरीर दूसरे के अधीन है। प्रिय सखि, (इन परिस्थितियों में) प्रेम संकटपूर्ण है। (क्या अब) केवल मृत्यु ही उत्तम शरण नहीं है ॥१॥

(मूर्च्छित हो जाती है)

(एवं) प्रेम विषमम्। (किम्) एकं मरणं वरं शरणं न? इत्यन्वयः। दुर्लभो दुष्प्रापो जनस्तस्मिन्ननुरागः प्रेमोऽनो मृणालिकादिभिरुपायैस्तापो नापनोदनीय इति भावः। गुर्व्यतिमहती लज्जा ह्रीरतोऽनुरागं आविष्कर्तुमशक्यम्। ननु सत्युत्कटेऽनुरागे लज्जा त्याज्येति तथाऽपि कर्तुं न पार्यते यत आत्मा शरीरं परस्य वासवदत्ताया इत्यर्थो वशोऽधीनः। प्रियसखि सुसंगते, एवं मम प्रेम विषमं संकटम्। (किम्) अधुनैकं केवलं मरणं मृत्युर्वरमुत्तमं शरणमवलम्बो न ॥१॥

सुसंग०—(सकरुणम्) सहि साअरिए, समस्सस समस्सस। [सखि सागरिके, समाश्वसिहि समाश्वसिहि।]

(नेपथ्ये)

कण्ठे कृत्तावशेषं कनकमयमधः शृङ्खलादाम कर्षन्-
क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणरणत्किङ्किणीचक्रवालः।
दत्तातङ्कोऽङ्गनानामनुसृतसरणिः संभ्रमादश्वपालैः
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवङ्गः प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरायाः॥२॥

अपि च

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादपास्य त्रपा-
मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः॥३॥

सुसंगता—(आकर्ण्य दृष्ट्वा ससंभ्रममुत्थाय सागरिकां हस्ते गृहीत्वा) सहि उट्ठेहि। एसो क्खु दुट्ठवाणरो इदो ज्जेव आअच्छदि। ता अलिक्खदं तमालविडवान्धआरे पविसिअ एदं अदिवाहेम्ह। [सखि, उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। एष खलु

कण्ठे कृत्तावशेषमिति—कण्ठे कृत्तावशेषं कनकमयं शृंखलादाम अधः कर्षन्, हेलाचलचरणरणत्किङ्किणीचक्रवालः, द्वाराणि क्रान्त्वाऽङ्गनानां दत्तातङ्कः, संभ्रमादश्वपालैः अनुसृतसरणिः, मन्दुरायाः प्रभ्रष्टः अयं प्लवंगः नृपतेः मन्दिरं प्रविशति। इत्यन्वयः। कण्ठे स्थितं कृत्तस्य छिन्नस्यावशेषम-वशिष्टं कनकस्य विकारः कनकमयं स्वर्णविघटितं शृंखलाया निगडस्य दाम रज्जुमधो भूमौ कर्षन्, हेलया लीलया चलेषु चञ्चलेषु चरणेषु रणच्छब्दायमानं किङ्किणीनां क्षुद्रघण्टिकानां चक्रवालं समूहो यस्य सः द्वाराणि क्रान्त्वाऽङ्गनानां स्त्रीणां दत्त आतङ्को भयं येन सः संभ्रमात्त्वरयाऽश्वपालैरश्वरक्षिभिरनुसृता सरणिर्मार्गो यस्य मन्दुराया अश्वशालायाः प्रभ्रष्टो बन्धनाच्च्युतोऽयं प्लवङ्ग

सुसंगता—(करुणा से) सखी सागरिका, धीरज रखो, धीरज रखो।

(नेपथ्य में)

गले मे टटने से बची हुई सोने की जंजीर को नीचे (जमीन मे) घसीटता हुआ, उछल-कूद से चञ्चल चरणों में बजते हुए घुंघुरुओं के समूह वाला द्वारों को लांघ कर स्त्रियों को भयभीत करने वाला, हड़बड़ा कर अश्व-रक्षको द्वारा पीछा किया जाता हुआ, अश्व-शाला से खुला हुआ, यह वानर राजा के भवन मे प्रवेश कर रहा है ॥२॥

और भी—

हीजडे, मनुष्यों में गिनती न होने के कारण, लज्जा छोडकर भाग पड़े है, डर के मारे यह बौना कञ्चुकी के जामे मे घुस रहा है, (अन्तःपुर के) छोर का आश्रय लेने वाले किरातों ने अपने नाम के अनुरूप किया है और अपने देख लिये जाने से डरने वाले कुबड़े और झुककर धीरे ले जा रहे है ॥३॥

सुसंगता—(सुनकर, सामने देखकर, घबराहट से उठकर और सागरिका का हाथ पकड कर) सखी उठो, उठो। यह दुष्ट वानर इधर ही आ रहा है। अतः बिना दीखे तमाल वृक्षो के अंधियारे मे जाकर इसे निकल जाने देवें।

वानरो नृपतेर्मन्दिरं भवनं प्रविशति ॥२॥

नष्टं वर्षवरैरिति—वर्षवरैः मनुष्यगणनाभावात् त्रपामपास्य नष्टम्, अयं वामनः त्रासात् कञ्चुकिकञ्चुकस्य अन्तः विशति। पर्यन्ताश्रयिभिः किरातैः निजस्य नाम्नः सदृश कृतम्, आत्मेक्षणाशङ्किनः कुब्जा शनकैः नीचतयैव यान्ति। इत्यन्वयः। वर्षवरैः पण्ढैर्मनुष्येषु पुरुषेषु गणनाया अभावात् त्रपां लज्जामपास्य त्यक्त्वा नष्ट विद्रुतम्, अयं पुरो दृश्यमानो वामनः सर्वत्रासाद् भयात् कञ्चुकिनः कञ्चुकस्य चोलकस्यान्तर्मध्ये विशति। पर्यन्तं सीमाभागमाश्रयन्त इति पर्यन्ताश्रयिणस्तैः किरातैः किरं पर्यन्तभूमिमतन्ति गच्छन्तीति किराता म्लेच्छ-भेदास्तैर्निजस्य स्वस्य नाम्नः सदृशमनुरूप कृत चेष्टित तैः पर्यन्तभूमिरा-श्रितेत्यर्थः। आत्मनः स्वस्येक्षणमवलोकनमाशङ्कन्त इत्यात्मक्षणाशङ्किनः कुब्जाः शनकैः शनैर्नीचतयाऽनुच्चतयैव यान्ति ॥३॥

दुष्टवानर इत एवागच्छति। तदलसितं तमालविटपान्धकारे प्रविश्यैनमतिवा हयावः।]

(तथाकृत्वोभे सभयं पश्यन्त्यौ स्थिते)

साग०—सुसंगदे, कधं तुए चित्तफलओ उज्झिदो। कदावि को वि तं पेक्खदि। [सुसङ्गते, कथं त्वया चित्रफलक उज्झितः। कदापि कोऽपि तं प्रेक्षते।]

सुसंग०—अइ सुत्थिदे, किं अज्ज वि चित्तफलएण करिस्ससि। एसो क्खु दधिमत्तलम्पडो सारिआपञ्जरं उग्घाडिअ दुट्ठवाणरो अदिक्कन्तो। एसा क्खु मेहा विणी उड्डीणा अण्णदो गच्छदि ता एहि। लहुं अणुसरेम्ह। इमस्स आलवस्स गहिदक्खरा कास वि पुरदो मन्तइस्सदि। [अयि सुस्थिते, किमद्यापि चित्रफलकेन करिष्यसि। एष खलु दधिभक्तलम्पट सारिकापञ्जरमुद्घाट्य दुष्टवानरोऽतिक्रान्तः। एषा खलु मेधाविन्युड्डीनान्यतो गच्छति। तदेहि। लघ्वनुसरावः। अस्यालापस्य गृहीताक्षरा कस्यापि पुरतो मन्त्रयिष्यते।]

साग०—सहि एव्व करेम्ह। [सखि एवं कुर्वः।]

(इति परिक्रामतः)

(नेपथ्ये)

ही ही अच्चरिअं। [ही ही आश्चर्यमाश्चर्यम्।]

साग०—(विलोक्य सभयम्) सुसंगदे, आणीअदि पुणो वि सो दुट्ठवाणरो आअच्छदित्ति। [सुसगते, ज्ञायते पुनरपि स दुष्टवानर आगच्छतीति।]

सुसंग०—(विदूषकं दृष्ट्वा विहस्य) अइ कादरे, मा भेहि। भत्तुणो परिवासवत्ती क्खु एसो अज्जवसन्तओ। [अयि कातरे मा बिभीहि। भर्तुः परिपार्श्ववर्ती खल्वेष आर्यवसन्तकः]

साग०—(सस्पृहमवलोक्य) सहि सुसगदे दंसणीओ क्खु अअं जणो।
[सखि सुसंगते, दर्शनीयः खल्वय जनः]

सुसंग०—अइ सुत्थिदे, किं एदिणा दिट्ठेण। दूरीभूदा क्खु सारिआ। ता एहि। अणुसरेम्ह। [अयि सुस्थिते, किमनेन दृष्टेन। दूरीभूता खलु सारिका। तदेहि। अनुसरावः।]

(इति निष्क्रान्ते)

(वैसा करके दोनों भयपूर्वक देखती हुई खड़ी होती है)

सागरिका—सुसंगता, अरी ! क्या तूने चित्रपट यहीं छोड़ दिया ? कहीं कोई उसे देख ले ?

सुसंगता—अरी, आराम से खड़ी रहने वाली, अब चित्रफलक का क्या करेगी ? (देख), दही और भात का लोभी यह दुष्ट बन्दर सारिका के पिंजरे को खोलकर चला गया है। यह मेधाविनी भी उड़ी जा रही है। तो आओ, जल्दी से इसका पीछा करें। इस बातचीत के अक्षरों को जानी हुई (यह) किसी के सामने कह देगी।

सागरिका—सखी, ऐसा करते हैं।

(यह कहकर दोनों घूमती हैं)।

(नेपथ्य में)

हा ! हा ! अरे ! आश्चर्य, आश्चर्य !

सागरिका—(देखकर भय से) सुसंगता, मालूम होता है, वह दुष्ट वानर फिर आ रहा है।

सुसंगता—(विदूषक को देखकर, जोर से हंसकर) अरी, डरपोक, न डर। यह तो स्वामी के पास रहने वाला आर्य वसन्तक है।

सागरिका—(चाह से देखकर) सखी सुसङ्गता, तब तो यह जन दर्शनीय है।

सुसंगता—अरी निश्चिन्त, इसके देखने से क्या होगा ? सारिका दूर होती जा रही है। आओ, दोनों (उसी का) पीछा करें।

(दोनों बाहर जाती हैं)

(ततः प्रविशति प्रहृष्टो विदूषकः)

विदूषक–ही ही भो अच्चरिअं अच्चरिअं । साहु, रे सिरिखण्डदास धम्मिअ साहु, जेण दिण्णमत्तेण ज्जेव्व तेण दोहअएण ईदिसो णोमालिआ संवुता जेण णिरन्तरुब्भिण्णकुसुमगुच्छसोहिदविडवा उवहसन्ती विअ लक्खिअदि देवीपरिगहिदं माहवीलदं । ता जाव गदुअ पिअवअस्सं वड्ढाइस्सं । (परिक्रम्यावलोक्य च) एसो क्खु पिअवअस्सो तस्स दोहअस्स लद्धपच्चअदाए परोक्खं वि तं णोमालिअं पच्च-क्खं विअ कुसुमिदं पेक्खन्तो हरिसुप्फुल्ललोअणो इदो ज्जेव्व आअच्छदि । ता जाव णं उवसप्पामि । [ही ही भो आश्चर्यमाश्चर्यम् । साधु रे श्रीखण्डदासः धार्मिकः, साधु । येन दत्तमात्रेणैव तेन दोहदकेनेदृशी नवमालिका संवृत्ता येन निरन्तरो-द्भिन्नकुसुमगुच्छशोभितविटपोपहसन्तीव लक्ष्यते देवीपरिगृहीतां माधवीलताम् । तद्यावद्गत्वा प्रियवयस्यं वर्धयिष्यामि । एष खलु प्रियवयस्यस्तस्य दोहदस्य लब्धप्रत्ययतया परोक्षामपि तां नवमालिकां प्रत्यक्षामिव कुसुमितां प्रेक्षमाणो हर्षोत्फुल्ललोचन इत एवागच्छति । तद्यावदेनमुपसर्पामि ।]

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा)

राजा—(सहर्षम्)

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरतैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ।।४।।

निरन्तरोद्भिन्नेति—निर्गतमन्तरं यस्मिन् तद् यथा स्यात्तथोद्भिन्नैः कुसुमगुच्छैः शोभिता विटपाः शाखा यस्याः सा ।

उद्दामोत्कलिकामिति—अद्य उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भाम् अविरतैः श्वसनोद्गमैः क्षणाद् आत्मनः आयासम् आतन्वतीं समदनाम् इमाम् उद्यानलताम् अन्यां नारीमिव पश्यन् अहं ध्रुवं देव्याः मुखं कोपविपाटलद्युति करिष्यामि । इत्यन्वयः । अद्य उद्दामा अप्रतिबन्धा उद्गताः कलिका यस्यास्ताम्, (नारीपक्षे, उद्दामाऽत्यधिकोत्कलिकोत्कण्ठा यस्यास्ताम्), (पुष्पोद्गमात्)

(तत्पश्चात् प्रसन्न विदूषक प्रवेश करता है)

विदूषक अहा ! हा ! अरे आश्चर्य-आश्चर्य । धन्य है परमात्मा [illegible]-दास, धन्य । क्योंकि उस योग (धूनी) के देते ही नवमालिका ऐसी हो गई कि निरन्तर खिले हुए फूलों के गुच्छों से शोभित डालियों वाली (बन), मानो महारानी द्वारा अपनाई गई माधवी लता का उपहास करती हुई दीखती है। तब अब जाकर प्रिय मित्र को बधाई दूंगा। (घूमकर और देखकर) उस योग में विश्वास होने के कारण परोक्ष नवमालिका को, मानो प्रत्यक्ष हुई-सी देखता हुआ, हर्ष से विकसित नेत्रों वाला यह प्रिय मित्र इधर ही आ रहा है। तो इसके पास जाता हूँ।

(तत्पश्चात् यथोक्त राजा प्रवेश करता है)

राजा—(हर्ष से)

क्षण भर मे ही अत्यधिक [illegible] कान्ति वाली (कलियों का) प्रारम्भ हुए विकास वाली, [illegible] वायु के आघात से अपना आयास प्रकट करती हुई (अर्थात् वायु के झोंके से हिलती हुई), मदन नामक वृक्ष से युक्त इस उद्यान लता को, [illegible], जँभाई लेती हुई निरन्तर गहरे श्वासों से अपनी [illegible], किसी अन्य [illegible]-वस्था वाली सुन्दरी के समान देखता हुआ मैं आज निश्चय ही महारानी के मुख को क्रोध से लाल कान्ति वाला कर दूंगा [illegible]

,तद्व त्वामुपलब्धुं गतो वसन्तकोऽद्यापि नायाति ।

विदूषक — (सहसोपसृत्य) जअदु जअदु पिअवअस्सो । भो वअस्स, दिठ्ठिआ वड्ढसि । (जेण दिण्णमेत्तेण ज्जेव्व तेण दोहअएण ईदिसि णोमालिआ संवुत्ता' इत्यादि पुनः पठति) । [जयतु जयतु प्रियवयस्यः। भो वयस्य, दिष्ट्या वर्धसे ।]

राजा—वयस्य, कः सन्देहः । अचिन्त्यो हि मणि मन्त्रौषधीनां प्रभावः पश्य ।

कण्ठे श्रीपुरुषोत्तमस्य समरे दृष्ट्वा मणिं शत्रुभि-
नंष्टं मन्त्रबलाद्वसन्ति वसुधामूले भुजङ्गा हताः ।
पूर्वं लक्ष्मणवीरवानरभटा ये मेघनादाहताः
पीत्वा तेऽपि महौषधेर्गुणनिधेर्गन्धं पुनर्जीविताः ॥५॥

तदादेशय मार्गं येन वयमद्य तदवलोकनेन चक्षुषः फलमनुभवामः ।

विदूषक—(साटोपम्) एदु एदु भवं । [एत्वेतु भवान् ।]

राजा—गच्छाग्रतः ।

(उभौ सगर्वं परिक्रामतः)

विदूषकः—(आकर्ण्य सभयं निवृत्य राजानं गृहीत्वा ससंभ्रमम्) भो वअस्स, एहि । पलाअम्ह । [भो वयस्य, एहि । पलायावहे ।]

राजा—किमर्थम् ।

विदूषक—भोः ऐदस्सिं बउलपाअवे कोवि भूदो पडिवसदि ।
[भोः एतस्मिन् वकुलपादपे कोऽपि भूतः प्रतिवसति ।]

राजा—धिङ् मूर्ख विस्रब्धं गम्यताम् । कुत ईदृशानामत्र संभवः ।

कण्ठे श्रीपुरुषोत्तमस्येअति—समरे श्रीपुरुषोत्तमस्य कण्ठे मणिं दृष्ट्वा शत्रुभिः नष्टम् । मन्त्रबलाद् हताः भुजङ्गाः वसुधामूले वसन्ति । पूर्वं ये लक्ष्मणवीरवानरभटा मेघनादाहता, तेऽपि गुणनिधेः महौषधेः गन्धं पीत्वा पुनः जीविता । इत्यन्वयः । समरे युद्धे श्रीपुरुषोत्तमस्य विष्णोः कण्ठे मणिं कौस्तुभाख्यं दृष्ट्वा शत्रुभिर्नष्टं विद्रुतम् । मन्त्रबलान्मन्त्रप्रभावाद् :हताः प्रतिरुद्धा भुजंगच्छन्नीति

उसका समाचार जानने के लिये गया हुआ वसन्तक अभी तक नहीं आया।

विदूषक—(अकस्मात् समीप आकर) प्रिय मित्र की जय हो, जय हो। हे मित्र, तुम्हे बधाई है। (क्योंकि उस दोहद के देते ही नवमालिका ऐसी हो गई ······इत्यादि कहता है)

राजा—मित्र, क्या सदेह है ? मणि, मन्त्र और औषधियों का प्रभाव अचिन्त्य होता है। देखो—

'युद्ध में भगवान् विष्णु के कण्ठ मे (कौस्तुभ) मणि को देखकर (उसके) शत्रु भाग खड़े हुये। मन्त्र के प्रभाव से शक्तिहीन हुये सर्प पृथ्वी के मूल (पाताल) में रहते हैं। पहले जो लक्ष्मण और वीर वानर योद्धा मेघनाद ने मार दिये थे, वे भी गुणों को निधान महौषधि की गन्ध का पान करके फिर जीवित हो गये ॥५॥

तो मार्ग दिखलाओ, जिससे कि उसको देखकर हम भी दृष्टि का फल पा लेवें।

विदूषक—(गर्व से) चलिये, चलिये।

राजा—आगे-आगे चलो।

(दोनों गर्व से घूमते हैं)

विदूषक—(सुनकर, भय से लौटकर, राजा को पकड़ कर घबराहट से) ए मित्र, आओ, भाग चलें।

राजा—क्यों ?

विदूषक—इस मौलसिरी के पेड़ पर कोई भूत रहता है।

राजा—छिः मूर्ख, निडर, होकर चलो। यहाँ ऐसी चीजों की कहाँ से सम्भावना हो सकती है।

भुजङ्गाः सर्पा वसुधायाः पृथिव्यास्तले पाताले वसन्ति। पूर्वं रामरावणयुद्धे ये लक्ष्मणश्च वीराश्च ते वानरभटाश्चेति लक्ष्मणवीरवानरभटा मेघनादेनाऽऽहता-स्तेऽपि गुणानां निधिर्गुणनिधिस्तस्या महती चासावौषधिश्च तस्या गन्धं पीत्वा-ऽऽघ्राय पुनर्जीविताः ॥५॥

विदूषक—भो एसो खु फुडक्खरं ज्जेव्व मन्तेदि । जई मम वअणं ण पत्तिआअसि ता अग्गदो भविअ सअं ज्जेव्व आअण्णेहि । [भोः, एष खलु स्फुटाक्षरमेव मन्त्रयति । यदि मम वचनं न प्रत्यायतसि तदग्रतो भूत्वा स्वयमेवाकर्णय ।]

राजा—(तथा कृत्वा श्रुत्वा च)

स्पष्टाक्षरमिदं यस्मान्मधुरं स्त्रीस्वभावतः ।
अल्पाङ्गत्वादनिर्ह्रादि मन्ये वदति सारिका ॥६॥

(ऊर्ध्वं निरूप्य) कथं सारिकैवेयम् ।

विदूषकः—(ऊर्ध्वमवलोक्य) आः कधं सच्चं ज्जेव्व सारिआ । (सरोषं दण्डकाष्ठमुद्यम्य) आः दासीए धीए, किं तुमं जाणासि सच्चं ज्जेव्व वसन्तओ भाअदित्ति । ता चिट्ठ मुहुत्तं जाव इमिणा पिसुणजणहिअअकुडिलेण दण्डकट्ठेण पक्किपक्कं विअ कइत्थफलं इमादो बउलपाअवादो आहणिअ भूमिए तुमं पाडइस्सं । (इति हन्तुमुद्यतः) । [आः कथं सत्यमेव सारिका । आः दास्याः पुत्रि किं त्वं जानासि सत्यमेव वसन्तको बिभेतीति । तत्तिष्ठ मुहूर्तं यावदेतेन पिशुनजनहृदयकुटिलेन दण्डकाष्ठेन परिपक्वमिव कपित्थफलमस्माद्बकुलपादपादाहत्य भूमौ त्वां पातयिष्यामि ।]

राजा—(निवारयन्) मूर्ख, किमप्येषा रमणीयं व्याहरति । तत्किमेनां त्रासयसि । शृणुवस्तावत् ।

(उभावाकर्णयतः)

विदूषक—(आकर्ण्य) भो वअस्स, सुदं तुए [illegible] एदाए मन्तिदं । एसा भणादि—'सहि, को एसो तुए आलिहिदो ।' सहि, पउत्तमअणमहूसवे भअवं अणंगो, त्ति । पुणो वि भणादि—सहि, कीस तुए अहं एत्थ आलिहिदा । सहि, किं अआरणे कुप्पसि । जादिसो तुए कामदेओ आलिहिदो' तादिसी मए रदी आलिहिदा । ता अण्णधासम्भाविणी किं तुह एदिणा आलविदेण । कहेसि सव्वं वुत्तान्तं त्ति' । भो वअस्स किं णेदम् । [भो वयस्य श्रुतं त्वया यदेतया मन्त्रितम् । एषा भणति—'सखि' क एष त्वयाऽऽलिखितः । सखि, प्रवृत्तमदनमहोत्सवे

स्पष्टाक्षरमिति—यस्माद् इदं स्पष्टाक्षरं स्त्रीस्वभावतः मधुरं स्वल्पाङ्गत्वाद्

विदूषक—अरे ! यह तो बिल्कुल साफ अक्षरों में बोल रहा है। यदि मेरी बात का विश्वास न हो तो आगे बढ़कर स्वयं ही सुन लो।

राजा—(वैसा करके और सुनकर)

क्योंकि यह (वचन) स्पष्ट अक्षरों वाला है, स्त्रियों के स्वभाव के अनुरूप मधुर है; और (बोलने वाले के) छोटे अङ्गों वाला होने के कारण धीमा है, (इससे) मैं समझता हूं कि (कोई) सारिका बोल रही है ॥६॥

(ऊपर की ओर ध्यान से देखकर) अरे ! कैसे ! यह तो सारिका ही है।

विदूषक—(ऊपर की ओर देखकर) आह ! कैसे ! सचमुच ही सारिका है। (क्रोध में छड़ी उठाकर) आह ! दासी की बच्ची, क्या तूने समझ लिया है कि वसन्तक सचमुच ही डर रहा है। तो जरा ठहर। अभी धूर्त जनों के हृदय के समान कुटिल इस छड़ी से पके कैथ के फल के समान तुझे मार कर इस मौलसिरी के पेड़ से जमीन पर गिराता हूं। (यह कहकर मारने के लिये तैयार हो जाता है)।

राजा—(रोकते हुये) मूर्ख यह कोई सुन्दर बात कह रही है। तो क्यों इसे डरा रहा है दोनों सुनें तो।

(दोनों)

विदूषक—(सुनकर) ऐ मित्र, तुमने सुना, इसने क्या कहा ? यह कह रही है—"सखी, तुमने यह किसका चित्र बनाया है ? सखी, प्रारम्भ हुए मदनमहोत्व में भगवान कामदेव का।" यह आगे कह रही है—"सखी, तूने इसमें मेरा चित्र बनाया है, वैसा ही मैंने रति का चित्र बना दिया है। इसलिये विपरीत समझने वाली, तेरी इस बकवास से क्या लाभ ? सारी सच्ची बात बतला।" मित्र यह क्या बात है ?

अनिर्ह्रादि, (तस्मात्) सारिका वदति (इति) मन्ये। इत्यन्वतः। यस्माद्यत इदं पुरः श्रूयमाणं मन्त्रणं स्पष्टान्यक्षराणि यस्य तत् स्त्रीणां स्वभावतः प्रकृत्या मधुरमल्पमङ्गं यस्याः साऽल्पाङ्गा तस्या भावस्तस्मादनिर्ह्रादिअनुच्चैः श्रूयमाणमस्ति तस्मात् सारिका वदतीति मन्ये ॥६॥

पिशुनजनेति—पिशुनो दुर्जनस्तस्य हृदयमिव कुटिलं वक्रं तेन।

भगवाननङ्ग इति । पुनरपि भणति—'सखि' कस्मात्त्वयाहमत्रालिखिता सखि, किमकारणं कुप्यसि। यादृशस्त्वया कामदेव आलिखितस्तादृशी मया रतिरालिखिता। तदन्यथासम्भाविनि, किं तवैव तेनालपितेन । कथय सर्ववृत्तान्तम् इति । भो वयस्य, किन्विदम् ।]

राजा—वयस्य एवं तर्कयामिः कयापि हृदयवल्लभोऽनुरागदालिख्य कामदेवव्यपदेशेनसखीपुरतोऽपह्नुतः । तस्सख्यापि प्रत्यभिज्ञाय वेदग्ध्यादसावपि रतिव्यपदेशेन तत्रैवाऽऽलिखितेति ।

विदूषक—(छोटिका दत्त्वा) भो वअस्स, जुज्जदि । एव्वं क्खु एवं ।
[भो वयस्य, युज्यते । एव खल्वेतत् ।]

राजा—भो वयस्य, तूष्णीं भव । पुनरप्येषा व्याहरति ।

विदूषक—भो एसा भणादि—'सहि, मा लज्ज । ईदिसस्स क्कुरुणारअणस्स अयस्स जेव्व ईदिसे वरे अहिलासेण होदव्वं ति । भो वअस्स, जा एसा आलिहिदा सा क्खु कण्णा द सणीआ । भो एषा भणति—'सखि, मा लज्जस्व ईदृशस्य कन्यारत्नस्यावश्यमेवेदृशेवरेऽभिलाषेण भवितव्यम्' इति । भो वयस्य, यैषाऽऽलिखिता सा खलु कन्या दर्शनीया ।]

राजा—यद्येवमवहितौ शृणुवस्तावत् । अस्त्यत्रावकाशो नः कुतूहलस्य ।

(इत्युभावाकर्णयतः)

विदूषक—भो वअस्स, सुदं तुए . ज ए दाए मन्तिदं—'सहि, अदोवि मे अधिअवरं सदावो वड्ढदि' । 'सहि, अवणेहि इमाइं णलिणीपत्ताइं मुणालवलआइं अ । अल एदिणा । कीस आअरणे अत्ताणं आआसेसि' त्ति । [भो वयस्य, श्रुतं त्वया यदेतया मंत्रितम्—'सखि' अतोऽपि मेऽधिकतरसंतापो वर्धते । सखि, अपनयेमानि नलिनीपत्राणि मृणालवलयानि च । अलमेतेन । कस्मादकारणं आत्मानमायासयसि' इति ।]

राजा—वयस्य न केवलं श्रुतमभिप्रायोऽपि लक्षितः ।

विदूषक—भो मा तुमं पण्डिअगव्वं उव्वह । अहं दे एदाए मुहदो सुणिअ सव्वं वक्खाणइस्सं । ता सुणेम्ह । अज्जवि कुरकुराअदि एव्व एसा सारिआ दासीए धीआ । [भो मा त्वं पाण्डित्यगर्वमुद्वह । अहं तु एतस्या मुखाच्छ्रुत्वा सर्वं व्याख्यास्यामि । यच्छृणुवः । अद्यापि कुरकुरायत एवैषां सारिका दास्याः पुत्री ।]

राजा—मित्र, मैं ऐसा समझता हूं—किसी ने प्रेमवश हृदय के प्रिय जन का चित्र-बनाकर (उसे) सखी के सामने कामदेव के व्याज से छिपाया। तब सखी ने भी (रहस्य) ताड़ कर चतुरता से वहीं रति के बहाने उसका भी चित्र बना दिया।

विदूषक—(चुटकी बजाकर) ऐ मित्र, ठीक है। ऐसा ही है।

राजा—मित्र, चुप रहो। यह फिर आगे कह रही है।

विदूषक—अरे ! यह कह रही है—'सखी, लज्जा न करो। ऐसी उत्तम कन्या को अवश्य ही ऐसे वर के लिये अभिलाषा होनी चहिये'। ऐ मित्र, जिस कन्या का चित्र बनाया गया है, वह अवश्य सुन्दर होगी।

राजा—यदि ऐसा है तो सावधान होकर सुन। इसमे हमारी उत्सुकता के लिये स्थान है।

(दोनों सुनते हैं)

विदूषक—ऐ मित्र, सुना तुमने, इसने जो कहा–'सखी, इससे मेरी पीड़ा और अधिक बढ़ रही है।' 'सखी, इन कमलिनी के पत्रों और नाल के वलयों को हटाओ। इनसे बस करो। क्यों व्यर्थ स्वयं को कष्ट दे रही हो।'

राजा—मित्र, केवल सुन ही नहीं लिया, अपितु आशय भी समझ लिया है।

विदूषक—अरे, पाण्डित्य का अभिमान न कर। मैं इसके मुख से सुनकर तुझे सब बतला दूंगा। इसलिये दोनों सुनें। अभी भी यह दासी की पुत्री सारिका कुर-कुर कर रही है।

राजा—युक्तमभिहितम्,

(पुनराकर्णयतः)

विदूषक—भो वअस्स ऐसा क्खु सारिआ दासीए दुहिदा चदुव्वेदी ब्रह्मणो विअ रिचाइं पढिदुं पउत्ता । भो वयस्य, एषा खलु सारिका दास्या दुहिता चतुर्वेदी ब्राह्मण इव ऋचः पठितुं प्रवृत्ता ।

राजा—वयस्य, कथय किमप्यन्यचेतसा मया नावधारितं किमनयोक्तमिति

विदूषक—भो एदा ए पढिदं— [भो एतदेतया पठितम्]

दुल्लहजणअणुराओ लज्जा गुरुई परवसो अप्पा ।
पिअसहि विसमं प्पेम्म मरणं सरणं ण वरमेक्कम् ॥७॥

[दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।
प्रियसखी विषमं प्रेम मरणं शरणं नु वरमेकम् ॥७॥]

राजा—(सस्मितम्) साधु, भवन्तं महाब्राह्मणं मुक्त्वा कोऽन्य एवम्—व्याख्यातुं समर्थः ।

विदूषक—तदो किं णु खु एदम् । [ततः किं नु खल्विदम् ।]

राजा—ननु गाथेयम् ।

विदूषक—किं गाथा । [किं गाथा ?]

राजा—वयस्य, कयापि श्लाघ्ययौवना प्रियतममनासादयन्त्या जीवित-निरपेक्षयोक्तम् ।

विदूषक—(उच्चैर्विहस्य) भो किं एदेहि वक्कभणिदेहि । उजुअं किं ण भणासि जधा म एव्व अणासादअन्तीएत्ति । अण्णहा को अण्णो कुसुमचावव्ववदेसेण णिण्हवीअदि । (हस्ततालं दत्त्वोच्चैर्विहसति) । [भोः किमेतैर्वक्रभणितैः । ऋजुकमेव किं न भणसि यथा मामेवानासादयन्त्येति । अन्यथा कोऽन्यः कुसुम-चापव्यपदेशेन निह्नूयते ।]

राजा—(ऊर्ध्वमवलोक्य) धिङ् मूर्ख, किमुच्चैर्विहसता त्वयेयमुत्त्रासिता येनोड्डीयान्यत्र क्वापि गता ।

(इति निरूपयतः)

राजा—ठीक कहा।

(फिर दोनों सुनते हैं)

विदूषकः—हे मित्र, यह तो दासी की बेटी सारिका चतुर्वेदी ब्राह्मण के समान ऋचायें पढ़ने लगी।

राजा—मित्र, तनिक बतलाओ, अन्यत्र चित्त वाले मैंने समझा नहीं कि इसने क्या कहा ?

विदूषकः—अरे इसने यह कहा है—

दुर्लभ जन के प्रति प्रेम है, भारी लज्जा है और शरीर दूसरे के अधीन है। प्रिय सखी, (इन परिस्थितियों में) प्रेम संकटपूर्ण है। (क्या अब) केवल मृत्यु ही उत्तम शरण नहीं है ॥७॥

राजा—(मुस्कराकर) ठीक, आप महाब्राह्मण को छोड़कर अन्य कौन इस प्रकार ऋचाओं को जान सकता है।

विदूषकः—तब फिर यह क्या है ?

राजा—यह गाथा है।

विदूषकः—क्या ? गाथा ?

राजा—किसी प्रशंसनीय यौवन वाली ने प्रियतम को न पाकर जीवन से उदास हुई ने (यह) कहा है।

विदूषकः—(जोर से हँसकर) अरे! इन टेढ़ी बातों से क्या (लाभ) ? सीधे ही क्यों नहीं कहते कि 'मुझे न पाती हुई ने'। नहीं तो, दूसरे किसको इस प्रकार कामदेव के ब्याज से छिपाया जायेगा। (हाथों से ताली बजाकर जोर से हँसता है)।

राजा—(ऊपर की ओर देखकर) छिः मूर्ख, जोर से हँसकर तूने यह क्यों डरा दी कि उड़कर कहीं दूसरी जगह चली गई।

(दोनों ध्यान से देखते हैं)

दुर्लभजनेति—पूर्वं व्याख्यातम्। ४८ तमे पृष्ठे द्रष्टव्यम् ॥७॥

विदूषकः—(विलोक्य) भो एसा कअलीघरं एव्व गदा । ता एहि । लहुं अणुसरेम्ह । [भो एषा कदलीगृहमेव गता । तदेहि । लघ्वनुसरावः ।]

राजा—

दुर्वारां कुसुमशरव्यथां वहन्त्या
कामिन्या यदभिहितं पुरः सखीनाम् ।
तद् भूयः शिशुशुकसारिकाभिरुक्तं
धन्यानां श्रवणपथातिथित्वमेति ॥८॥

विदूषकः—एदु एदु भव । (परिक्रामतः) । भो एवं क्खु कअलीघरं । जाव पविसम्ह । [एत्वेतु भवान् । भो एतत्खलु कदलीगृहम् । यावत्प्रविशावः ।]

(इत्युभौ प्रविशतः)

विदूषक—भो गदा दासीए धीआ । इध दाव मन्दमारुदुव्वेलन्तबालकअलीदलसीदले सिलादले उवविसिअ मुहुत्तअं वीसमम्ह । [भो गता दास्याः पुत्री ! इह तावन्मन्दमारुतोद्वेल्लद्बालकदलीदलशीतले शिलातले उपविश्य मुहूर्तं विश्राम्याव.]

राजा—यदभिरुचितं भवते । (इत्युपविशतः । राजा निःश्वस्य 'दुर्वारां कुसुमशरव्यथामित्यादि २/८ पुनः पठति ।

विदूषकः—(पादपतोऽवलोक्य) भो वअस्स एदेण क्खु उग्घाडिददुवारेण ताए सारिआए पञ्जरेण होदव्वं । ऐसो वि सो चित्तफलओ । जाव णं गेण्हामि (फलकं गृहीत्वा निरूप्य च सहर्षम्) भो वअस्स, दिट्ठिआ वड्ढसि । [भो वयस्य एतेनोद्घाटितद्वारेण तस्याः सारिकायाः पञ्जरेण भवितव्यम् । एषोऽपि स चित्रफलकः । यावदेनं गृह्णामि । भो वयस्य, दिष्ट्या वर्धसे ।]

राजा—(सकौतुकम् वयस्य, किमेतत् ?

विदूषकः—भो एदं तं जं मए भणिदं तुमं जेव्व एत्थ आलिहिदो । को अण्णो कुसुमचावव्ववदेसेण णिण्हवीअदित्ति । [भो एतद्यन्मया भणितम् ।

दुर्वारामिति—दुर्वारां कुसुमशरव्यथां वहन्त्या कामिन्या सखीनां पुरः यदभिहितं तद् भूयः शिशुशुकसारिकाभिः उक्तं धन्यानां श्रवणपथातिथित्वमेति ।

विदूषक—(देखकर) अरे, यह तो कदली-गृह की ओर ही गई है। तो आओ, दोनो जल्दी से पीछा करें।

राजा—दुष्परिहार काम-पीड़ा को धारण करने वाली सुन्दरी द्वारा सखियों के सामने जो (वचन) कहा जाता है, बालक, तोते तथा मैंना द्वारा फिर कहा गया वह (वचन) भाग्यशालियो (ही) के श्रोत्रपथ का गोचर होता है ॥८॥

विदूषक—चलें, आप चलें। (दोनों घूमते है)। रे, यही कदली-गृह है। आओ, प्रवेश, करें।

(दोनों प्रवेश करते है)

विदूषक—अरे! (वह) दासी की पुत्री (तो) गई। अब यहाँ मन्द पवन से हिलते हुए नये केले के पत्तो से शीतल शिलातल पर बैठकर क्षण भर विश्राम कर लेवें।

राजा—जैसा आपको अच्छा लगे। (यह कहकर दोनों बैठ जाते है, राजा गहरा साँस लेकर, 'दुष्परिहार काम-पीड़ा इत्यादि २/८ फिर दोहराता है।)

विदूषक—(दोनो ओर देखकर) अरे! यह खुले हुए द्वार वाला उस सारिका का पिंजरा होगा। और यह वह चित्रपट है। तो इसे लेता हूँ। (चित्रपट लेकर, ध्यान से देखकर हर्ष से) हे मित्र, तुम्हें बधाई।

राजा—(कुतूहल से) मित्र, यह क्या है?

विदूषक—अरे, यह वही है जो मैंने कहा था। इसमें तेरा ही चित्र बनाया है। कामदेव (पुष्प के धनुष वाले) के ब्याज से अन्य किसे छिपाया जा सकता है।

इत्यन्वयः। दुःखेन वार्यत इति दुर्वारा तां दुष्परिहारां कुसुमशरस्य कामस्य व्यथां वहन्त्या धारयन्त्या कामिन्या सुन्दर्या सखीनां पुरोऽग्रे यदुक्तं भणितं तद् भूयः पुनः शिशवश्च शुकाश्च सारिकाश्च ताभिरुक्तं धन्यानां भाग्यशालिना श्रवणस्य पन्थाः श्रवणपथः श्रोत्रविवरं तस्यातिथित्व गोचरत्वमेति। धन्या एव तच्छृण्वन्तीत्यर्थः ॥८॥

मन्दमारुतेति—मन्देन मारुतेनोद्वल्लन्ति कम्पमानानि यानि बालकदलीनां दलानि पत्राणि तैः शीतले।

त्वमेवात्राऽऽलिखितः । कोऽन्यः कुसुमचापव्यपदेशेन निह्नूयत इति ।]

राजा—(सहर्षं हस्तौ प्रसार्य) सखे दर्शय दर्शय ।

विदूषक—ण दे दंसइस्सं । सावि कण्णआ एत्थ आलिहिदा । ता किं पारितोसिएण विणा ईदिसं कण्णारअणं दंसीअदि । [न ते दर्शयिष्यामि । सापि कान्यकात्रैवाऽऽलिखिता । तत् किं पारितोषिकेण विनेदृशं कन्यारत्नं दर्श्यते ।]

राजा—(फलकमपंयन्नेव बलाद् गृहीत्वा विलोक्य सविस्मयम्)

लीलावधूतपद्मा कथयन्ती पक्षपातमधिकं नः।
मानसमुपैति केयं चित्रगता राजहंसीव ॥९॥

अपि च

विधायापूर्वपूर्णेन्दुमस्या मुखमभूद् ध्रुवम् ।
धाता निजासनाम्भोजविनिमीलनदुःस्थितः ॥१०॥

(ततः प्रविशति सागरिका सुसंगता च)

सुसंगता—सहि ण समासादिदा अम्हेहिं सारिआ । सा चित्तफलअं वि दाव इमादो कअलीघरादो गण्हिअ लहुं आगच्छम्ह । [सखी, न समासादितास्माभिः सारिका । तच्चित्रफलकमपि तावदेतस्मात्कदलीगृहाद् गृहीत्वा लघ्वागच्छावः ।]

सागरिका—सहि एव्वं करेम्ह । [सखि एवं कुर्वः]

(उभे परिक्रामतः)

विदूषकः—भो वअस्स, कीस उण एसा ओणदमुही आलिहिदा ।
[भो वयस्य, कस्मात्पुनरेषावनतमुख्यालिखिता ।]

सुसंगता—(आकर्ण्य) सहि जधा वसन्तओ मन्तेदि तधा तक्केमि भट्टिणा वि एत्थ एव्वं होदव्वं । ता कअलीगुम्मन्तरिदाओ भविअ पेक्खम्ह [सखि, यथा

लीलावधूतेति—लीलावधूतपद्मा, अधिकं पक्षपातं कथयन्ती, चित्रगता का इयं राजहंसीव नः मानसमुपैति । इत्यन्वयः । लीलया विलासेनाऽवधूता तिरस्कृता पद्मा लक्ष्मीर्यया सा, राजहंसीपक्षे लीलया क्रीडाभ्रमणेनाऽवधूतानि कम्पितानि पद्मानि यया सा, अधिकं सविशेषं पक्षपातमनुकूलता पक्ष पक्षयोः पातो विधूननं त पक्षपातं कथयन्ती ख्यापयन्ती, चित्रे गताऽऽलिखिता पक्षे चित्रं

राजा—(हर्ष से दोनों हाथ फैलाकर) मित्र, दिखलाओ, दिखलाओ।

विदूषक—तुम्हें नहीं दिखलाऊँगा। वह कन्या भी इसी में चित्रित की हुई है। तो क्या इनाम के बिना ऐसी उत्तम कन्या दिखाई जाती है।

राजा—(कड़ा देते हुए बलपूर्वक लेकर, देखकर विस्मय से)

क्रीडा से कमलों को कम्पित करने वाली, पखों के फड़फड़ाने को प्रकट करती हुई, सुन्दर चाल वाली, राजहंसी जैसे मानसरोवर में (वैसे ही) विलास से लक्ष्मी को तिरस्कृत करने वाली, हमारे प्रति अनुराग प्रकट करने वाली, चित्र लिखित यह कौन (हमारे) मन में प्रवेश कर रही है ॥९॥

और भी—

इसके मुखरूपी अनुपम पूर्ण चन्द्र को बनाकर, निश्चय ही विधाता अपने वासस्थान कमल के संकोचन से कठिनाई से बैठा होगा ॥१०॥

(तत्पश्चात् सागरिका और सुसंगता प्रवेश करती है)

सुसङ्गता—सखी, हमें सारिका (तो) नहीं मिली। तब अब इस कदलीगृह से चित्रपट को ही लेकर जल्दी से आ जावें।

सागरिका—सखी, ऐसा करें।

(दोनों घूमती हैं)

विदूषक—हे मित्र, लेकिन इसे नीचा मुख की हुई क्यों चित्रित किया गया है?

सुसङ्गता—सखी, क्योंकि वसन्तक बोल रहा है, उससे अनुमान करती हूँ कि यहाँ स्वामी भी होंगे। तब केले के झुरमुट की ओट में होकर देखें तो।

गत गमन यस्याः सा, इय का राजहंसीव नोऽस्माक मानसं मनः पक्षे मानसाख्यं सर उपैति प्राप्नोति ॥९॥

विधायापूर्वेति—अस्याः मुखम् अपूर्वपूर्णेन्दुं विधाय धाता ध्रुवं निजासनाम्भोजविनिमीलनदुःस्थितः अभूत् । इत्यन्वयः। अस्याः कन्याया मुखमाननमपूर्वंश्च पूर्णश्चासाविन्दुश्चेत्यपूर्वपूर्णेन्दुस्त विधाय धाता स्रष्टा ध्रुवं नूनं निजं यदासनभूतमम्भोज कमल तस्य विनिमीलनेन संकोचेन दुःखेन स्थितो दुःस्थितोऽभूत् ॥१०॥

वसन्तको मन्त्रयते तथा तर्कयामि भर्त्राप्यत्रैव भवितव्यम् । तत्कदलीगुल्मान्तरिते भूत्वा प्रेक्षावहे ।]

(इत्युभे पश्यतः)

राजा—वयस्य, पश्य पश्य । (विधायापूर्वपूर्णेन्दुमित्यादि पुनः पठति ।)

सुसंगता—सहि, दिट्ठआ वड्ढसि । एसो दे हिअअवल्लहो तुमं जेव्व णिव्वण्णअन्तो चिट्ठदि । [सखि, दिष्ट्या वर्धसे । एष ते हृदयवल्लभस्त्वामेव निर्वर्णयंस्तिष्ठति ।

साग०—(सलज्जम्) सहि, कीस परिहाससीलदाए इमं जणं लहुं करेसि । [सखि, कस्मात्परिहासशीलतयेम जनं लघुः करोषि ।]

विदूषक—(राजानं चालयित्वा) णं भणामि—कीस एसा ओणदमुही आलिहिदेत्ति । [ननु भणामि—कस्मादेषावनतमुख्यालिखितेति ।]

राजा—वयस्य, सारिकयैव सकलमावेदितम् ।

सुसंग०—सहि, दंसिदं क्खु मेहाविणीए अत्तणो मेहाविततणं । [सखि, दर्शितं खलु मेधाविन्याऽऽत्मनो मेधावित्वम् ।]

विदूषकः—भो वअस्स अवि सुहाअदि दे लोअणाइं ? [भो वयस्य, अपि सुखयति ते लोचने ?]

साग०—(ससाध्वसं स्वगतम्) किं एसो भणिस्सदित्ति जं सच्चं जेव्व जीविदमरणाणं अंतरे वट्टामि । [किमेष भणिष्यतीति यत् सत्यं जीवितमरणयोरन्तरे वर्ते ।

राजा—सुखयतीति किमुच्यते । पश्य—

कृच्छ्रादूरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले
मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरङ्गविषमे निस्पन्दतामागता ।
मद्दृष्टिस्तृषितेव संप्रति शनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ
साकाङ्क्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने ॥११॥

कृच्छ्रादिति—कृच्छ्राद् ऊरुयुगं व्यतीत्य नितम्बस्थले सुचिरं भ्रान्त्वा अस्याः त्रिवलीतरङ्गविषमे मध्ये निस्पन्दतामागता मद्दृष्टिः, सम्प्रति तृषितेव तुङ्गौ

(दोनों देखती हैं)

राजा—मित्र, देखो देखो। ('अनुपम पूर्ण चन्द्र बनाकर·······' इत्यादि कहता है)

सुसंगता—सखी, बधाई है यह तेरा प्रियतम तुझे ही देख रहा है।

सागरिका—(लज्जा से) क्यो उपहास करके इस जन का तिरस्कार कर रही हो।

विदूषक—(राजा को हिलाकर) अरे, मैं पूछता हूँ कि इसे नीचा मुख की हुई क्यों चित्रित किया गया है ?

राजा - मित्र, यह तो सागरिका ने ही सब बतला दिया।

सुसंगता—सखी, मेधाविनी ने तो दिखला दी अपनी मेधाविता।

विदूषकः—हे मित्र, क्या (यह) तुम्हारे नयनों को सुख देती है ?

सागरिका—(आशङ्का से मन ही मन मे) यह क्या कहेगा। इससे सचमुच मैं जीवन और मृत्यु के बीच मे हूँ।

राजा—सुख देती है, इसमें क्या कहना है। देखो—

मुश्किल से इसकी दोनों जाघो को पार करके, चिरकाल तक कटि-प्रदेश में भ्रमण करके, उदर की तीनों रेखाओ (त्रवली) की तरङ्गों से दुर्गम मध्य भाग मे निश्चल हुई, मेरी दृष्टि, मानो प्यासी-सी अब धीरे-धीरे उन्नत स्तनों पर चढकर बार-बार चाह से जल-कणो को बहाने वाले (इसके) दोनो नेत्रों को देख रही है ॥११॥

स्तनौ शनैः आरुह्य जललवप्रस्यन्दिनी लोचने साकाङ्क्षं मुहुः ईक्षते। इत्यन्वयः। कृच्छ्रादूरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरङ्गविषमे निःस्पन्दतामागता। मद्दृष्टिस्तृषितेव सम्प्रति शनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ साकाङ्क्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने ॥ कृच्छ्रात्प्रयासेनोरुयुगं सक्थिद्वयं व्यतीत्याऽतिक्रम्य नितम्बस्थले सुचिरं भ्रान्त्वा ऽस्यास्त्रिवलीनां तरङ्गैर्विषमे मध्ये कटिदेशे निस्पन्दतां निश्चलत्वमागता मम दृष्टिः नयने संप्रति तृषितेव पिपासितेव वर्तुलावुन्नतौ स्तनौ शनैरारुह्य जलस्य लवान् कणान् प्रस्यन्दत इति जललवप्रस्यन्दिनी लोचने आकाङ्क्षया स्पृहया सहितं यथा स्यात्तथा मुहुरीक्षतेऽवलोकयति ॥११॥

सुसंगता—सहि, सुदं तुए। [सखि श्रुतं त्वया।]

साग०—(विहस्य) तुमं एव्वं सुणु जाए आलेक्खविण्णाणं एव्वं वण्णअदि [त्वमेव शृणु यस्या आलेख्यविज्ञानमेवं वर्ण्यते।]

विदूषक—भो वअस्स, जस्स उण ईदिसोओवि एव्वं समागमं बहु मण्णन्ति तस्स वि अत्तणो उवरि को परिहवो जेण एत्थ एव्व ताए आलिहिद अत्ताणअं ण पेक्खसि। [भो वयस्य, यस्य पुनरीदृश्योऽप्येवं समागमं बहु मन्यन्ते तस्याप्यात्मन उपरि कः परिभवः। येनात्रैव तया लिखितमात्मानं न प्रेक्षसे।

राजा—(निर्वर्ण्य) वयस्य, अनयाऽऽलिखितोऽहमिति यत्सत्यं ममात्मन्येव बहुमानः। तत्कथं न पश्यामि। पश्य—

भाति पतितो लिखन्त्यास्तस्या बाष्पाम्बुशीकरकणौघ।
स्वेदोद्गम इव करतलसंस्पर्शादिव मे वपुषि ॥१२॥

साग०—(आत्मगतम्) हिअअ, समस्सस समस्सस। मणोरधो वि दे एत्तिअं भूमिं ण गदो। [हृदय, समाश्वसिहि समाश्वसिहि। मनोरथोऽपि त एतावतीं भूमिं न गतः।]

सुसंगता—सहि, तुमं एव्व एक्का सलाहणीआ जाए भट्टा वि एव्व मन्नीअदि। [सखि, त्वमेवैका श्लाघनीया यया भर्ताप्येव मन्यते।]

विदूषक—(पार्श्वतोऽवलोक्य) भो वअस्स, एदं क्खु सरसकमलिणीदलमुणालविरइदं ताए मअणावत्थासूअअं सअणीअं लक्खीअदि। [भो वयस्य, एतत्खलु सरसकमलिनीदलमृणालविरचितं तस्या मदनावस्थासूचकं शयनीयं लक्ष्यते।]

राजा—वयस्य, निपुणमुपलक्षितम्। तथा हि।

---

¹भाति पतित इति—लिखन्त्याः तस्याः मे वपुषि पतितः एष बाष्पाम्बुशीकरकणौघः करतलसंस्पर्शात् स्वेदोद्गमः इव भाति। इत्यन्वयः। लिखन्त्याश्चित्रं रचयन्त्यास्तस्याः कन्याया मे वपुषि शरीरे पतित एष बाष्पाम्बूनामश्रुजलानां ये

सुसगता—सखी, सुना तूने ?

सागरिका—(हस कर) तू ही सुन, जिसकी चित्र-कला का इस प्रकार वर्णन किया जा रहा है।

विदूषक—लेकिन, हे मित्र, ऐसी (सुन्दरियाँ) भी जिसके मिलन को इस प्रकार बहुत मानती हैं, उसका अपने प्रति यह कैसा उपेक्षाभाव है कि इस (चित्रफलक) मे ही उसके द्वारा चित्रित किये गये स्वयं को नही देख रहे।

राजा—(ध्यान से देखकर) मित्र, इसने मेरा चित्र बनाया है, इससे सचमुच मुझे अपने पर भी बहुत मान हो गया (है), तब कैसे न देखूंगा ! देखो—

चित्र बनाती हुई का मेरे शरीर पर गिरा हुआ यह अश्रु-बिन्दुओ के कणों का समूह उसके करतल के स्पर्श से (उत्पन्न) पसीना-सा प्रतीत होता है ॥१२॥

सागरिका—(मन मे) हृदय, धैर्य रक्खो, धैर्य रक्खो। यहाँ तक तो तेरा मनोरथ भी नही पहुँचा था।

सुसगता—सखी, केवल तू ही प्रशंसनीय है जो स्वामी से भी इस प्रकार कहला रही है।

विदूषक—(चारों ओर देखकर) हे मित्र, यह ताजे कमलिनी के पत्तो तथा नालों से बना हुआ, उसकी कामावस्था को सूचित करने वाला बिछावन दीख रहा है।

राजा—मित्र, ठीक जाना। क्योंकि—

शीकराः पृषतस्तेषां कणाः सूक्ष्मावयवास्तेषामोघः समूहस्तस्याः करतलस्य संस्पर्शात्सपर्काद् हेतोः स्वेदस्य घर्मस्योद्गम इवाविर्भाव इव भाति ॥१२॥

सरसंति—सरसान्यार्द्राणि यानि कमलिनीना दलानि मृणालानि च तैर्विरचितम्।

परिम्लानं पीनस्तनजघनसंगादुभयत-
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनप्राप्य हरितम् ।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः संतापं वदति नलनीपत्रशयनम् ॥१३॥

अपि च

स्थितमुरसि विशालं पद्मिनीपत्रमेतत्
कथयति न तथान्तर्मन्मथोत्थामवस्थाम् ।
अतिगुरुपरितापम्लापिताभ्यां यथास्याः
स्तनयुगपरिणाहं मण्डलाभ्यां ब्रवीति ॥१४॥

विदूषक—(नाट्येन मृणालिकां गृहीत्वा) भो वअस्स, अअ अवरो ताए ज्जेव पीणत्थणुम्हाकिलिसन्तकोमलमुणालहारो । तापेक्खदु भवं । [भो वयस्य, अयमपरस्तस्या एव पीनस्तनोष्माक्लिश्यमानकोमलमृणालहारः । तत्प्रेक्षतां भवान् ।]

राजा—(गृहीत्वोरसि विन्यस्य । अयि जडप्रकृते,

परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात् किं शोषमायासि मृणलाहार ।
न सूक्ष्मतन्तोरपि तावकस्य तत्रावकाशो भवतः किमु स्यात् । १५॥

परिम्लानमिति—पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः परिम्लानं तनोः मध्यस्य परिमिलनमप्राप्य अन्तः हरित श्लथभुजलताक्षेपवलनैः व्यस्तन्यासम् इद नलिनीपत्रशयनं कृशाङ्ग्याः संतापं वदति । इत्यन्वयः । पीन पुष्ट च तत्स्तनजघन च तस्य सङ्गात्संपर्कादुभयत उभयभागयोः परिम्लानं शान्तं तनोः कृशस्य मध्यस्य कट्याः परिमिलनं सपर्कमप्राप्याऽलब्ध्वाऽन्तर्मध्ये हरितं हरिद्वर्णं श्लथौ शिथिलौ भुजौ लते इव तयोराक्षेपा आघाता वलनानि चलनानि च तैर्व्यस्तो विक्षिप्तो न्यासो रचना यस्य तदिदं नलिनीना पत्रैर्विरचित शयनं कृशमङ्गं यस्यास्तस्यास्तन्व्याः सतापं वदति कथयति । सूचयतीत्यर्थः ॥१३॥

स्थितमुरसीति—अस्याः उरसि स्थितमेतद् विशाल पद्मिनीपत्रमन्तः

स्थूल स्तन तथा जघन के सम्पर्क से दोनों ओर से मुरझाया हुआ क्षीण मध्य भाग का सम्पर्क न पाकर बीच मे हरा, और शिथिल लता-सदृश भुजाओं के (इधर-उधर) फैकने तथा चलाने से अस्त-व्यस्त रचना वाला, यह कमलिनी के पत्तों का बिछावन कृशाङ्गी के सन्ताप को कह रहा है ॥१३॥

और भी—

वक्षःस्थल पर स्थित यह विशाल कमलिनी-पत्र इसके हृदय की काम से उत्पन्न-दशा को उतना नही कह रहा है, जितना अत्यधिक ताप से मुरझाये हुए गोल चिन्हों से इसके दोनों स्तनों की विस्तालता को कह रहा है ॥१४॥

विदूषक—(नाट्यपूर्वक मृणालिका लेकर) हे मित्र, यह उसका ही दूसरा स्थूल स्तनो के सन्ताप से मुरझाया हुआ कोमल नालों का हार है। इसे देखो।

राजा—(लेकर वक्ष पर रखकर) अरे मूर्ख।

मृणालहार, उसके स्तनरूपी कलशो के मध्य से गिरा हुआ तू क्यो खिन्न हो रहा है ?, वहाँ तेरे सूक्ष्म धागे के लिये भी स्थान नही है, तेरे लिये फिर कैसे हो सकता है ॥१५॥

मन्यथोत्थामवस्थां तथा न कथयति यथा अतिगुरुपरितापम्लापिताभ्यां मण्डलाभ्यामस्याः स्तनयुगपरिणाहं ब्रवीति। इत्यन्वयः। अस्या उरसि स्थितमेतद् विशाल कमलिनीपत्रमन्तर्हृदये मन्मथोत्था कामजन्यामवस्था दशां तथा नां कथयति यथाऽतिगुरुणा महता परितापेन संतापेन म्लापिताभ्यां म्लानि प्रापिताभ्य मण्डलाभ्यां चक्रवालाभ्याः मस्याः स्तनयुगस्य परिणाहं विशालतां ब्रवीति ॥१४॥

पीनस्तनेति—पीनयोः स्तनयोरूष्मणा तापेन विलश्यमानो म्लायमानः कोमलो मृणालहारः।

परिच्युत इति—मृणालहार, तत्कुचकुम्भमध्यात् परिच्युतः किं शोषम् आयासि, तत्र तावकस्य सूक्ष्मतन्तोः अपि अवकाश न, भवतः किमु स्यात्। इत्यन्वयः। मृणालहार, तस्याः कुचौ कुम्भाविव तयोर्मध्यात्परिच्युतः पतित इति किं शोषं शुष्कतामायासि गच्छसि। तत्र तावकस्य त्वदीयस्य सूक्ष्मतन्तोः सूक्ष्मसूत्रस्याप्यकाशः स्थानं न विद्यते पुनर्भवतः सूत्रापेक्षया स्थूलस्याऽवकाशः किमु स्यात् किमिव भवेत् ॥१५॥

सुसङ्गता—(आत्मगतम्) हद्धी हद्धी गुरुअणुराओविसत्तहिअणो भट्टा असंबद्धं पि मन्तिदुं पउत्तो। ता अदो अवरं उण ण जुत्तं उवेक्खिदुं। भोदु। एव्व दाव (प्रकाशम्) सहि जस्स किदे तुमं आअदा सो अअं पुरदो चिट्ठदि। [हा धिक्, हा धिक्। गुर्वनुरागोद्दीप्तहृदयो भर्ताऽसंबद्धमपि मन्त्रयितुं प्रवृत्तः। तदतः परं पुनर्न युक्तमुपेक्षितुम्। भवतु। एव तावत्। सखि, यस्य कृते त्वमागता सोऽयं पुरतस्तिष्ठति]

सागरिका—(सासूयम्) सुसंगदे, कस्स किदे अहं एत्थ आअदा।

[सुसंगते, कस्य कृतेऽहमत्राऽऽगता।]

सुसंगता—(विहस्य) अइ अण्णसंकिदे, णं चित्तफलअस्स। ता गेण्ह एदं [अयि अन्यशङ्किते, ननु चित्रफलकस्य। तद् गृहाणैनम्।]

सागरिका—(सरोषम्) अकुसलम्हि तुह ईदिसाणं आलावणम्। ता अण्णदो गमिस्सं। (इति गन्तुमिच्छति)। [अकुशलाऽस्मि तवेदृशानामालापानाम्। तदन्यतो गमिष्यामि।]

सुसंगता—(सागरिकां हस्ते गृहीत्वा) अइ असहणे, इह दाव मुहुत्तं चिट्ठ जाव इमादो कअलीघरादो चित्तफलअं गेण्हिअ आअच्छामि। [अयि असहने इह तावन्मुहूर्तं तिष्ठ यावदस्मात्कदलीगृहाच्चित्रफलकं गृहीत्वागच्छामि।]

सागरिका—सहि, एव्व करेहि। [सखि, एवं कुरु।]

(सुसंगता कदलीगृहाभिमुखं परिक्रामति)

विदूषकः—(सुसंगतां दृष्ट्वा ससंभ्रमम्) भो वअस्स, पच्छादेहि एदं चित्तफलअं। ए सा क्खु देवीए परिचारिआ सुसंगदा आअदा। [भो वयस्य, प्रच्छादयैतं चित्रफलकम्। एषा खलु देव्याः परिचारिका सुसंगताऽऽगता।]

(राजा पटान्तेन फलकमाच्छादयति)

सुसंगता—(उपसृत्य) जअदु जअदु भट्टा। [जयतु जयतु भर्ता।]

राजा—सुसंगते, स्वागतम्। इहोपविश्यताम्।

(सुसंगतोपविशति)

राजा—सुसंगते, कथमहमस्थोऽहं भवत्या ज्ञातः।

सुसंगता—(विहस्य) भट्टा ण केवलं तुमं। अअं चित्तफलएण सह सव्वो वुत्तन्तो मए विण्णदो। ता देवीए गदुअ णिवेदइस्सं। (इति गन्तुमिच्छति)।

सुसङ्गता—(स्वगत) आह ! धिक्कार ! अत्यधिक अनुराग से व्याकुल हृदय वाले स्वामी ने (अब) असम्बद्ध भी कहना प्रारम्भ कर दिया। अब इनसे आगे उपेक्षा करना ठीक नहीं। अच्छा, तब ऐसा (करूं)। (प्रगट में) सखी, जिसके लिये यहां आई थी, वह यह सामने है।

सागरिका—(चिढ़ कर) सुसङ्गता, मैं यहां किसके लिये आई थी।

सुसङ्गता—(हंस कर) अरी, कुछ अन्य समझने वाली. चित्रपट के लिये। तो इसे ले ले।

सागरिका—(क्रोध से) मैं तेरी ऐसी बातों को नहीं समझ सकती। तो मैं अन्यत्र चली जाऊंगी। (यह कहकर जाना चाहती है)।

सुसङ्गता—(सागरिका का हाथ पकड़ कर) अरी कोप करने वाली, मुहूर्त-भर तो यहां ठहर, जब तक मैं कदली-गृह से चित्रपट लेकर आऊं।

सागरिका—सखी, ऐसा (ही) कर।

(सुसङ्गता कदलीगृह की ओर घूमती है)

विदूषक—(सुसङ्गता को देखकर घबराहट से) ऐ मित्र, इस चित्रपट को छिपा लो। यह महारानी की सेविका सुसगता आ रही है।

(राजा आंचल से फलक को ढकता है)

सुसङ्गता—(समीप जाकर) स्वामी की जय हो।

राजा—सुसगता, (तेरा) स्वागत। यहां बैठो।

(संसुगता बैठती है)

राजा—सुसंगता, यहां स्थित हमे तुमने कैसे जान लिया ?

सुसङ्गता—(हंसकर) स्वामिन, केवल तुम्हें ही नही, बल्कि चित्रपट सहित यह सारी बात भी मैंने जान ली है। तो अब जाकर महारानी से कह दूंगी।

गुर्वनुरागेति—गुरुणा महताऽनुरागेणोत्क्षिप्तमाकुलित हृदय यस्य सः।

[भर्तः, न केवल त्वम्, अयमपि चित्रफलकेन सह सर्वो वृत्तान्तो मया विज्ञातः। तद्देव्यै गत्वा निवेदयामि।]

विदूषक—(अपवार्य सभयम्) भो वअस्स, सव्वं सम्भावीअदि। मुहरा क्खु एसा गब्भादासी। ता पारितोसिएण संतोसेहि णं। [भो वयस्य, सर्वं संभाव्यते मुखरा खल्वेषा गर्भदासी तत्पारितोषिकेण संप्रीणयैनाम्।]

राजा—युक्तमुक्तं भवता। ((सुसंगता हस्ते गृहीत्वा) सुसंगते, क्रीडामात्रमेवैतत्। अकारण त्वया देवी न खेदयितव्या। इद ते पारितोषिकम्। (इति कर्णाभरण प्रयच्छति)।

सुसङ्गता—(प्रणम्य सस्मितम्) भट्टा अलं सङ्काए। मए वि भट्टिणो पसादेण कीलिद जेव्व। ता किं कण्णाहरण एण। एसो ज्जेव मे गुरुओ पसाओ ज कीस तुए अहं एत्थ चित्तफलए आलिहिदित्ति कुविदा मे पिअसही साअरिआ ता गदुअ पसादेदु णं भट्टा। [भर्तः, अलं शङ्कया। मयाऽपि भर्तुः प्रसादेन क्रीडितमेव। तत्किं कर्णाभरणेन। एष एव मे गुरुः प्रसादो यत् कस्मात् त्वयाऽहमत्र चित्रफलक आलिखितेति कुपितो मे प्रियसखी सागरिका। तद् गत्वा प्रसादयत्वेना भर्ता।]

राजा—(ससंभ्रममुत्थाय) क्वासौ क्वासौ।

सुसङ्गता—इदो इदो भट्टा। [इत इतो भर्ता।]

विदूषक—भो गेण्हामि एदं चित्तफलअं। कदा वि पुणो वि एदिणा कज्जं भविस्सदि। [भो गृह्णाम्येतं चित्रफलकम्। कदापि पुनरप्येतेन कार्यं भविष्यति।]

(सर्वे कदलीगृहान्निष्क्रान्ताः)

सागरिका—(राजानं दृष्ट्वा सहर्षं ससाध्वस सकम्पं च स्वगतम्) हद्धी हद्धी। एदं पेक्खिअ अदिसद्धसेण ण सक्कणोमि पदादो पदं वि चलितुम् ता किं दाणि एत्थ करिस्सं [हा धिक्, हा धिक्। एत प्रेक्ष्यातिसाध्वसेन न शक्नोमि पदात् पदमपि चलितुम्। तत्किमिदानीमत्र करिष्यामि।]

विदूषक—(सागरिकां दृष्ट्वा) ही ही भो, अच्चरिअं अच्चरिअं। ईदिसं रूवं माणुसलोए ण पुणो दीसदि ता तक्केमि पआवदिणो वि एदं णिम्मिअ वम्हओ समुप्पण्णो त्ति। [ही ही भोः, आश्चर्यमाश्चर्यम्। ईदृश रूपं मनुष्यलोके न

विदूषक—(एक ओर को होकर, भय से) ऐ मित्र, यह सब सम्भव है। यह गर्भ की दासी बड़ी वाचल है। इसलिये इनाम से इसे प्रसन्न करो।

राजा—आपने ठीक कहा है। (सुसंगता का हाथ पकड़ कर) सुसंगता, यह तो खेल-भर था। तुम्हें व्यर्थ देवी को दुःखी नहीं करना चाहिये। लो, यह तुम्हारा इनाम है। (कर्णाभूषण देता है)

सुसंगता—(प्रणाम करके मुस्कराते हुए) स्वामी, डरिये नहीं। मैंने भी स्वामी के प्रसाद से खेल ही किया है। इसलिये कर्णाभूषण से क्या? मुझ पर स्वामी का यही महान् प्रसाद है कि तूने इस चित्रपट में मेरा चित्र क्यों बनाया, इस कारण मेरी सखी सागरिका कुपित हो गई है, स्वामी चलकर उसे प्रसन्न कर दें।

राजा—(जल्दी से उठकर) वह कहाँ है? कहाँ है?

सुसंगता—स्वामी इधर (चलिये), इधर।

विदूषक—अरे, इस चित्रपट को लिये लेता हूं। कभी फिर भी इससे काम पड़ेगा।

(सब कदलीगृह से बाहर निकलते हैं)

सागरिका—(राजा को देखकर हर्ष, भय तथा कम्पन सहित) हाय! धिक्! इसे देखकर अत्यधिक घबराहट के कारण मैं एक पग भी नहीं चल पा रही हूं। तो अब इस दशा में क्या करूं?

विदूषक—(सागरिका को देखकर) अरे! रे! आश्चर्य है! ऐसा रूप मनुष्यलोक में तो अन्यत्र देखा नहीं। इससे मैं सोचता हूं कि इसे बनाकर प्रजापति को भी विस्मय हो गया होगा।

पुनर्दृश्यते । तत्तर्कयामि प्रजापतेरपीदं निर्माय विस्मयः समुत्पन्न इति ।

राजा—वयस्य, ममाप्येव मनसि वर्तते ।

दृशः पृथुतरीकृता जितनिजाब्जपत्रत्विषः
चतुर्भिरपि साधु साध्विति मुखैः समं व्याहृतम् ।
शिरांसि चलितानि विस्मयवशाद् ध्रुवं वेधसा
विधाय ललनां जगत्त्रयललामभूतामिमाम् ॥१६॥

सागरिका—(सासूयं कुसंगतामालोक्य) सहि, ईदिसो चित्तफलओ तुए आणीदो । (इति गन्तुमिच्छति) । [सखि, ईदृशश्चित्रफलकस्त्वयाऽऽनीतः ।]

दृष्टिं रुषा क्षिपसि भामिनि यद्यपीमां
स्निग्धेयमेष्यति तथापि न रूक्षभावम् ।
त्यक्त्वा त्वरां व्रज पदस्खलितैरयं ते
खेदं करिष्यति गुरुर्नितरां नितम्बः ॥ १७ ॥

सुसंगता— भट्टा, अदिकोवणा क्खु एसा । ता हत्थे गेण्हिअ पसादेहि णं । [भर्तः, अतिकोपना खल्वेषा तद्धस्ते गृहीत्वा प्रसादयैनाम् ।]

राजा—(सानन्दम्) यथाह भवती । [सागरिकां हस्ते गृहीत्वा स्पर्शसुखं नाटयति) ।

विदूषक—भो एसा क्खु तुए अपुव्वा सिरी समासादिदा । [भो, एषा खलु त्वयाऽपूर्वा श्रीः समासादिता ।]

दृश इति—जगत्त्रयललामभूताम् इमां ललनां विधाय वेधसा ध्रुवं विस्मयवशात् जितनिजाब्जपत्रत्विषः दृशः पृथुतरीकृताः, चतुर्भिः अपि मुखैः समं साधु-साधु' इति व्याहृतम्, शिरांसि चलितानि । इत्यन्वयः । जगतां त्रयं जगत्त्रयं तस्य ललामभूतामाभूषणभूतामिमां ललनां स्त्रियं विधाय सृष्ट्वा वेधसा ब्रह्मणा ध्रुवं निश्चयेन विस्मयस्याऽऽश्चर्यस्य वशादधीनत्वाज्जिता निजस्य स्वस्याऽऽसन-

राजा—मित्र, मेरे भी मन में ऐसा ही आ रहा है ।

निश्चय ही ब्रह्मा ने तीनों लोकों की भूषण-स्वरूप इस ललना को बनाकर विस्मय-वश अपने (वासस्थान) पद्म के पत्रों की कान्ति को जीतने वाले नेत्र विस्फारित किये होंगे, चारों मुखों से एक साथ 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' यह कहा होगा और (उसके) सिर हिल उठे होंगे ॥१६॥

सागरिका—(चिढ़कर सुसङ्गता को देखकर) सखी, ऐसा चित्रपट लाई है तू । (यह कहकर चली जाती है)

राजा—हे सुन्दरी, यद्यपि तू रोष से यह दृष्टि डाल रही है, फिर भी स्नेह-भरी यह रूखी नहीं होगी । तू झटपटी छोड़कर चल । (अन्यथा पैर के फिसल जाने से यह तेरा भारी नितम्ब तुझे अत्यधिक कष्ट देगा ॥ १७॥

सुसङ्गता—स्वामी, यह बड़ी कोपशील है । इसलिये इसे हाथ पकड़ कर मनाओ ।

राजा—(आनन्द से) जैसा आप कहें । (सागरिका को हाथ से पकड़कर स्पर्श के सुख का अभिनय करता है ।)

विदूषक—अरे तूने निश्चय ही यह अनुपम श्री पाली है ।

भूतस्याऽब्जस्य कमलस्य पत्राणां दलानां त्विट् कान्तिर्याभिस्ता दृशो नेत्राणि पृथुतरीकृता विस्फारिताः स्युः चतुर्भिरपि मुखैः समं युगपत् साधु साध्विति व्याहृतमुक्तं स्यात्, शिरांसि च चलितानि चालितानि स्युः ॥१६॥

दृष्टि रुषेति—भामिनि, यद्यपि इमां दृष्टिं रुषा क्षिपसि, तथापि स्निग्धा इयं रूक्षभावं न एष्यति । त्वरा त्यक्त्वा व्रज, पदस्खलितैः अयं ते गुरुः नितम्बः नितरां खेदं करिष्यति । इत्यन्वयः । हे भामिनि कोपने, यद्यपि त्वमिमां दृष्टिं रुषा क्रोधेन क्षिपसि तथापि स्निग्धा स्नेहपूर्णेयं (दृष्टिः) रूक्षभावं रूक्षतां नैष्यति यास्यति । त्वरां संभ्रमं त्यक्त्वा व्रज गच्छ, (अन्यथा) पदानां चरणन्यासानां स्खलितैर्विसंष्टुलैः पातैरयं ते तव गुरुर्नितम्बो नितरामधिकं खेदमायासं करिष्यति जनयिष्यति ॥१७॥

राजा — वयस्य सत्यम् ।

श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः ।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः ॥१८॥

सुसंगता — सहि अदिणिट्ठुरा दाणि सि तुमं जा एव्वं भट्टिणा हत्थेवलम्बिदा वि कोवं ण मुञ्चेसि । [सखि, अतिनिष्ठुरेदानीमसि त्वं यैवं भर्त्रा हस्तेऽवलम्बितापि कोपं न मुञ्चसि ।]

सागरिका—(सभ्रूभंगम्) अयि सुसंगदे, अज्ज वि ण विरमेसि । [अयि सुसंगते, अद्यापि न विरमसि ।]

राजा—अयि प्रसीद । न खलु सखीजने युक्त एवं कोपानुबन्धः ।

विदूषक—एसा क्खु अवरा देवी वासवदत्ता । [एषा खलु अपरा देवी वासवदत्ता ।]

(राजा सशङ्कितं सागरिकाया हस्तं मुञ्चति)

सागरिका—(ससम्भ्रमम्) सुसंगदे, किं दाणि एत्थ करिस्सं । (सुसंगते) किमिदानीमत्र करिष्ये ।]

सुसंगता—सहि, एदं तमालवीथिअं अन्तरिअ णिक्कमम्ह । [सखी, एतां तमालवीथिकामन्तरयित्वा निष्क्रामावः ।]

(इति निष्क्रान्ते)

राजा—(पार्श्वतोऽवलोक्य) वयस्य क्व सा देवी वासवदत्ता ।

विदूषक—भो ण जाणामि क्व सा । मए एसा क्खु अवरा देवी वासवदत्ता अदिदीहरोसदाएत्ति भणिदं । [भोः न जानामि क्व सा । मयैषा खल्वपरा देवी वासवदत्ताऽदीर्घरोषतयेति भणितम् ।]

राजा—धिङ् मूर्ख,

प्राप्ता कथमपि दैवात्कण्ठमनीतैव सा प्रकटरागा ।
रत्नावलीव कान्ता मम हस्ताद् भ्रंशिता भवता ॥१९॥

श्रीरेषेति—एषा श्रीः अस्याः पाणिः अपि पारिजातस्य पल्लवः, अन्यथा एवं स्वेदच्छद्मामृतद्रवः कुतः स्रवति । इत्यन्वयः । एषैव सुन्दरी श्रीर्लक्ष्मीः । अस्याः पाणिर्हस्तोऽपि पारिजातस्य कल्पवृक्षस्य पल्लवः किसलयो वर्तते । अन्यथा

राजा—मित्र, सचमुच,

यह श्री है, और इसका हाथ पारिजात का किसलय है। नहीं तो, यह स्वेद के व्याज से अमृत-रस कहाँ से बह रहा है ॥१८॥

सुसंगता—सखी, तू अब बड़ी कठोर है, जो इस प्रकार स्वामी द्वारा हाथ में धारण की गई भी कोप नहीं छोड़ रही।

सागरिका—(भौं टेढ़ी करके) अरी सुसंगता, तू अभी नहीं रुकेगी।

राजा—अयि, प्रसन्न हो। सखियों पर इस प्रकार लगातार कोप ठीक नहीं है।

विदूषक—यह तो दूसरी महारानी वासवदत्ता है।

(राजा चौंक कर सागरिका का हाथ छोड़ देता है)

सागरिका—(घबरा कर) सुसंगता, अब इस अवस्था में क्या करूं ?

सुसङ्गता—सखी, इस तमाल वृक्षों की पङ्क्ति की ओट लेकर निकल चलें।

(दोनों निकल गईं)

राजा—(चारों ओर देखकर) मित्र, महारानी वासवदत्ता कहाँ है ?

विदूषक—अरे, मैं नहीं जानता कि वह कहाँ है, मैंने तो (इसके) अतिदीर्घ कोप वाली होने के कारण कहा था कि यह दूसरी महारानी वासवदत्ता है।

राजा—छिः ! मूर्ख,

किसी प्रकार भाग्य से प्राप्त हुई, स्पष्ट अनुराग वाली वह कान्ता, स्फुट कान्ति वाली रत्नावली के समान, कण्ठ में बिना धारण की गई ही आपने मेरे हाथ से गंवा दी ॥१९॥

यद्यपि धीर्न स्यादस्याश्च पाणिः पारिजातस्य पल्लवो न स्यात्तदैव स्वेदस्य घर्माम्भुनश्छद्मना व्याजेनामृतद्रवः पीयूषरसः कुतः कस्मात्कारणात्स्रवति च्यवते ॥१८॥

प्राप्ता कथमिति—कथमपि दैवात्प्राप्ता प्रकटरागा कान्ता सा रत्नावलीव कण्ठमनीता एव भवता मम हस्तात् भ्रंशिता। अन्वयः। कथमपि कथञ्चिद् दैवात्सुदैवात्प्राप्ता लब्धा, प्रकटरागा प्रकटः स्पष्टं दृश्यमानो रागोऽनुरागो कान्तिर्यस्या सा, कान्ता कमनीया सा (सागरिकापराभिधाना रत्नावलीव रत्नमालेव कण्ठमनीतैवाप्राप्तैव भवता (वसन्तकेन) मम हस्तात् भ्रंशिता च्याविता ॥१९॥

(ततः प्रविशति वासवदत्ता काञ्चनमाला च)

वासवदत्ता—हञ्जे कञ्चणमाले अध केत्तिअदूरे दाणिं सा अज्जतेण परिग्गहिदा णोमालिआ। [हञ्जे काञ्चनमाले, अथ कियद्दूर इदानीं साऽऽर्यपुत्रेण परिगृहीता नवमालिका ?

काञ्चन०—भट्टिणी, एदं कअलीघरं अदिक्कमिअ दोसदि ज्जेव्व। [भर्त्रि, एतत्कदलीगृहमतिक्रम्य दृश्यत एव।]

वासवदत्ता—तादेसेहि मग्गं। [तदादेशय मार्गम्]

काञ्चन०—एदु एदु भट्टिणी। [एत्वेतु भर्त्री।]

राजा—वयस्य, इवेदानीं प्रियतमा द्रष्टव्या।

काञ्चन०—भट्टिणी जधा समीवे भट्टा मन्तेदि तधा तक्केमि भट्टिणी एव पडिवालयन्तो चिट्ठदि त्ति। ता उवसप्पदु भट्टिणी। [भर्त्रि, यथा समीपे भर्ता मन्त्रयति तथा तर्कयामि भर्त्रीमेव प्रतिकालयस्तिष्ठति। तदुपसर्पतु भर्त्री]

वासवदत्ता—(उपसृत्य) जअदु जअदु अज्ज उत्तो। [जयतु जयत्वार्यपुत्र.]

राजा—(अपवार्य) वयस्य, प्रच्छादय चित्रफलकम्। (विदूषकः कक्षायां फलकं निक्षिप्योत्तरीयेण प्रच्छादयति)

वासवदत्ता—अज्जउत्त, अध कुसुमिदा णोमालिआ।

[आर्यपुत्र, अथ कुसुमिता नवमालिका।]

राजा—देवि, प्रथममिहागतैरप्यस्माभिस्त्वं चिरयसीति न दृष्टा। तदिहैव समेतावेव तां पश्यावः।

वासवदत्ता—(निर्वर्ण्य) अज्जउत्त मुहराआदो ज्जेव मए जाणिदं जधा कुसुमिदा णोमालिअत्ति। ता ण गमिस्सं। [आर्यपुत्र, मुखरागादेव मया ज्ञातं यथा कुसुमिता नवमालिकेति। तन्न गमिष्यामि।]

विदूषक—ही ही भो, जिदं जिदं अम्हेहिं। (इति बाहू प्रसार्य नृत्यति। नृत्यतः कक्षान्तरात् फलकः पतति)। [ही ही भोः, जितं जितमस्माभिः।]

(राजापवार्याङ्गुल्या विदूषकं तर्जयति)

विदूषकः—(अपवार्य) भो मा कुप्प। तुण्हीओ चिट्ठ। अहं ज्जेव्व एत्थ जाणिस्सं। [भो मा कुप्य। तूष्णीकस्तिष्ठ। अहमेवात्र ज्ञास्यामि।]

(तत्पश्चात् वासवदत्ता और काञ्चनमाला प्रवेश करती है)

वासव०—सखी काञ्चनमाला, आर्यपुत्र द्वारा अपनाई हुई वह नवमालिका अब कितनी दूर है ?

काञ्चनमाला—स्वामिनी, इस कदलीगृह को पार करके दीख ही रही है।

वासव०—तो मार्ग बतलाओ।

काञ्चनमाला—स्वामिनी चलिये, चलिये।

राजा—मित्र, अब प्रिया को कहाँ देखा जाय ?

काञ्चनमाला—स्वामिनी, जैसे कि स्वामी समीप बोल रहे हैं, उससे समझती हूँ कि वह स्वामिनी की ही प्रतीक्षा कर रहे हैं। इसलिये स्वामिनी समीप आयें।

वासव०—(समीप जाकर) आर्यपुत्र की जय हो, जय हो।

राजा—(एक ओर को होकर) मित्र, चित्रपट को ढक लो।

(विदूषक चित्रपट को बगल में रखकर चादर से ढकता है)

वासव०—आर्यपुत्र, क्या नवमालिका पर फूल आ गये ?

राजा—देवी, हमने यहाँ पहले आकर भी इसलिये नहीं देखी, क्योंकि तुम्हें देर थी। तब आओ। दोनों साथ ही देखें।

वासव०—(ध्यान से देखकर) आर्यपुत्र, (आपके) मुख की कान्ति से ही मैंने जान लिया कि नवमालिका पर कुसुम आ गये हैं। इसलिये मैं नहीं जाऊंगी।

विदूषक—आ! हा! हा! अरे, हम जीत गये, जीत गये। (दोनों भुजायें फैलाकर नाचता है। नाचते हुए की बगल से फलक गिर पड़ता है)।

(राजा एक ओर को होकर विदूषक को अंगुली के संकेत से सचेत करता है)।

विदूषक—(मुँह फेर कर) अरे, कोप न करो। चुप रहो। इस विषय में मैं स्वयं जान लूंगा।

काञ्चन०—(फलकं गृहीत्वा निरूप्यापवार्य) भट्टिणी, पेक्ख दाव किं एत्थ चित्तफलए आलिहिदं। [भर्त्रि, प्रेक्षस्व तावत् किमत्र चित्रफलक आलिखितम्।]

वासवदत्ता—(निरूप्यापवार्य) कञ्चणमाले, अअं अज्जउत्तो इअं उण साअरिआ। किण्णेदं। [काञ्चनमाले, अयमार्यपुत्रः। इयं पुनः सागरिका। किन्न्वेतत् ?]

काञ्चन०—भट्टिणी, अहं वि एवं एव्व चिन्तेमि। [भर्त्रि, अहमप्येतदेव चिन्तयामि।]

वासव०—(सकोपहासम्) अज्जउत्त, केण एदं आलिहिदं ? [आर्यपुत्र, केनेदमालिखितम् ?]

राजा—(सवैलक्ष्यस्मितमपवार्य) वयस्य, किं ब्रवीमि।

विदूषक—(अपवार्य) भो, मा चिन्तेहि। अहं उत्तरं दाइस्सं। [प्रकाशं वासवदत्तां प्रति] भोदि, मा अण्णधा संभावेहि। अप्पा किल दुक्खं आलिहीअदि त्ति मम वअणं सुणिअ पिअवअस्सेण एव्व आलेक्खविण्णाणं दंसिदं। [भोः मा चिन्तय अहमुत्तरं दास्यामि। भवति, मान्यथा संभावय। आत्मा किल दुःखमालिख्यत इति मम वचनं श्रुत्वा प्रियवयस्येनैतदालेख्यविज्ञानं दर्शितम्।]

राजा—यथाह वसन्तकस्तथैवैतत्।

वासव०—(फलकं निर्दिश्य) अज्जउत्त, एसा वि जा अवरा तुह समीवे आलिहिदा ता किं अज्ज-वसन्तअस्स विण्णाणम्। [आर्यपुत्र, एषाऽपि यापरा तव समीप आलिखिता तत्किमार्यवसन्तकस्य विज्ञानम्।]

राजा—(सवैलक्ष्यस्मितम्) देवि, अलमन्यथा शङ्कया। इयं हि कापि कन्यका स्वचेतसैव परिकल्प्याऽऽलिखिता न तु दृष्टपूर्वा।

विदूषक—भोदि, सच्चं सच्चं। सवामि बम्हसुत्तेण जइ कदा वि अम्हेहिं ईदिसी दिट्ठपुव्वा। [भवति, सत्यं सत्यम्। शपे ब्रह्मसूत्रेण यदि कदाप्यस्माभिरीदृशी दृष्टपूर्वा।]

काञ्च०—(अपवार्य) भट्टिणी, घुणक्खरं पि कदा वि संभवदि ज्जेव्व। [भर्त्रि, घुणाक्षरमपि कदापि संभवत्येव।]

वासव०—(अपवार्य) अइ उज्जुए, वसन्तओ क्खु एसो। ण जाणासि तुमं एदस्स वक्कभणिदाइं। (प्रकाशम्) अज्जउत्त, मम उण एदं चित्तफलअं पेक्खिअ

काञ्चनमाला—(फलक लेकर, ध्यान से देखकर, मुख दूसरी ओर करके) स्वामिनी, देखो तो इस चित्रपट में क्या लिखा है ?

वासव०—(ध्यान से देखकर, एक ओर को) काञ्चनमाला, यह आर्यपुत्र है, और यह सागरिका है। यह क्या है ?

काञ्चनमाला—स्वामिनी, मैं भी यही समझती हूँ।

वासव०—(कोप और हास के साथ) आर्यपुत्र, यह किसने बनाया है ?

राजा—(लज्जा और मुस्कराहट के साथ, मुंह फेरकर) मित्र क्या कहूँ ?

विदूषक—(एक ओर को) अरे, चिन्ता न करो। मैं उत्तर दूंगा। (प्रकट मे, वासवदत्ता को लक्ष्य करके) माननीय, अन्य कुछ न समझिये। 'अपना चित्र कठिनता से बनाया जा सकता है, मेरे इस वचन को सुनकर प्रिय मित्र ने यह चित्र-कला की प्रवीणता प्रदर्शित की है।

राजा—वसन्तक जैसा कह रहा है, यह बिल्कुल वैसा ही है।

वासव०—(चित्रफलक की ओर संकेत करके) आर्यपुत्र, यह जो दूसरी तुम्हारे पास अंकित की गई है, वह क्या आर्य वसन्तक की कला है ?

राजा—(लज्जा के साथ मुस्करा कर) महारानी, और कोई सन्देह न कीजिये। यह किसी कन्या का अपने मन से ही कल्पना करके चित्र बना दिया है। लेकिन (यह) पहले (कभी) देखी नहीं है।

विदूषक—माननीय, (यह बिल्कुल) सत्य है। मैं यज्ञोपवीत की शपथ लेता हूँ जो ऐसी हमने कभी देखी हो।

काञ्चनमाला—(एक ओर को) स्वामिनी, कभी संयोगवश भी हो सकता है।

वासव०—(एक ओर को) अरी भोली, यह वसन्तक है। तू इसकी टेढ़ी बातों को नही समझती। (प्रकट मे) आर्यपुत्र मेरे तो इस चित्र को देखते हुए

सीसवेअणा समुप्पण्णा । ता गमिस्सं अहं । (प्रस्थिता) । [अयि ऋजुके, वसन्तकः खल्वेषः । त्वमेतस्य वक्रभणितानि न जानासि । आर्यपुत्र, ममः पुनरिदं चित्रफलकं प्रेक्ष्य शीर्षवेदना समुत्पन्ना । तद् गमिष्याम्यहम् ।]

राजा—(पटान्तेन गृहीत्वा) देवि,

प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते
करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः ।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि च ज्ञास्यसि मृषा
किमेतस्मिन्वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे ॥२०॥

वासव०—(सविनय पटान्तमाकर्षन्ती) अज्जउत्त, मा अण्ण धा संभावेहि । सच्चं एव्व मं सीसवेअणा बाधेदि ता गमिस्सं । [आर्यपुत्र, मान्यथा सम्भावय । सत्यमेव मां शीर्षवेदना बाधते । तद्गमिष्यामि ।]

(उभे निष्क्रान्ते)

विद—(पार्श्वाण्यवलोक्य) भो, दिट्ठआ व ड्ढसि क्खेमेण अम्हाणं अदिक्कन्ता अआलवादावली । [भोः दिष्ट्या वर्धसे । क्षेमेणास्माकमतिक्रान्ताऽकालवातावली ।

राजा—धिङ् मूर्ख, कृतं परितोषेण । यान्त्याऽभिजात्मार्ग्निगूढो न लक्षितस्त्वया देव्याः कोपानुबन्धः । ·

भ्रूभङ्गे सहणोदगतेऽपि वदनं नीतं परा नम्रता-
मीपन्मां प्रति भेदकारि हसितं नोक्तं वचो निष्ठुरम् ।
अन्तर्बाष्पजडीकृतं प्रभुतया चक्षुर्न विस्फारित
कोपश्च प्रकटीकृतो दयितया मुक्तश्च न प्रश्रयः ॥२१॥

प्रसीदेतीति—(यदि) प्रसीदेति ब्रूयामिद कोपऽसति न घटत । पुनः एव न करिष्यामीति (चेद् ब्रूयाम्) अभ्युपगमः भवेत् । (चेत्) मे दोषः नास्तीति (ब्रूयाम्) इदमपि च त्वं मृपा ज्ञास्यसि । प्रियतमे, एतस्मिन् किं वक्तृ क्षममिति न वेद्मि । इत्यन्वयः । हे देवि यदि प्रसीद मयि प्रसन्ना भवेति ब्रूया कथयेयमिदं कोपेऽसत्यविद्यमाने न घटते युज्यते । पुनर्भूय एवं न करिष्यामीति चेद् ब्रूयां

सिर में पीड़ा हो गई। मैं जा रही हूं। (प्रस्थान करती है)।

राजा—(आंचल पकड़कर) देवी,

यदि 'प्रसन्न होओ' यह कहूं तो यह कोप न होने पर ठीक नहीं बैठता, यदि 'फिर ऐसा नही करूंगा' यह कहूं तो (दोष की) स्वीकृति हो जायेगी, यदि 'मेरा दोष नही है' यह कहूं तो तुम इसे भी झूठ समझोगी, प्रियतमे, इस परिस्थिति मे क्या कहना उचित है, मैं यह नही समझ पा रहा ॥२०॥

वासव०—(विनयपूर्वक आंचल को खीचते हुये) आर्यपुत्र, और कुछ न समझिये। सचमुच मुझे सिर की पीड़ा सता रही है। इसलिए जा रही हूं।

(दोनों चली जाती है)

सागरिका—(चारों ओर देखकर) अरे, तुम्हारा बड़ा सौभाग्य है। यह अकाल की आंधी हमारे क्षेमपूर्वक बीत गई।

राजा—छि·! मूर्ख सन्तोष से बस करो। जाती हुई देवी के भद्रता से छिपाये गये कोप के प्रवाह को तूने देखा नही।

अकस्मात् भ्रुकुटि चढ जाने पर भी मुख बहुत नीचा कर लिया, मेरे प्रति कुछ भेद-भरा मन्द हास किया, कोई निष्ठुर वचन नही कहा, आत्म-वशिता के कारण अन्दर भरे आसुओ से जड़ की हुई आखें (मेरी ओर) नही निकाली। प्रिया ने अपना कोप तो प्रकट कर दिया, लेकिन विनय नही छोड़ा ॥२१॥

तदेदमपि त्वं मृषाऽमस्य ज्ञास्यसि। प्रियतमे, एतस्मिन्नस्मिन् प्रस्तावे किं वस्तु क्षममुचितमिति न वेद्मि जानामि ॥२०॥

अकालवातेति—अयुक्तः कालोऽकालस्तत्र वातावली वात्या।

भ्रूभङ्ग इति—भ्रूभङ्गे सहसा उद्गतेऽपि वदनं परां नम्रतां नीतम्, मां प्रति भेदकारि ईषद् हसितम्, निष्ठुरं वचः न उक्तम्, अन्तर्बाष्पजडीकृत चक्षुः प्रभुतया न विस्फारितम्। दयितया कोपश्च प्रकटीकृतः प्रश्रयः च न मुक्तः। इत्यन्वयः। भ्रुवोभङ्गो भ्रूभगो भ्रुकुटिवन्धस्तस्मिन् सहसाऽकस्मादुद्गतेऽपि वदनं मुख परामधिका नम्रतामदर्नात नीतं प्रापितम्, मा प्रति मामुद्दिश्य भेदकारि हृदयस्पर्शीपन्मन्द हसितम् निष्ठुरं परुषं वचो नोक्तम्, अन्तर्मध्ये यद्

तदेहि । देवीमेव प्रसादयितुं गच्छावः ।

(इति निष्कान्ताः सर्वे)

॥ इति कदलीगृहो नाम द्वितीयोऽङ्कः ॥

तृतीयो अंकः

(ततः प्रविशति मदनिका)

मदनिका—(आकाशे) कोसम्बिए, कोसम्बिए, अवि दिट्ठ तुए भट्टिणो सआसे कञ्चणमाला ण वा (कर्णं दत्वा) किं भणासि—'को वि कालो ताए आअच्छिअ गदाए त्ति । ता कहिं दाणिं पेक्खिस्सं । (अग्रतोऽवलोक्य) कहं एसा क्खु कञ्चनमाला इदो ज्जेव्व आअच्छदि ता जाव णं उवसप्पामि। [कौशाम्बिके, कौशाम्बिके, अपि दृष्टा त्वया भर्तुः सकाशे काञ्चनमाला न वा । किं भणसि—कोऽपि कालस्तस्या आगत्य गताया इति । तत्कुत्रेदानीं प्रेक्षिष्ये । कथमेषा खलु काञ्चनमालेत एवाऽऽगच्छति । तदावदेनामुपसर्पामि ।]

(ततः प्रविशति काञ्चनमाला)

काञ्चनमाला—(सोत्प्रासम्) साहु रे अमच्चवसन्तअ, साहु अदिसइदो तुए अमच्चजोअन्धराअणो वि इमाए सन्धिविग्गहचिन्ताए । [साधु रे अमात्य-वसन्तक, साधु । अतिशयितस्त्वयामात्ययौगन्धरायणोऽप्यनया सन्धिविग्रह-चिन्तया ।]

मदनिका—(सस्मितमुपसृत्य) हला कञ्चणमाले, किं अज्जवसन्तएण किदं जेण सो एव्वं सलाहीअदि । [हला काञ्चनमाले, किमार्यवसन्तकेन कृतं येन स एवं श्लाघ्यते ।]

काञ्चनमाला—हला मअणिए, किं तव एदिणा जाणिदेण तुमं इमं रहस्सं रक्खिदुं णपारेसि । [हला मदनिके, किं तवैतेनज्ञातेन । त्वमिदं रहस्यं रक्षितुं न पारयसि ।]

वाष्पं तेन जडीकृतं चक्षुः प्रभुतया क्रोधरोधसामर्थ्यं न विस्फारितम् । इत्येव

तब आओ, दोनों महारानी को ही प्रसन्न करने के लिए चलें।

(सब का प्रस्थान)

॥कदलीगृह नामक द्वितीय अंक समाप्त॥

तृतीय अंक

(मदनिका प्रवेश करती है)

मदनिका — (आकाश की ओर लक्ष्य करके) कौशाम्बिका, कौशाम्बिका, तूने स्वामी के समीप काञ्चनमाला देखी है या नहीं ? (कान लगाकर) क्या कह रही है ? (आगे देखकर) अरे ! कैसे ! यह काञ्चनमाला तो इधर ही आ रही है। तो मैं इसके समीप जाती हूं।

(काञ्चनमाला प्रवेश करती है)

काञ्चनमाला—(व्यङ्ग्यपूर्ण हास्य से) धन्य है, रे अमात्य वसन्तक, धन्य है। तूने इस सन्धि—विग्रह की चिन्ता में अमात्य यौगन्धरायण को भी मात दे दी।

मदनिका—(मुस्कराते हुए समीप जाकर) सखी काञ्चनमाला, आर्य वसन्तक ने क्या कर दिया, जिसके कारण उसकी इस प्रकार प्रशंसा की जा रही है।

काञ्चनमाला—सखी मदनिका, तुम्हें इसके जानने से क्या ? तू इस रहस्य को छिपा नहीं सकेगी।

दयितया प्रियया वासवदत्तया कोपो रोषः प्रकटीकृतः प्रश्रयो विनयश्च न मुक्तस्त्यक्तः ॥२१॥

इति रत्नावलीटीकायां द्वितीयोऽङ्कः

सन्धिविग्रहेति—सन्धिश्च विग्रहश्च सन्धिविग्रहौ नीतिशास्त्रे प्रोक्तानां सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभावसमाश्रयाणां षण्णामुपायानामन्यतमौ तयोश्चिन्तया विचारेण। विदूषकपक्षे सन्धिविग्रहौ नायकयोः संयोगविप्रयोगौ वेदितव्यौ।

मदनिका—तावामि देवीए चरणेहिं जइ कस्सवि पुरदो पआसेमि। [शपे देव्याश्चरणैर्यदि कस्यापि पुरतः प्रकाशयामि।]

काञ्चनमाला—जइ एव्वं ता सुणु। अज्ज क्खु मए राजकुलादो पडिणिवत्तन्तीए चित्तसालिआदुवारे वसन्तअस्स सुसंगदाए समं आलावो सुदो। [यद्येवं तच्छृणु। अद्य खलु मया राजकुलात्प्रतिनिवर्तमानया चित्रशालिकाद्वारे वसन्तकस्य सुसङ्गतया सममालापः श्रुतः।]

मदनिका—(सकौतुकम्) सहि, कीदिसो। [सखि, कीदृशः]

काञ्चनमाला—जधा—'सुसंगदे, णहि साअरिअं वज्जिअ पिअवअस्सस्स अण्णं किंपि अस्सत्यदाए कारणम्। ता एत्थ पडिआरं चिन्तेहि' त्ति। यथा—सुसङ्गते, नहि सागरिकां वर्जयित्वा प्रियवयस्यस्यान्यत्किमप्यस्वस्थतायाः कारणम्। तदत्र प्रतीकारं चिन्तय' इति।]

मदनिका—तदो सुसंगदाए किं भणिदं। [ततः सुसङ्गतया किं भणितम्?]

काञ्चनमाला—ताए एव्वं भणिदं—'अज्ज क्खु देवीए चित्तफलअवुत्तन्तसङ्किदाए साअरिअं मम सत्ये समप्पअन्तीए जं णेवत्थ मे पसादीकिदं तेण जेव्व विरइदभट्टिणीवेसं साअरिअं गेण्हिअ अहं पि काञ्चनमालावेसधारिणी भविअ पदोसे इध आगमिस्सं। तुमं पि इध एव्वं चित्तसालिआदुआरे मं पडिवालइस्ससि। तदो माहवीलदामण्डवे ताए सह भट्टिणो समागमो भविस्सदि' त्ति। [तयैव भणितम्—'अद्य खलु देव्या चित्रफलकवृत्तान्तशङ्कितया सागरिकां मम हस्ते समर्पयन्त्या यन्नेपथ्य मे प्रसादीकृतं तेनैव विरचितभर्त्रीवेषां सागरिकां गृहीत्वाऽहमपि काञ्चनमालावेषधारिणी भूत्वा प्रदोष इहागमिष्यामि। त्वमीहैव चित्रशालिकाद्वारे मा प्रतिपालयिष्यसि। ततो माधवीलतामण्डपे तया सह भर्तुः समागमो भविष्यति इति।]

मदनिका—(सरोषम्) सुसंगदे, हदासि क्खु तुमं जा ऐव्वं परिअणवच्छलं देविं वञ्चेसि। [सुसङ्गते, हतासि खलु त्वं यैवं परिजनवत्सलां देवीं वञ्चयसि।]

काञ्च०—हला तुमं दाणि कहिं पत्थिदा। [हलात्वमिदानीं क्व प्रस्थिता।]

मदनिका—अहं खु अस्सत्यसरीरस्स भट्टिणो कुसलवुत्तन्तं जाणिदुं गदा तुम-विरअसिदिर उरमग्गन्तीए देवीएतुह सआसं पेसिदम्हि। [अहं खल्वस्वस्थशरीरस्य

मदनिका—मैं महारानी के चरणों की शपथ लेती हूँ जो किसी के भी सामने प्रकट करूं ।

काञ्चनमाला—यदि ऐसा है तो सुनो । आज मैंने राजकुल से लौटती हुई ने चित्रशाला के द्वार पर सुसंगता के साथ वसन्तक की बातचीत सुनी ।

मदनिका—(उत्सुकता से) सखी, कैसी ?

काञ्चनमाला—यही कि—'सुसंगता, क्योंकि सागरिका को छोड़कर प्रिय मित्र की अस्वस्थता का अन्य कुछ भी कारण नहीं है, इसलिये इसका उपाय सोचो ।

मदनिका—तब सुसङ्गता ने क्या कहा ?

काञ्चनमाला—उसने कहा—'आज चित्रपट की घटना से शंकित हुई महारानी ने सागरिका को रत्नमाला के लिये मेरे हाथ में सौंपते हुए जो वस्त्र मुझे प्रसाद में दिये थे, उन्हीं से स्वामिनी का वेष धारण करने वाली सागरिका को लेकर और मैं स्वयं काञ्चनमाला का वेश धारण करने वाली होकर रात्रि के प्रथम प्रहर में आऊंगी । तुम भी यहीं चित्रशाला के द्वार पर मेरी प्रतीक्षा करोगे । तब माधवी लता के मण्डप में उसके साथ स्वामी का मिलन हो जायेगा ।

मदनिका—(रोषपूर्ण) सुसंगता, तू बड़ी नीच है, जो सेवकों से स्नेह करने वाली महारानी को इस तरह धोखा देती है ।

काञ्चनमाला—सखी तू अब कहाँ जा रही है ?

मदनिका—अस्वस्थ—शरीर वाले स्वामी का कुशल-समाचार मालूम करने के लिये गई हुई तू देर कर रही है, इससे व्याकुल हुई देवी ने मुझे तेरे पास भेजा है ।

चित्रफलकेति—चित्रफलक सम्बन्धी वृत्तान्तश्चित्रफलकवृत्तान्तस्तेन शङ्कितया जातशङ्कया । नेपथ्यम्—वस्त्राभरणादि । विरचितेति—विरचितो भट्टिन्याः स्वामिन्या वासवदत्ताया वेषो नेपथ्यं यया ताम् ।

भर्तुः कुशलवृत्तान्तं ज्ञातुं गता त्वं चिरयसीत्युत्ताम्यन्त्या देव्या तव सकाशं प्रेषितास्मि ।]

काञ्चनमाला—अदिउजुआ दाणिं सा देवी जा एव्व पत्तिआअदि । एसो क्खु भट्टा असत्थदासिसेण अत्तणो मअणावत्थं पच्छादन्तो दन्ततोरणवलहीए चिट्ठो । ता हि । एदं वुत्तन्तं भट्टिणीए णिवेदेम्ह । [अतिऋजुकेदानीं सा देवी यैवं प्रत्यायते एष खलु भर्ताऽस्वस्थ्यमिषेणात्मनो मदनावस्थां प्रच्छादयन्दन्ततोरणवलभ्यां तिष्ठति । तदेहि । एतं वृत्तान्तं भर्त्र्यै निवेदयावः ।]

(इति निष्क्रान्ते)

इति प्रवेशकः ।

[ततः प्रविशति मदनावस्थां नाटयन्नुपविष्टो राजा ।]

राजा—(निःश्वस्य)

संतापो हृदय स्मरानलकृतः संप्रत्ययं सह्यतां
नास्त्येवोपशमोऽस्य तां प्रति पुनः किं त्वं मुधा ताम्यसि ।
यन्मूढेन मया तदा कथमपि प्राप्तो गृहीत्वा चिरं
विन्यस्तस्त्वयि सान्द्रचन्दनरसस्पर्शो न तस्याः करः ॥१॥

अहो महदाश्चर्यम् ।

मनश्चलं प्रकृत्यैव दुर्लक्ष्यं च तथापि मे
कामेनैतत्कथं विद्धं समं सर्वैः शिलीमुखैः ॥२॥

दन्ततोरणेति—दन्तस्य गजदन्तस्य तोरणं बहिर्द्वारि यस्याः सा दन्ततोरणा सा च वलभी सौधोपरिगृहं तत्र ।

सन्ताप इति—हृदय, यत् मूढेन मया तदा कथमपि प्राप्तः सान्द्रचन्दनरसस्पर्शः तस्याः करः गृहीत्वा त्वयि चिरं न विन्यस्तः, (तद्) सम्प्रति अयं स्मरानलकृतः संतापः सह्यताम् । अस्य उपशमः नास्ति एव, तां प्रति त्वं पुनः

काञ्चनमाला—महारानी बडी सरल है, जो इस तरह विश्वास करती है। यह स्वामी तो अस्वस्थता के व्याज से अपनी काम दशा को छिपाते हुए हाथी-दाँत के द्वार की अटारी मे बैठे हैं। तो आओ। इस बात को महारानी से कह देवें।

(दोनो बाहर चली गई)

प्रवेशक समाप्त

(तत्पश्चात् कामदशा का नाट्य करता हुआ बैठा हुआ राजा प्रविष्ट होता है)

राजा—(आह भर कर)

हे हृदय, क्योकि तब (कदली-गृह के समीप सागरिका के मिलन के समय) किसी तरह (भाग्य से) प्राप्त हुए, घने चन्दन के रस के समान स्पर्श वाले, उसके (सागरिका के) हाथ को पकड कर मुझ मूढ ने बहुत देर तक तेरे ऊपर नही रक्खा, (इसलिये) अब कामाग्नि से उत्पन्न यह संताप सहना ही पड़ेगा। इसकी शान्ति (का उपाय) है ही नही। फिर तू उस (सागरिका) के लिये वृथा क्यों व्याकुल होता है ॥१॥

अहो! महान् आश्चर्य है!

मन स्वभाव से ही चञ्चल और दुर्भेद्य है, फिर भी कामदेव ने कैसे मेरा यह (मन) एक साथ सब बाणों से बीध दिया ॥२॥

मुधा किं ताम्यसि। इत्यन्वयः। हे हृदये, यद् यस्मात्कारणान्मूढेनाऽज्ञायंश न मया तदा कदलीगृहसमीपे कथमपि दैवात्प्राप्तः सान्द्रो घनो यश्चन्दनरसस्तस्य स्पर्श इव स्पर्शो यस्य ॥ तस्याः सागरिकायाः करो गृहीत्वा करेणादाय त्वयि हृदये चिरं बहुकाल न विन्यस्तः, तत्तस्मात् मंप्रत्यधुनाऽयं स्मरानलेन कामाग्निना [illegible] संतापः सह्यताम्। अस्य संतापस्योपशमः शान्तिर्नास्त्येव, तां प्रति सागरिकां [illegible] त्वं पुनर्मुधा वृथा किं ताम्यसि ग्लायसि ॥१॥

मन इति—मनः प्रकृत्या एव चलं दुर्लक्ष्यं च। तथापि मे [illegible] सर्वैः शिलीमुखैः मर्म कथं विद्धम्। [illegible]। मनः प्रकृत्या [illegible] चञ्चलं दुर्लक्ष्यं दुःखेन लक्ष्यते [illegible] इति दुर्लक्ष्यं च [illegible]

(ऊर्ध्वमवलोक्य) भोः कुसुमधन्वन् ।

बाणाः पञ्च मनोभवस्य नियतास्तेषामसंख्यो जनः

प्रायोऽस्मद्विध एव लक्ष्य इति यल्लोके प्रसिद्धिं गतम् ।

दृष्टं तत्त्वयि विप्रतीपमधुना यस्मादसंख्यैरयं

विद्धः कामिजनः शरैरशरणो नीतस्त्वया पञ्चताम् ॥३॥

(विचिन्त्य) न तथाहमेवंविधावस्थमात्मानमनुचिन्तयामि यथान्तर्गूढकोपसंरम्भाया देव्या लोचनगोचरगतां तामेव तपस्विनीं सागरिकाम् । तथाहि—

ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं

द्वयोर्दृष्ट्वाऽऽलापं कलयति कथामात्मविषयाम् ।

सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं

प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातङ्कविधुरा ॥४॥

तद्वार्तान्वेषणाय गतः कथं चिरयति वसन्तकः ।

तथापि मनसो दुर्बलत्वेऽपि मे मर्मेतन्मनः कामन सर्वैः संकलैः पञ्चभिरपि शिलीमुखैर्बाणैः समं युगपत्कथं विद्धम् ॥२॥

कुसुमेति—कुसुमानि पुष्पाणि धनुरस्यासौ कुसुमधन्वा तस्य सम्बोधने कुसुमधन्वन्निति ।

बाणा इति—मनोभवस्य पञ्च बाणाः नियताः, असंख्यः अस्मद्विधः जनः एव तेषां लक्ष्यः, इति यत् लोके प्रसिद्धिं गतम्, तत् अधुना त्वयि विप्रतीपं दृष्टम्, यस्माद् असंख्यैः शरैः त्वया विद्धः अयं कामिजनः अशरणः पञ्चतां नीतः । इत्यन्वयः । मनसि भवः उत्पत्तिर्यस्य तस्य मनोभवस्य कामस्य पञ्च बाणा नियता नियतासंख्याकाः । असंख्यो नास्ति संख्या यस्य सोऽनियतसंख्याकोऽस्माकमिव विधा प्रकारो यस्य सोऽस्मद्विधोऽस्मादृशो जन एव जनमात्रस्तेषां बाणानां लक्ष्यः शरव्य इति यल्लोके प्रसिद्धिं ख्यातिं गतं तदधुना त्वयि विप्रतीपं

(ऊपर देखकर) हे पुष्पों के धनुष वाले,

कामदेव के परिमित संख्या वाले पांच ही बाण हैं और प्रायः हमारे जैसे असंख्य लोग उनके लक्ष्य होते हैं, यह जो लोक में प्रसिद्ध हो गया है, तेरे विषय में अब यह विपरीत देखा जाता है, क्योंकि तू असंख्य बाणों से बींधे गये हम जैसे शरणहीन कामी जनों को पञ्चत्व (मृत्यु) को प्राप्त करा रहा है।

(सोचकर) मैं अपनी ऐसी अवस्था वाले की इतनी चिन्ता नहीं करता, जितनी क्रोध के आवेग को अन्दर छिपाकर रखने वाली महारानी के दृष्टिपथ में पड़ी हुई सागरिका की। क्योंकि—

'मेरे विषय में (सबने) जान लिया है' इससे लज्जा के कारण वह सबसे अपना मुंह छिपाती है, दो की बातचीत को देखकर उसे अपनी कथा समझने लगती है, सखियों के मुसकराने पर अत्यधिक खिसिया जाती है, (इस तरह) प्रिया (सागरिका) प्रायः हृदय में बैठे आतंक से व्याकुल रहती है ॥४॥

उसका समाचार जानने के लिये गया हुआ वसन्तक कैसे देर कर रहा है!

विरुद्धं दृष्टं यस्माद् यतोऽसङ्ख्यैरपरिमितैः शरैस्त्वया विद्धोऽयं कामिजन-कामुक-वर्गोऽशरणो नास्ति शरणं रक्षिता यस्य तथा सन् पञ्चतां पञ्चत्वं, नीतः प्रापितः ॥३॥

अन्तर्निगूढेति—अन्तर्हृदये निगूढः संवृतः कोपस्य संरम्भ आवेगो यस्यास्तस्याः।

ह्रियेति—असौ विदिताऽस्मि इति ह्रिया सर्वस्या वदनं हरति; द्वयोः आलापं दृष्ट्वा आत्मविषयां कथां कलयति, सखीषु स्मेरासु अधिकं वैलक्ष्यं प्रकटयति। प्रिया प्रायेण हृदयनिहितातङ्कविधुरा आस्ते। इत्यन्वयः। असौ सागरिका विदिताऽस्मि मम चेष्टितं रहसि राज्ञा सङ्गमादि ज्ञातमस्तीति हेतोः ह्रिया लज्जया करणेन सर्वस्य जनस्य सर्वस्माज्जनादिति यावद् वदनं स्वमुखं हरति व्यावर्तयति, द्वयोर्जनयोरालापं संभाषणं दृष्ट्वाऽऽलोक्याऽऽत्मविषयामात्म-सम्बन्धिनीं कथां कलयति मन्यते। सखीषु स्मेरासु सहासासु सतीष्वधिकं वैलक्ष्यं लज्जां प्रकटयति। इत्येवं प्रिया सागरिकाप्रायेण बाहुल्येन हृदयेऽन्तःकरणे निहितेन स्थापितेनाऽऽतङ्केन भयेन विधुरा व्याकुलाऽऽस्ते तिष्ठति ॥४॥

(ततः प्रविशति हृष्टो विदूषकः)

विदूषक—(सपरितोषम्) ही ही भोः। कोसम्बीरज्जलाहेणावि ण तादिसो पिअवअस्सस्स परितोसो आसि जादिसो अज्ज मम सआसादो पिअवअणं सुणिअ हुविस्सदित्ति तक्केमि। ता जाव गदुअ पिअवअस्सस्स णिवेदइस्सं। (परिक्रम्यावलोक्य च) कथं एसो पिअवअस्सो जधा इमं ज्जेव्व दिसं अवलोअन्तो चिट्ठदि तधा तक्केमि मं ज्जेव्व पडिवालेदि त्ति। ता जाव णं उवसप्पामि (उपसृत्य) जअदु जअदु पिअवअस्सो। भो वअस्स, दिट्ठिआ वड्ढसे तुमं समीहिदब्भधिकाए कज्जसिद्धीए। [ही ही भोः। कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशः प्रियवयस्यस्य परितोष आसीद्यादृशोऽद्य मत्सकाशात् प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यतीति तर्कयामि। तद्यावद्गत्वा प्रियवयस्यस्य निवेदयिष्ये। कथमेष प्रियवयस्यो यथेमामेव दिशमवलोकयस्तिष्ठति तथा तर्कयामि मामेव प्रतिपालयतीति। तद्यावदेनमुपसर्पामि। जयतु प्रियवयस्यः। भो वयस्य; दिष्ट्या वर्धसेऽत्वं समीहिताभ्यधिकया कार्यसिद्धया।]

राजा—(सहर्षम्) वयस्य, अपि कुशलं प्रियायाः?

विदूषक—(सगर्वम्) भो वअस्स अइरेण सअं एव्व पेक्खिअ जाणिस्ससि

[भो वयस्य, अचिरेण स्वयमेव प्रेक्ष्य ज्ञास्यसि।

राजा—(सपरितोषम्) वयस्य, दर्शनमपि भविष्यति प्रियायाः।

विदूषक—(साहंकारम्) भो कीस ण भविस्सदि जस्स दे उवहसिदबिहप्पदिबुद्धिविहवो अहं अमच्चो। [भोः, कस्मान्न भविष्यति यस्य ते उपहसितवृहस्पतिबुद्धिविभवोऽहममात्यः।]

राजा—(विहस्य) न खलु चित्रम्। किं न संभाव्यते त्वयि। तत्कथय। विस्तरतः श्रोतुमिच्छामि।

विदूषक—(कर्णे) एव्वं एव्वं। [एवमेवम्।]

राजा—(सहर्षम्) साधु वयस्य, साधु। इदं ते पारितोषिकम्। (इति हस्तादवतार्य कटकं ददाति)।

उपहसितेति—उपहसित उपहास्यतां नीतो वृहस्पतेर्बुद्धिविभवो येन सः।

(तत्पश्चात् प्रसन्न हुआ विदूषक प्रवेश करता है)

विदूषकः—(हर्ष से) आ हा हा ! मैं समझता हूं कि प्रिय मित्र को कौशाम्बी का राज्य पाने से भी उतना हर्ष नहीं हुआ था जितना कि आज मुझ से प्रिय वचन को सुनकर होगा। तो अब जाकर प्रिय मित्र से कहता हूं। (घूमकर और देखकर) क्यो ? यह प्रिय मित्र इसी ओर देखते हुए बैठे हैं। ऐसा समझता हू कि मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। तो इनके समीप चलूं। (समीप जाकर) जय हो प्रिय मित्र की जय हो। ऐ मित्र, चाह से भी अधिक कार्य में सफलता के कारण तुम्हें सौभाग्य के लिये बधाई है।

राजा—(हर्ष से) मित्र, क्या प्रिया का कुशल है ?

विदूषकः—(गर्व से) अरे, शीघ्र ही स्वयं देखकर जान लोगे।

राजा—(सन्तोष से) मित्र, क्या प्रिया का दर्शन भी होगा ?

विदूषकः—(अहंकार के साथ) अरे, होगा क्यों नहीं, जिसका मैं, बुद्धि-वैभव से बृहस्पति को तिरस्कृत करने वाला अमात्य हूं।

राजा—(हंस कर) इसमें कोई आश्चर्य नही। तुम में क्या सम्भव नहीं ? तो बतलाओ, मैं विस्तार से सुनना चाहता हूं।

विदूषकः—(कान में) इस इस तरह।

राजा—(हर्ष से) धन्य मित्र, धन्य। यह तुम्हारा इनाम है। (हाथ से कड़ा उतार कर देता है)।

विदूषकः—(कटकं परिधायात्मानं निर्वर्ण्य) भो इमं दाव सुद्धसुवण्ण-
अमण्डिदहत्थं अत्तणो बम्हणीए गदुअ दंसइस्सं। [भो इमं तावच्छुद्धसुवर्णकटक-
मण्डितहस्तमात्मनो ब्राह्मण्यै गत्वा दर्शयिष्यामि।]

राजा—(हस्ते गृहीत्वा निवारयन्) सखे, पश्चाद् दर्शयिष्यसि। ज्ञायतां
तावदधुना किमवशिष्टमह्न इति।

विदूषकः—(विलोक्य) भो, पेक्ख पेक्ख। एसो क्खु गुरुआणुराओक्खित्त-
हिअओ संझावहूदिण्णसंकेदो विअ अत्थगिरिसिहरकाणणं अणुसरदि भअवं
सहस्सरस्सी। [भोः, प्रेक्षस्व। एष खलु गुर्वनुरागोत्क्षिप्तहृदयः संध्या-
-वधूदत्तसंकेत इवास्तगिरिशिखरकाननमनुसरति भगवान्सहस्ररश्मिः।]

राजा—(विलोक्य सहर्षम्) सखे, सम्यगुपलक्षितम्। । पर्यवसितमह

तथाहि

अध्वान नैकचक्रः प्रभवति भुवनभ्रान्तिदीर्घं विलंघ्य
प्रातः प्राप्तुं रथो मे पुनरिति मनसि न्यस्तचिन्तातिभारः।
संध्यामृष्टावशिष्टस्वकरपरिकरस्पष्टहेमारपङ्क्ति-
व्याकृष्यावस्थितोऽस्तक्षितिभृति नयतीवैष दिवचक्रमर्कः ॥५॥

अपि च

शुद्धसुवर्णेति—शुद्धस्य सुवर्णस्य कटकेन मण्डितो हस्तस्तम्। गुर्वनुरागेति—
गुरुणाऽनुरागेणोत्क्षिप्तं व्याक्षिप्तं हृदयं यस्य सः। सन्ध्यावधिति—संध्यैव
वधूस्तया दत्तः संकेतो यस्य सः। अस्तगिरिशिखरेति—अस्तगिरिः पश्चिमा-
चलस्तस्य शिखरं तत्र यत्काननं तत्।

अध्वानमिति—एकचक्रः मे रथः भुवनभ्रान्तिदीर्घम् अध्वान विलङ्घ्य पुन
प्रातः (उदयाचल) प्राप्तुं न प्रभवति इति मनसि न्यस्तचिन्तातिभारः एषः अर्कं
अस्तक्षितिभृति अवस्थितः संध्यामृष्टावशिष्टस्वकरपरिकरस्पष्टहेमारपङ्क्ति

विदूषक—(कड़ा पहनकर और अपने को देखकर) अरे शुद्ध सुवर्ण के कड़े से भूषित इस हाथ को अपनी ब्राह्मणी को जाकर दिखलाऊंगा।

राजा—(हाथ पकड़ कर रोकते हुए) मित्र बाद में दिखलाना, पहले यह पता लगाओ कि दिन कितना शेष है?

विदूषक—(देखकर) अरे, देखो, देखो। अत्यधिक अनुराग से विह्वल हृदय वाला यह भगवान् सूर्य, मानो जिसे सन्ध्या रूपी वधू ने सकेत दिया है, अस्ताचल के शिखर पर स्थित कानन की ओर जा रहा है।

राजा—(देखकर, हर्ष से) मित्र ठीक देखा। दिन समाप्त हो गया। क्योंकि—

एक पहिये वाला मेरा रथ भुवन की परिक्रमा से दीर्घ मार्ग को तय करके फिर प्रातःकाल में (उदयगिरि पर) न पहुंच सकेगा, इस प्रकार मन में चिन्ता का भारी बोझ लिये, अस्ताचल पर स्थित, यह सूर्य सन्ध्या द्वारा नष्ट होने से बची हुई अपनी किरणों के समूह रूपी चमकती हुई सुवर्ण के अरों की पंक्ति वाले दिवचक्र को (अपने रथ में लगाने के लिये) खींचकर, मानो, ले जा रहा है ॥५॥

और भी—

दिवचक्रं व्याकृष्य नयति इव। इत्यन्वयः। एकं चक्रं यस्य स एकचक्रो मे रथः स्यन्दनो भुवने लोके भ्रान्तिभ्रंमणं तया दीर्घमध्वानं मार्गं विलङ्घ्याऽतिक्रम्य पुनः प्रातः, प्रभातकाल उदयाचलं प्राप्तुमासादयितुं न प्रभवति समर्थो भवतीत्येवं मनसि हृदये न्यस्तः स्थापितश्चिन्ताया अतिभारो गुरुभारो येन स एषोऽर्कः सूर्योऽस्तशिखिभृत्यस्ताचलेऽवस्थितः सन् सन्ध्यायाऽऽसृष्टेभ्यो विलुप्तेभ्योऽवशिष्टा ये स्वे निजाः कराः किरणास्तेषां परिकरः समूह एव स्पष्टा स्फुटं भासमाना हेम्र. स्वर्णस्याऽराणा नेम्यवष्टम्भकदण्डानां पङ्क्तिर्यस्य तद् दिवां चक्रं दिवचक्रं व्याकृष्य.द्वितीयचक्रस्थाने नियोजयितुमाकृष्य नयति हरतीव ॥५॥

यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष
  सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्या
  सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकर- करोति ॥६॥

तदुत्तिष्ठ। माधवीलतामण्डपं गत्वा प्रियतमासङ्केतावसरं प्रतिपालयावः।

विदूषक—भो सोभणं भणिदं। (इत्युत्तिष्ठतः) [भो शोभनं भणितम्।]

विदूषक—(विलोक्य) भो वअस्स, पेक्ख पेक्ख। एसो क्खु बहुलीकिद-णिरलवणराइसण्णिवेसी। गहीदघणपङ्कपीवरवणवराहमहिसणच्छवी पसरवि पुव्वदिसं पच्छाअन्तो तिमिरसंघादो। (भो वयस्य, प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एष खलु बहलीकृतविरलवनराजिसंनिवेशो गृहीतघनपङ्कपीवरवनवरामहिषकृष्णच्छविः प्रसरति पूर्वदिशं प्रच्छादयस्तिमिरसंघातः।]।

राजा—(समन्ताद्विलोक्य) सखे, साधु दृष्टम् तथाहि—

पुरः पूर्वामेव स्थगयति ततोऽन्यामपि दिशं
क्रमतारक्रामन्नद्रिद्रु मपुर विभागांस्तिरयति।

यातोऽस्मीति—अयम् अस्तमस्तकनिविष्टकरः सूर्यः 'पद्मनयने यातोऽस्मि, एष मम समयः, सुप्ता भवती मया एव प्रतिबोधनीया' इति सरोरुहिण्याः प्रत्यायनामिव करोति। इत्यन्वयः। अयं पुरो दृश्यमानोऽस्तस्य पश्चिमाचलस्य मस्तके मूर्ध्नि निविष्ठाः स्थिताः कराः किरणा यस्य स सूर्यः पद्म' नयन यस्यास्तत्सम्बोधने पद्मनयने कमलनेत्रेऽहं यातोऽस्मि गतोऽस्मि, एतोऽयं मम मे गमनस्य समयः कालः, सुप्ता (कमलाना निमीलनात्तथोक्ता) भवती मयैव प्रतिबोधनीया विकासयितव्या, अहं प्रातरागत्य स्वपती भवती कमलानी विकासनादवश्यं प्रफुल्लां करिष्यामीत्यर्थः, इत्येवं सरोरुहिण्याः सान्त्वनमपि व्यज्यते—नायिकाया अस्तं शोकादधो निहितं यन्मस्तकं शिरस्तत्र निविष्टः स्थितः करो यस्य स सूर्यः सूरिपु बुधेषु साधुः सूर्यः कश्चिन्नायकः 'पद्मामिव नेत्रे यस्यास्तत्सम्बोधने कमलनेत्रे यातोऽस्मि, एष मम समयः संकेतो यत्सुप्ता भवती 'मयैव प्रतिबोधनीया जागरयितव्या' इति सरोरुहिण्याः सरोरुहं लीलाकमलमस्या

अस्ताचल के शिखर पर किरण रक्खे हुए, यह सूर्य कमलिनी को, मानो, इस प्रकार सान्त्वना दे रहा है—ऐ कमलनयने, मैं अब जा रहा हू, यह मेरा (जाने का) समय है, मैं ही आपको सोती हुई को जगाऊंगा।

(दूसरा संकेतित अर्थ)

(नायिका) के झुके हुये सिर पर हाथ रक्खे, यह नायक कमल धारण करने वाली (नायिका) को, मानो, इस प्रकार विश्वास दिला रहा है—ऐ कमल सदृश नेत्रों वाली, मैं जा रहा हू, यह मेरा वायदा (समय) है कि सोती हुई आपको मैं ही जगाऊंगा ॥६॥

तो उठो। माधवी लता के मण्डप में जाकर प्रियतमा के संकेत के समय की प्रतीक्षा करें।

विदूषक—अरे! ठीक कहा। (यह कहकर दोनों उठते हैं।)

विदूषक—अरे मित्र, देखो, देखो। वृक्षों की पंक्तियों की विरल स्थिति को निबिड कर देने वाला, घनी कीचड़ धारण किये स्थूल बनैले सूअर और भैंसे के समान काली कान्ति वाला, यह अन्धकार-समूह पूर्व दिशा को ढाकता हुआ फैल रहा है।

राजा—(चारों ओर देखकर) मित्र, (तुमने ठीक देखा। क्योंकि—

यह शिव के कण्ठ की कान्ति को चुराने वाला (काला) अन्धकार-समूह पहले पूर्व ही दिशा को ढकता है और पीछे अन्य दिशा को भी। फिर

अस्तीति सरोरुहिणी लीलाकमलधारिणी काचिन्नायिका तस्याः प्रत्यायना विश्रम्भजननमिव करोति ॥६॥

प्रियतमेति—प्रियतमायाः सागरिकाया यः संकेतस्तस्यावरं समयम्। बहलीकृतेति—बहलीकृतो घनीकृतो विरलो वनराजीनां वृक्षपङ्क्तीनां संनिवेशः संस्थानं येन सः। गृहीतेति—गृहीतो धृतो घनो बहलः पङ्कः कर्दमो यैस्ते गृहीतघनपेङ्कास्तं च पीवराः स्थूलाः वे वनवासिनो वराहा महिषाश्च तेषां छविरिव छविर्यस्य सः।

पुर इति—अयं हरकण्ठद्युतिहरः तमः संघातः पुरः पूर्वमिव ततः अन्यामपि दिशं स्थगयति, क्रमात्क्रामन् अद्रिद्रुमपुरविभागान् तिरयति। तदनु पीनत्वमुपेतः

उपेतः पीनत्वं तदनु भुवनस्येक्षणफलं
तम सघातोऽयं हरति हरकण्ठद्युतिहरः ॥७॥

तदादेशय मार्गम् ।

विदूषक—एदु एदु पिअवअस्सो । [एत्वेतु प्रियवयस्यः ।]

(परिक्रामतः)

विदूषक—(निरूप्य) भो वअस्स एदं क्खु समासण्णं संसत्तबहलपत्तपादवलदाहिं पिण्डीकिदन्धआरं विअ मअरन्दुज्जाणम् । ता कधं एत्थ मग्गो लक्खीअदि । [भो वयस्य, एतत् खलु समासन्नं संसक्तबहलपत्रपादपलताभिः पिण्डीकृतान्धकारमिव मकरन्दोद्यानम् । तत्कथमत्र मार्गो लक्ष्यते ।]

राजा—(गन्धमाघ्राय) वयस्य गच्छाग्रतः । ननु सुपरिज्ञात एवात्र मार्गः । तथाहि ।

पालीयं चम्पकानां नियतमयमसौ सुन्दरः सिन्दुवारः
सान्द्रा वीथी तथेयं बकुलविटपिनां पाटलापङ्क्तिरेषा ।
आघ्रायाघ्राय गन्धं विविधमधिगतैः पादपैरेवमस्मि-
न्व्यक्तिं पन्थाः प्रयाति द्विगुणतरतमोनिह्नुतोऽप्येष चिह्नैः ॥८॥

भुवनस्य ईक्षणफलं हरति । इत्यन्वयः । अयं पुरो दृश्यमानो हरस्य शिवस्य कण्ठस्य द्युतिं छविं हरतीति हरकण्ठद्युतिहरः शिवकण्ठच्छव्यनुकारी नीलस्तमः संघातस्तमसां समूहः पुरः प्रथमं पूर्वामेव दिशं स्थगयत्याच्छादयति, ततस्तत्पश्चाद् अन्यां पश्चिमां दिशमाच्छादयति । ततः क्रमात्क्रमेण क्रामन् व्याप्नुवन् अद्रीणां पर्वतानां द्रुमाणां वृक्षाणां पुराणां नगराणां च विभागान् भिन्नान् अवयवान् तिरयति व्यवधत्ते । तदनु तत्पश्चात् पीनत्वमुपेतो घनः सन् भुवनस्य लोकस्येक्षणानां नेत्राणां फलं पदार्थावलोकनरूपं हरति लुम्पति ॥७॥

संसक्तेति—संसक्तानि परस्परमनुविद्धानि बहलानि पत्राणि येषां ते पादपाश्च लताश्च ताभिः ।

पालीयमिति—नियतम् इयं चम्पकानां पाली, अयम् असौ सुन्दरः सिन्दु-

क्रमशः आगे बढ़ता हुआ पर्वत, वृक्ष और नगर के विभागों को छिपा देता है। तत्पश्चात् घनता को प्राप्त हुआ (अन्धकार-समूह) लोक के नेत्रों के फल को छीन लेता है ॥७॥

तो मार्ग बतलाओ।

विदूषक—चलिये, प्रिय मित्र चलिये।

(दोनों घूमते हैं)

विदूषक—(देखकर) हे मित्र, यह मकरन्द नामक उद्यान आ गया, जिसमें सटे हुए घने पत्तों वाले वृक्षों और लताओं ने मानो, अन्धकार को इकट्ठा कर दिया है। तो इसमें मार्ग कैसे दीखेगा ?

राजा—(गन्ध सूंघकर) मित्र, आगे चलो। यहाँ मार्ग तो भली भाँति परिचित है। क्योंकि—

निश्चय ही यह चम्पक वृक्षों की श्रेणी है, यह वह सुन्दर सिन्दुवार वृक्ष है, यह मौलिसिरी के वृक्षों की घनी पङ्क्ति है और यह पाटला (गुलाब) नाम के पौधों की कतार है। इस प्रकार इस (मकरन्द उद्यान) में दुगुने अन्धकार से छिपा हुआ भी यह मार्ग अनेक प्रकार की गन्ध सूंघ-सूंघ कर पहचाने गये वृक्षों के चिह्नों से प्रकट हो रहा है ॥८॥

वारः तथा इय बकुलविटपिना सान्द्रा वीथी, एषा पाटलापङ्क्तिः। अस्मिन् द्विगुणतरतमोनिह्नुतोऽपि एषः पन्थः एव विविध गन्धमाघ्राय आघ्राय अधिगतैः पादपैः चिह्नैः व्यक्ति प्रयाति। इत्यन्वयः। नियत निश्चयेनेय पुरो दृश्यमाना चम्पकानां तन्नामवृक्षाणा पाली श्रेणिरस्ति। अयमसौ प्रसिद्धः सुन्दरो मनोज्ञः सिन्दुवारो निर्गुण्डीवृक्षो वर्तते। तथैव बकुलविटपिनां केसरवृक्षाणा सान्द्रा घना वीथी राजिर्वर्तते। एषैव च पाटलाना पाटलीनां पङ्क्तिरावली विद्यते। अस्मिन्नुद्यानेऽतिशयेन द्विगुण द्विगुणतर तच्च तमोऽन्धकारस्तेन निह्नुतोऽपि निगूढोऽप्येष पन्था मार्ग एवं विविध विभिन्नप्रकारक गन्धमाघ्रायाऽऽघ्र य घ्रात्वा घ्रात्वाऽधिगतैर्ज्ञातैः पादपैश्चिह्नैरभिज्ञानैर्व्यक्ति प्रकटतां प्रयाति गच्छति ॥८॥

(इति परिक्रामतः)

विदूषक—भो, एद क्खु णिवडन्तमत्तमहुअरं कुसुमामोदवासिददसदिस मसिणमरअदमणिसिलाकुट्टिमसुहाअन्तचरणसंचारसूइदं तं ज्जेव्व माहवीलदामण्डवं संपत्तम्ह । ता इध ज्जेव्व चिट्ठदु भवं जाव अहं देवीवेसधारिणि साअरिअं गेह्णिअ लहुं आअच्छामि । [भोः, एतत् खलु निपतन्मत्तमधुकरं कुसुमामोदवासितदसदिशं मसृणमरकतमणिशिलाकुट्टिमसुखायमानचरणसंचारसूचितं तमेव माधवीलतामण्डपं सम्प्राप्तौ स्वः । तदिहैव तिष्ठतु भवान्यावदहं देवीवेषधारिणीं सागरिकां गृहीत्वा लघ्वागच्छामि ।]

राजा—वयस्य, तेन हि त्वर्यताम् ।

विदूषक—भो, मा उत्तम्म । एसो आअदोम्हि । (इति निष्क्रान्तः) [भोः मोत्ताम्य । एष आगतोऽस्मि ।]

राजा—यावदहमप्यस्यां मरकतशिलावेदिकायामुपविश्य प्रियायाः संकेतसमयं प्रतिपालयामि । (उपविश्य सचिन्तम्) अहो कोऽपि कामिजनस्य स्वगृहिणीसमागमपरिभाविनोऽभिनवजनं प्रति पक्षपातः । तथाहि ।

प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्ठश्लेषे रसान्न पयोधरौ ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो
रमयतितरां संकेतस्था तथापि हि कामिनी ॥६॥

निपतन्मत्तेति—निपतन्तो मधुकरा यस्मिन् तम् । कुसुमामोदेति—कुसुमानामामोदेन गन्धेन वासिताः सुरभीकृता दश दिशो येन तम् । मसृणेति मसृणाः स्निग्धा या मरकतमणीनां गारुत्मतरत्नानां शिलाः पाषाणानि तासां कुट्टिमो निबद्धभूमिस्तत्र सुखायमानौ सुखमनुभवन्तौ यौ चरणौ तयोः संचारेण सूचितं ज्ञापितम् ।

प्रणयविशदामिति—संकेतस्था कामिनी शङ्किता प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे न ददाति, कण्ठाश्लेषे रसात् पयोधरौ घनं न घटयति, प्रयत्नधृता अपि

(दोनों घूमते हैं)

विदूषक—लो, हम इस उसी माधवी लता के मण्डप पर पहुँच गये, जिसमें मधु से मत्त भ्रमर गिरे रहे है, जिसमे दशो दिशायें पुरुषो की सुगन्धि से सुगन्धित हो रही हैं और जो चिकनी मरकत मणियो की शिलाओ के फर्श पर सुख अनुभव करते हुए चरणो के सचरण से सूचित है। तब आप यही ठहरें, जब तक मै महारानी का वेप धारण करने वाली सागरिका को लेकर शीघ्र आता हूँ।

राजा—मित्र, तो शीघ्रता कीजिये, शीघ्रता कीजिये।

विदूषक—अरे व्याकुल न हो। मैं यह आया। (बाहर चला जाता है)।

राजा—तब तक मै भी इस मरकतमणि की शिलाओ की (बनी) वेदिका (चबूतरो) पर बैठकर प्रिया के सकेत के समय की प्रतीक्षा करूं। (बैठकर विस्तापूर्वक) अहो, अपनी पत्नी के मिलन को उपेक्षा करने वाले कामुक लोगों का नये व्यक्ति के प्रति अद्‌भुत झुकाव होता है। क्योंकि—

संकेत स्थान में स्थित कामिनी भयभीत होने के कारण स्नेह से विकसित दृष्टि (नायक के) मुख पर नही डालती, कण्ठ के आलिङ्गन मे प्रीति से स्तनों को दृढता से नहीं लगाती और प्रयत्नपूर्वक (अङ्क मे) धारण की गई भी बार-बार "मैं जाती हूँ" यह कहती है। फिर भी, यह आश्चर्य है कि वह अधिक आनन्दित करती है ॥६॥

'गच्छामि' इति बहुशः वदति, तथापि, अहो, रमय तितरां हि। इत्यन्वयः। सकेत सकेतस्थाने स्थिता कामोऽस्या अस्तीति कामिनी कामवती नायिका शङ्किता जातशङ्का सती प्रणयेन प्रेम्णा विशदां प्रसन्नां दृष्टि वक्त्रे मुखे न ददाति, विश्रब्ध न पश्यतीत्यर्थः, कण्ठस्याऽऽश्लेष आलिङ्गने रसात्प्रीत्या पयोधरौ घनं दृढ न घटयति, प्रयत्नेन धृता गृहीताऽपि गच्छामीति बहुशो भूयो भूयो वदति। तथाप्येवमरतिहेतुषु सत्स्वपि साऽहो आश्चर्यमतिशयन रमयतीति रमयतितराम् ॥६॥

अये, कथं चिरयति वसन्तकः। तत्किं नु खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्या।

(ततः प्रविशति वासवदत्ता काञ्चनमाला च)

वासव०—हञ्जे कञ्चणमाले, सच्चं ज्जेव्व मम वेसं कदुअ साअरिआ अज्जउत्तं अहिसरिस्सदि। [हञ्जे काञ्चनमाले, सत्यमेव मम वेशं कृत्वा सागरिकाऽऽर्यपुत्रमभिसरिष्यति।]

काञ्चन०—कधं अण्णधा भट्टिणीए णिवेदीअदि अथवा चित्तसालिआदुवारे ट्ठिदो वसन्तओ ज्जेव्व दे पच्चअं उप्पादस्सदि। [कथमन्यथा भर्त्र्यै निवेद्यते। अथवा चित्रशालिकाद्वारे स्थितो वसन्तक एव ते प्रत्ययमुत्पादयिष्यति।]

वासव०—तेण हि तहिं ज्जेव्व गच्छम्ह। [तेन हि तत्रैव गच्छावः।]

काञ्च०—एदु एदु भट्टिणी। [एत्वेतु भर्त्री।]

(इति परिक्रामतः)

(ततः प्रविशति कृतावगुण्ठनो विदूषकः)

विदूषक—(कर्णं दत्वा) जधा चित्तसालिआदुवारे पदसद्दो सुणीअदि तधा तक्केमि आअदा साअरिअत्ति [यथा चित्रशालिकाद्वारे पदशब्दः श्रूयते तथा तर्कयाम्यागता सागरिकेति।]

काञ्चनमाला—भट्टिणी, इअं सा चित्तसालिआ। ता जाव वसन्तअस्स सण्णं करेमि। (इति छोटिकां ददाति)। [भर्त्रि, इयं सा चित्रशालिका। तद्यावद्वसन्तकस्य संज्ञां करोमि।]

विदूषकः—(सहर्षमु सृत्य सस्मितम्) सुसंगदे, सुट्ठु क्खु किदो कञ्चणमालाये वेसो। अध सामग्गिआ दाणिं कहिं। [सुसङ्गते, सुष्ठु खलु त्वया कृतः काञ्चनमालाया वेषः। अथ सागरिकेदानीं क्व।]

काञ्चनमाला—(अङ्गुल्या दर्शयन्ती णं एसा। [नन्वेषा।]

विदूषकः—(दृष्ट्वा सविस्मयम्) एसा फुडं ज्जेव्व देवी वासवदत्ता। [एषा स्फुटमेव देवी वासवदत्ता।]

वासव०—(साशङ्कमात्मगतम्) कहं जाणिदम्हि। [कथं ज्ञाताऽस्मि।]

अरे, विदूषक कैसे देर लगा रहा है ? तो क्या कहीं यह बात महारानी ने जान तो नहीं ली ।

(तत्पश्चात् वासवदत्ता और काञ्चनमाला प्रवेश करती हैं)

वासवदत्ता—अरी काञ्चनमाला, सचमुच ही मेरा वेष बनाकर सागरिका आर्यपुत्र के पास जायेगी ?

काञ्चनमाला—स्वामिनी से असत्य निवेदन कैसे किया जा सकता है ? चित्रशाला के द्वार पर स्थित विदूषक ही आपको विश्वास करा देगा ।

वासव०— तो वहीं चलें ।

काञ्चनमाला—चलिये, स्वामिनी चलिये ।

(दोनों घूमती हैं)

(तब मुख लपेट विदूषक प्रवेश करता है)

विदूषक—(कान लगाकर) क्योंकि चित्रशाला के द्वार पर पैरों का शब्द सुनाई पड़ रहा है, इससे मैं समझता हूं कि सागरिका आ गई है ।

काञ्चनमाला—स्वामिनी, यह वह चित्रशाला है । तब अब विदूषक को इशारा करती हूं । (चुटकी बजाती है) ।

विदूषक—(हर्ष के साथ समीप जाकर मुस्कराते हुये) सुसङ्गता, तूने तो यह काञ्चनमाला का वेष खूब बनाया । पर अब सागरिका कहां है ?

काञ्चनमाला—(अंगुली से दिखाते हुये) यह है ।

विदूषक—(देखकर विस्मय से) यह तो बिल्कुल महारानी वासवदत्ता है ।

वासव०—(आशङ्का से, स्वगत) मैं कैसे पहचान ली ?

विदूषक—(छोटिकां ददाति) भोदि साअरिए, इदो आअच्छ। [भवति सागरिके, इत आगच्छ।]

(वासवदत्ता विहस्य काञ्चनमालामवलोकयति)

काञ्चन०—(अपवार्येङ्गुल्या तर्जयन्ति) हदास, सुमरिस्ससि एदं अत्तणो वअणं। [हताश, स्मरिष्यसिदमात्मनो वचनम्।]

विदूषक—तुवरदु तुवरदु साअरिआ। एसो क्खु पुव्वदिसादो उग्गच्छदि भअवं मिअलञ्छणो। [त्वरतां त्वरतां सागरिका। एष खलु पूर्वदिशात उद्गच्छति भगवान्मृगलाञ्छन।]

(सर्वे परिक्रामन्ति)

राजा—(सोत्कण्ठमात्मगतम्) अये उपस्थितप्रियासमागमस्यापि किमि-दमत्यर्थमुत्ताम्यति मे मनः। अथ वा—

तीव्रः स्मरसंतापो न तथादौ बाधते यथाऽऽसन्ने।
तपति प्रावृषि नितरामभ्यर्णजलागमो दिवसः ॥१०॥

विदू०—(कर्णं दत्वा) भोदि साअरिए, एसो क्खु पिअवअस्सो तुमं ज्जेव उद्दिसिअ उक्कण्ठाणिब्भरं मन्तेदि। ता णिवेदेमि से तुह आगमणं। [भवति सागरिके, एष खलु प्रियवयस्यस्त्वामेवोद्दिश्योत्कण्ठानिर्भरं मन्त्रयते। तन्निवेदयाम्यस्मै तवागमनम्।]

(वासवदत्ता शिरः संज्ञां ददाति)

विदूषक—(राजानमुपसृत्य) भो वअस्स, दिट्ठिआ वड्ढसे। एसा क्खु मए आणीदा साअरिआ। [भो वयस्य, दिष्ट्या वर्धसे। एषा खलु मयाऽऽनीता सागरिका।]

राजा—(सहर्षं सहसोत्थाय) वयस्य, क्वासौ क्वासौ।

विदू०—(सभ्रूभङ्गम्) ण एसा। [नन्वेषा।]

राजा—(उपसृत्य) प्रिये सागरिके,

उपस्थितेति—उपस्थित आसन्नः प्रियया समागमो मिलनं यस्य तस्य।

तीव्र इति—तीव्रः स्मरसन्तापः आदौ तथा न बाधते यथा आसन्ने

विदूषक—(चुटकी बजाता है) माननीय सागरिका, इधर चलिये।

(वासवदत्ता हंसकर काञ्चनमाला को देखती है)

काञ्चनमाला—(एक ओर अंगुली से डाटते हुये) दुष्ट, अपने इस वचन को याद करेगा।

विदूषक—सागरिका जल्दी करो, जल्दी करो। यह पूर्व दिशा से भगवान् शशांक (चन्द्रमा) ऊपर उठ रहा है।

(सब घूमते हैं)

राजा—(व्याकुलता से आत्मगत) अरे, क्यों यह मेरा मन, जिसका प्रिया से मिलन सन्निकट है, अत्यधिक व्याकुल हो रहा है? अथवा

उत्कट काम-जनित सन्ताप प्रारम्भ मे उतना नहीं सताता, जितना (प्रिया के मिलन के) सन्निकट होने पर सताता है। वर्षा-ऋतु मे वह दिन, जिसमें वर्षा सन्निकट होती है, अधिक तपता है॥१०॥

विदूषक—(कान लगाकर) श्रीमती सागरिका, यह प्रिय तुझे ही लक्ष्य करके अत्यधिक उत्कण्ठापूर्वक कह रहा है। इसलिये इससे तेरे आगमन का निवेदन करता हूं।

वासव०—(सिर से संकेत करती है)।

विदूषक—(राजा के समीप जाकर) हे मित्र, तुम बड़े भाग्यशाली हो। लो, मैं इस सागरिका को ले आया हूं।

राजा—(हर्ष के साथ उठकर) मित्र, वह कहां है? वह कहां है?

विदूषक—(सैन चलाकर) यह तो रही।

राजा—प्रिय सागरिका,

(बाधते)। प्रावृषि अभ्यर्णजलागमः दिवसः नितरां तपति। इत्यन्वयः। तीव्रः कठोरः स्मरस्य कामस्य सन्तापो दाह आदौ प्रियादर्शने जाते तथा तादृग् न बाधते पीडयति यथा प्रियासमागम आसन्ने समीपवर्तिनि सति बाधते। तत्र दृष्टान्तमाह-प्रावृषि वर्षा समयेऽभ्यर्णः समीपो जलस्याऽऽगम, प्राप्तिर्यस्मिन् स दिवसो दिनं नितरामतिशयेन तपति सोष्मो भवति॥१०॥

उत्कण्ठेति—उत्कण्ठा सस्पृहं चिन्ता सा निर्भराऽधिका यस्मिन् कर्मणि तथा।

शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ
रम्भागर्भनिभं तथोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान्निःशङ्कमालिङ्ग्य मा-
मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥१८॥

वासव०—(सवाष्पमपवार्य) कञ्चनमाले एव्वं वि मन्तिअ अज्जउत्तो पुणो वि म आलविस्सदित्ति अहो अच्चरिअं। [काञ्चनमाले, एवमपि मन्त्रयित्वाऽऽर्यपुत्र पुनरपीमा मालपिष्यतीत्यहो आश्चर्यम् ।]

काञ्चनमाला—(अपवार्य) भट्टिदणि एव्वं णेदं । किं उण साहसिआणं पुरिसाण ण सभावीअदि । [भर्त्रि एव न्विदम् । किं पुनः साहसिकानां पुरुषाणां न सभाव्यते ।]

विदूषक—भोदि साअरिए, वीसद्धा भविअ पिअवअस्सं आलवेहि । अज्ज वि दाव मे णिच्चरुट्ठाए देवीए वासवदत्ताए दुट्ठवअणेहिं कडुइदा कण्णा संपद सुहावेदु तुए महुरवअणोवण्णासो । [भवति सागरिके, विश्रब्धा भूत्वा प्रियवयस्यमालप । अद्यापि तावदस्य नित्यरुष्टाया देव्या वासवदत्ताया दुष्ट वचनैः कटुकितौ कर्णौ साम्प्रतं सुखयतु तव मधुरवचनोपन्यासः ।]

वासव०—(अपवार्य सरोषस्मितम्) हञ्जे काञ्चणमाले अहं ईदिसी कडुभासिणी । अज्जवसन्तओ उण पिअवदो । [हञ्जे काञ्चनमाले, अहमीदृशी कटुभाषिणी । आर्यवसन्तकः पुनः प्रियंवदः ।]

काञ्चनमाला—(अपवार्य) हदास, सुमरिस्ससि एदं वअणं । [हताश, स्मरिष्यस्येतद् वचनम् ।]

विदू०—(विलोक्य) भो वअस्स, पेक्ख पेक्ख । एसो क्खु कुविदकामिणी-कवोलसच्छहो पुव्वदिसं पआसअन्तो उदिदो भअवं मिअलञ्छणो । [भो वयस्य प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व । एष खलु कुपितकामिनीकपोलसनिभः पूर्वदिशं प्रकाशयन्नुदितो भगवान्मृगलाञ्छनः ।]

शीतांशुरिति—तव मुखं शीतांशुः, दृशौ उत्पले, करौ पद्मानुकारौ, तथा

तेरा मुख चन्द्रमा है, आँखें नील-कमल हैं, हाथ कमल-सदृश हैं, उरु-युगल कदली के मध्य भाग के समान है और भुजायें कमल-नाल के तुल्य है, इस प्रकार, हे आनन्दित करने वाले सब अङ्गों वाली, तू आ और नि.शंक होकर बलपूर्वक मेरा आलिङ्गन करके काम के ताप से व्याकुल मेरे अङ्गों को शान्त कर दे ॥११॥

वासव०—(आँसू भरकर, एक ओर को) काञ्चनमाला, इस प्रकार कहकर भी आर्यपुत्र फिर मुझ से बातें करेंगे, यह आश्चर्य है।

काञ्चनमाला—(एक ओर को) स्वामिनी, ऐसा ही है। साहसिक पुरुषों से भला क्या सम्भव नहीं है।

विदूषक—माननीय सागरिका, निडर होकर प्रिय मित्र से बातें करो। अब तक हमेशा रुष्ट रहने वाली महारानी वासवदत्ता की कटूक्तियों से कडुवाये हुए इसके कानों को अब अपने मीठे वचनों के प्रसङ्ग से सुखी करो।

वासव०—(एक ओर को) मुड़कर, रोष और मुस्कराहट के साथ) काञ्चनमाला, मैं ऐसी कटु-भाषिणी हूँ, लेकिन आर्य वसन्तक तो प्रियभाषी है।

काञ्चनमाला—(एक ओर को) दुष्ट, इस बात को याद करेगा।

विदूषक—(देखकर) हे मित्र, देखो देखो। यह रुष्ट सुन्दरी के कपोल जैसा भगवान् शशांक पूर्व दिशा को प्रकाशित करता हुआ उदित हो रहा है।

उरुयुगल रम्भागर्भनिभम्, बाहू मृणालोपमौ, इति आह्लादकराखिलाङ्गि, एहि, एहि। रभसात् मा नि.शङ्कमालिङ्ग्य त्वम् अनङ्गतापविधुराणि अङ्गानि निर्वापय। इत्यन्वयः। तव मुखं शीता अतवः किरणा यस्य स शीतांशुश्चन्द्रः, तव दृशौ नेत्रे उत्पले कमले, करौ हस्तौ पद्ममनुकुरुत इति पद्मानुकारौ, तथोरुयुगलं सक्थियुग्मं रम्भायाः गर्भो मध्यभागस्तेन निभं तुल्यम्, बाहू भुजौ मृणालं बिसमुपमा सादृश्यं ययोस्तावित्येवमाह्लाद कुर्वन्तीत्याह्लादकराण्यखिलानि सकलान्यङ्गान्यवयवा यस्यास्तत्सम्बोधन आह्लादकराखिलाङ्गि, एह्येहि। रभसाद्वेगान्मां निर्गता शङ्का भयं यस्मात्तत्तथाऽऽलिङ्ग्य त्वमनङ्गस्य तापेन दाहेन विधुराण्याकुलानि मेऽङ्गान्यवयवान् निर्वापय सुखय ॥११॥

कुपितेति—कुपितायाः रुष्टायाः कामिन्याः कपोलेन सन्निभस्तुल्यः।

राजा—प्रिये सागरिके, पश्य—

आरुह्य शैलशिखरं त्वद्वदनापहृतकान्तिसर्वस्वः ।
प्रतिकर्तुमिवोर्ध्वकरः स्थितः पुरस्तान्निशानाथः ॥१२॥

अपि च, दर्शितमनेनोद्गच्छता जडत्वम् । कुतः

किं पद्मस्य रुचं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किं
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम् ।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्गतो
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तदप्येवास्ति बिम्बाधरे ॥१३॥

वासव०—(सरोषमवगुण्ठनमपनीय) अज्जउत्त, सच्चं एव्व अहं साअरिआ । तुमं उण साअरिओक्खित्तहिअओ सव्वं एव्व साअरिआअं पेक्खसि । [आर्यपुत्र, सत्यमेवाहं सागरिका । त्वं पुनः सागरिकोत्क्षिप्तहृदयः सर्वमेव सागरिकामयं प्रेक्षसे ।]

राजा—(दृष्ट्वा सवैलक्ष्यमपवार्य) कथं देवी वासवदत्ता । वयस्य, किमेतत् ।

आरुह्येति—त्वद्वदनापहृतकान्तिसर्वस्वः निशानाथः शैलशिखरमारुह्य ऊर्ध्वकरः प्रतिकर्तुमिव पुरस्तात् स्थितः । इत्यन्वयः । तव वदनेन मुखेनापहृतं चोरितं कान्तिरेव सर्वं स्वं धनं यस्य स निशाया नाथश्चन्द्रः शैलस्योदयगिरेः शिखरमारुह्योर्ध्वकर ऊर्ध्वमुत्क्षिप्ताः कराः किरणा यस्य स सन् प्रतिकर्तुमिव प्रतिकारार्थमिव पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि स्थितः । यथा कश्चित्केनचित् स्वधने चोरिते तत्प्रतिकारेच्छयोच्चस्थलमारुह्योर्ध्वकरं कृत्वा शत्रुमाह्वयन् पुरः स्थितो भवति तद्वदित्यर्थः ॥१२॥

किं पद्मस्येति—पद्मग्लानीत्यादीनि कृत्यानि सागरिकाया वक्त्रेन्दुनैव क्रियन्ते, पुनरपि यदसौ चन्द्रः पिष्टपेषणं कुर्वन् उदेति तदस्य प्रकृतिजडत्वमेव । तदेव किं पद्मस्येत्यादिना दर्शयति । (तव वक्त्रेन्दुः) पद्मस्य रुचं न हन्ति किम् ? (दर्शकानां) नयनानन्दं न विधत्ते किम् ? आलोकमात्रेण झषकेतनस्य वा वृद्धिं न कुरुते किम् ? तव वक्त्रेन्दौ सति यद् अयम् अपरः शीतांशुः अभ्युद्गतः । चेद्

राजा—प्रिय सागरिका, देखो—

तुम्हारे मुख द्वारा हर ली गई सम्पूर्ण कान्ति वाला निशापति पर्वत की चोटी पर चढकर ऊपर किरण फैलाये, मानो, बदला लेने के लिये सामने पूर्व दिशा मे स्थित है ॥१२॥

और भी उदित होते हुए इसने दिखला दी न अपनी मूर्खता ! क्योंकि (तेरा मुख) क्या कमलो की कान्ति को नष्ट नही कर देता है ? क्या वह नेत्रों को आनन्द नही देता है ? क्या देखने मात्र से वह मकरकेतन (काम) की वृद्धि नही करता है ? तेरे मुख रूपी चन्द्रमा के रहते हुए भी जो यह दूसरा हिमांशु (चन्द्र) सामने उदित हुआ है तो कदाचित (इसे) अमृत का अभिमान हो, लेकिन वह (अमृत) भी (तुम्हारे) इस बिम्ब सदृश अधर में है ही ॥१३॥

वासवदत्ता—(क्रोध पूर्वक पर्दा हटाकर) आर्यपुत्र, मैं सच ही सागरिका हूँ। सागरिका के लिये बौराये हुए हृदय वाले तुम तो सबको सागरिकामय ही देखते हो।

राजा—(देखकर, लज्जा के साथ, एक ओर को) अरे ! महारानी वासवदत्ता कैसे ? मित्र, यह क्या ?

अमृतेन दर्पः स्यात् तदपि इह बिम्बाधरे अस्ति एव । इत्यन्वयः । तव सागरिकाया वक्त्रेन्दु पद्मस्य इव कान्ति न हन्ति प्रत्यादिशति किमिति काकुः । अपि तु प्रत्यादिशत्येव । दर्शकानां नयनानन्दं नयनयोरानन्दमाह्लाद न विधत्ते करोति, किम ? अपि तु करोत्येव । वा अथवाऽऽलोकमात्रेण दर्शनमात्रेण झषो मीनः केतन ध्वजं यस्य तस्य कामस्य पक्षे समुद्रस्य वृद्धि न कुरुते किम् ? अपि तु करोत्येव । तव वक्त्रेन्दौ वक्त्र मुखमिन्दुरिव तस्मिन् सत्यपि यद् यस्मात्कारणादयं पुरो दृश्यमानोऽपरः शीता अंशवो यस्य स शीतांशुर्हिमकरोऽभ्युद्गत उदितस्तस्य सर्वथा जड़ एव कृतकरणात् । चेद् यद्यस्य चन्द्रस्याऽमृतेन सुधया हेतुना दर्पो गर्वः स्यात्स्वोदयं च सफलं मन्येत तदपि दूर आस्ता यतस्तदमृतेमपीहाऽस्मिन् तव विम्बाधरो बिम्बमिव बिम्बीफलमिवाधरस्तस्मिन्नस्त्येव ॥१३॥

विदूषक—(सविषादम्) भो वअस्स, किं अवरं। अम्हाणं जीविदसंसओ जादो एसो। [भो वयस्य, किमपरम्। अस्माकं जीवितसंशयो जात एषः।]

राजा—(उपविश्याञ्जलिं बद्ध्वा) प्रिये वासवदत्ते, प्रसीद प्रसीद।

वासव०—(तदभिमुखं हस्तौ प्रसार्याश्रूणि विधारयन्ति) अज्जउत्त, मा एव्वं भण। अण्णासत्ताइं एदाइं अक्खराइं। [आर्यपुत्र, मैवं भण। अन्यासक्तान्येतान्यक्षराणि।]

विदूषक—(आत्मगतम्) किं दाणिं एत्थ करिस्सं। भोदु। एव्वं दाव। (प्रकाशम्) भोदि, महाणुभावा क्खु तुमं। ता खमीअदु दाव एक्को अवराहो पिअवअस्सस्स। [किमिदानीमत्र करिष्यामि। भवतु। एवं तावत्। भवति, महानुभावा खलु त्वम्। तत्क्षम्यतां तावदेकोऽपराधः प्रियवयस्यस्य।]

वासव०—अज्ज वसन्तअ, ण पढमसमागमे विग्घं करन्तीए मए ज्जेव एदस्स अवरद्धं। [आर्य वसन्तकः, ननु प्रथमसंगमे विघ्नं कुर्वन्त्या मयैवैतस्यापराद्धम्।]

राजा—देवि, एवं प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकः किं ब्रवीमि। तथापि विज्ञापयामि। (पादयोः पतति)।

> आताम्रतामपनयामि विलक्ष एष,
>
> लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि मूर्ध्ना।
>
> कोपोपरागजनितां तु मुखेन्दुबिम्बे
>
> हर्तुं क्षमो यदि परं करुणा मयि स्यात् ॥१४॥

वासव०—(हस्तेन वारयन्ती) अज्जउत, उट्ठेहि उट्ठेहि। णिल्लज्जो क्खु सो जणो जो अज्जउत्तस्स ईदिसं हिअअं जाणिअ पुणो वि कुप्पदि। ता सुहं चिट्ठदु अज्जउत्तो। अहं गमिस्सं। (इति गन्तुमिच्छति)। [आर्यपुत्र, उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। निर्लज्जः खलु स जनो य आर्यपुत्रस्येदृशं हृदयं ज्ञात्वा पुनरपि

सागरिकेति—सागरिकाणां प्राचुर्यमत्रेति सागरिकामयम्। प्रत्यक्षेति—प्रत्यक्षं दृष्टं व्यलीकमपराधो यस्य सः।

आताम्रेति—देवि विलक्षः एषः मूर्ध्ना तव चरणयोः लाक्षाकृताम् आताम्रताम् अपनयामि। मुखेन्दुबिम्बे कोपोपरागजनिताम् (आताम्रताम्) तु हर्तुं

विदूषक—(विषाद से) अरे मित्र, और क्या है ? यह हमारे प्राणों को संशय उत्पन्न हो गया है।

राजा—(बैठकर, हाथ जोड़कर) प्रिय वासवदत्ता, प्रसन्न हो जाओ, प्रसन्न हो जाओ।

वासव०—(उसके सामने दोनों हाथ पसार कर आंसू भरे हुए) आर्यपुत्र, ऐसा न कहो। यह शब्द अन्य को लक्षित कर रहे है।

विदूषक—(स्वगत) अब इस स्थिति में क्या करूं ? अच्छा, ऐसा करूं। (प्रकट मे) माननीय, आप तो बड़ी उदार हैं। प्रिय मित्र का एक अपराध तो क्षमा कर ही दें।

वासव०—आर्य वसन्तक, प्रथम मिलन मे विघ्न करते हुये मैंने ही इनका अपराध किया है।

राजा—देवि, इस प्रकार प्रत्यक्ष देखे गये दोष वाला मैं क्या कहूं ? फिर भी प्रार्थना करता हूं। (पैरों मे पडता हूं)

देवि, यह लज्जित हुआ मैं अपने सिर से तुम्हारे चरणों की महावर की लाली को पोछता हूं। (तुम्हारे) मुख रूपी चन्द्र बिम्ब पर क्रोध रूपी (राहु के) ग्रहण से उत्पन्न (लाली) को तो (तभी) दूर कर सकता हूं यदि मुझ पर (आपकी) केवल दया हो जाये।।१४।।

वासव०—(हाथ से रोकती हुई) आर्यपुत्र, उठो उठो। निर्लज्ज तो यह है, जो आर्यपुत्र के ऐसे हृदय को जानकर फिर भी कोप करता है। आर्यपुत्र सुखपूर्वक रहें। मैं जा रही हूं। (यह कहकर जाना चाहती है।)

क्षमः, यदि मयि पर करुणा स्यात्। इत्यन्वयः। देवि वासवदत्ते, विलक्षो लज्जित एषोऽहं मूर्ध्ना शिरसा तव चरणयोः लाक्षया अनुरागेण कृतामाताम्रतामीपद्रक्ततामपनयामि। तव पादयोः स्वशिरःस्थापनेनाऽपराधमार्जनं करोमीत्यर्थः। मुखमेवेन्दुबिम्बं चन्द्रमण्डलं तत्र कोप एवोपरागो राहुग्रस्तेन जनितां कृतामाताम्रतां तु तदैव हर्तुमपनेतुं क्षमः समर्थः स्यां यदि मयि पर केवल तव करुणा दया स्यात्। तव मुखे कोपजनिता रक्ततां दूरीकर्तुं तव प्रसादादन्य उपायोनास्तीत्यर्थः ।।१४।।

कुप्यति । तत्सुखं तिष्ठत्वार्यपुत्रः । अहं गमिष्यामि ।

काञ्चनमाला—भट्टिणी, करेहि पसादं । एवं चरणपडिदं महाराअं उज्झिअ गदाए देवीए पच्छादावेण होदव्वं । [भर्त्रि कुरु प्रसादम् । एवं चरणपतितं महाराजमुज्झित्वा गताया देव्याः पश्चात्तापेन भवितव्यम् ।]

वासव०—अवेहि, अपण्डिदे, कुदो एत्थ पसादस्स पच्छादावस्स वा कारणं ता एहि । गच्छम्ह । (इति निष्क्रान्ते) [अपेहि, अपण्डिते, कुतोऽत्र प्रसादस्य पश्चात्तापस्य वा कारणम् । तदेहि । गच्छावः ।]

राजा—देवि प्रसीद प्रसीद । (आताम्रतामपनयामीति ३/१४ पुनः पठति) ।

विदूषक—भो, उट्ठेहि । गदा देवी । ता कीस एत्थ अरण्णरुदिदं करेसि । [भोः उत्तिष्ठ । गता देवी । तत्कस्मादत्रारण्यरुदितं करोषि ।]

राजा—(मुखमुन्नमय्य दृष्ट्वा) कथमकृत्वैव प्रसादं गता देवी ।

विदूषक—कहं ण किदो पसादो जं अज्ज वि अक्खदसरीरा चिट्ठम्ह । [कथं न कृतः प्रसादो यदद्याप्यक्षतशरीरौ तिष्ठावः ।

राजा—धिङ् मूर्ख, किमेवमुपहससि माम् । ननु त्वत्कृत एवायमापतितोऽस्माकं महाननर्थः कुतः—

समारूढा प्रीतिः प्रणयबहुमानादनुदिनं
व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया ।
प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ
प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति ॥१५॥

विदूषक—भो, रुट्ठा देवी किं करिस्सदित्ति ण जाणामि । साअरिआ उण दुक्करं जीविस्सदित्ति तक्केमि । [भोः रुष्टा देवी किं करिष्यतीति न जानामि सागरिका पुनर्दुष्करं जीविष्यतीति तर्कयामि ।]

राजा—वयस्य, अहमप्येवं चिन्तयामि । हा प्रिये सागरिके ।

समारूढेति—प्रणयबहुमानात् प्रीतिः अनुदिनं समारूढा । खलु अकृतपूर्वं मया कृतम् इदं व्यलीकं वीक्ष्य असहमाना असौ प्रिया अद्य अद्यस्फुट जीवितं

काञ्चनमाला—स्वामिनी, कृपा कर दो। इस प्रकार चरणों में पड़े हुए महाराज को छोड़कर गई हुई देवी को अवश्य पश्चात्ताप होगा।

वासव०—हट, मूर्ख! इसमें कृपा अथवा पश्चात्ताप का कारण कहां से आया? इसलिए आ, चलें।

राजा—देवी, प्रसन्न हो जाओ, प्रसन्न हो जाओ। ('आताम्रतामपनयामि ......' इत्यादि श्लोक ३/१४ का पुनः पाठ करता है)।

विदूषक—अरे, उठो। देवी गई। तब क्यों यहां अरण्य-रोदन कर रहे हो।

राजा—(मुख उठाकर, देखकर) कैसे बिना कृपा किये ही देवी चली गई।

विदूषकः—कृपा कैसे नहीं की है—अभी तक दोनों अक्षत शरीर वाले तो बैठे है।

राजा—छिः मूर्ख, क्यों इस तरह मेरा उपहास कर रहा है? तेरे द्वारा किया गया ही तो हम पर यह अनर्थ आ पड़ा है। क्योंकि—

प्रेम के अत्यादर के कारण (हमारी) प्रीति दिन प्रतिदिन बढ़ रही थी पहले न किये गये इस अपराध को मेरे द्वारा किया गया देखकर न सहन करने वाली वह प्रिया (वासवदत्ता) आज निःसन्देह प्राण त्याग देगी, क्योंकि उत्कट प्रेम का स्खलन असह्य होता है ॥१५॥

विदूषक—अरे, रुष्ट देवी क्या करेगी, यह तो मैं नहीं जानता। लेकिन सागरिका का जीना दूभर हो जायेगा मैं ऐसा सोचता हूं।

राजा—मित्र, मैं ऐसा ही सोचता हूं। हाय! प्रिय सागरिका!

मुञ्चति। हि प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितम् अविषह्यं भवति। इत्यन्वयः। प्रणयस्य प्रेम्णो बहुमानादत्यादरात्प्रीतिः स्नेहोऽनुदिनं दिने दिने समारूढा प्रचयं गता। अतः खलु निश्चयेनाऽकृतपूर्वं पूर्वं कृतमिति कृतपूर्वं न कृतपूर्वमकृतपूर्वं मया कृतमिदं व्यलीकमप्रियाचरणं वीक्ष्याऽसहमानाऽमर्षणाऽसौ साः प्रिया वासवदत्ताऽद्य स्फुटं स्पष्टं जीवितं प्राणान् मुञ्चति त्यक्षति। हि यतः प्रकृष्टस्याऽतिशयितस्य प्रेम्णोऽनुरागस्य स्खलितं भ्रंशोऽविषह्यमसोढव्यं भवति ॥१४॥

(ततः प्रविशति वासवदत्तावेषधारिणी सागरिका)

सागरिका—(सोद्वेगम्) दिट्ठआ णाहं इमिणा विरइदेण देवीवेसेण इमादो चित्तसालादो णिक्कमन्ती केणावि लक्खिदम्हि। ता दाणिं किं करिस्सं। इति सास्रं चिन्तयति)। [दिष्ट्या नाहमनेन विरचितेन देवीवेषेणास्यां चित्रशालाया निष्क्रामन्ती केनापि लक्षितास्मि। तदिदानीं किं करिष्यामि।]

विदूषक—भो, किं मूढो विअ चिट्ठसी। चिन्तेहि एत्थ पडीआरं। [भोः, किं मूढ इव, तिष्ठसि। चिन्तयात्र प्रतीकारम्।]

राजा—तदेव चिन्तयामि। वयस्य, देवीप्रसादं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि। तदेहि। तत्रैव गच्छावः।

(इति परिक्रामतः)

सागरिका—(विमृश्य) वरं दाणिं सअं जेव्व अत्ताणअं उब्बन्धिअ उवरदा ण उण जाणिदसंकेदवुत्तन्तए देवीए परिभूदम्हि। ता जाव अहं असोअपाअवं गदुअ जधासमीहिदं करिस्सं। (इति परिक्रामति)। [वरमिदानीं स्वयमेवात्मानमुद्बध्योपरता न पुनर्ज्ञातसंकेतवृत्तान्तया देव्या परिभूतास्मि। तद्यावदहमशोकपादपं गत्वा यथासमीहितं करिष्यामि।]

विदूषक—(आकर्ण्य) चिट्ठ दाव। चिट्ठ भो। पदसद्दो। सुणीअदि। जाणामि कदावि गहिदपच्छावा दावावुणो वि देवी आअदा भवे। [तिष्ठ तावत्। तिष्ठ भोः। पदशब्दः श्रूयते। दाजामि कदापि गृहीतपश्चात्तापा पुनरपि देव्यागता भवेत्।]

राजा—वयस्य, महानुभावा खलु देवी। कदाचिदेवमपि स्यात्। तदभिरितं निरूप्यताम्।

विदूषक—जं भवं आणवेदि। (इति परिक्रामति)। [यद्भवानाज्ञापयति।]

सागरिका—(उपसृत्य) ता जाव इमाए माहवीलदाए पासं विरइअ असोअपादवे अप्पाणअं उब्बन्धिअ वावादेमि। (इति लतापाशं रचयन्ती) हा ताद। हा अम्ब। एसा दाणिं अहं अणाधा असरणा विवज्जामि मन्दभाइणी। (इति कण्ठे लतापाशमर्पयति)। [तद्यावदेतया माधवीलतया पाशं विरच्याशोकपादप आत्मानमुद्बध्य व्यापादयामि। हा तात। हा अम्ब। एषेदानीमहमनाथाऽशरणा विपद्ये मन्दभागिनी।]

(तब वासवदत्ता का वेष धारण किये सागरिका प्रवेश करती है)

सागरिका—(घबराई हुई) सौभाग्य से इस बनाये गये देवी के वेष में चित्रशाला से निकलते हुए मुझे किसी ने नहीं देखा। तब अब क्या करूंगी। (आंसू बहाती हुई सोचती है)।

विदूषक—अरे, क्यों मूढ़-से बैठे हो। इसका उपाय सोचो।

राजा—वही तो सोच रहा हूं। मित्र, मैं देवी को प्रसन्न करने के अलावा इसका अन्य कोई उपाय नहीं देखता। तो आओ। वहीं चलें।

(दोनों घूमते हैं)

सागरिका—(देखकर) अब स्वय अपने को लटका कर मरी भली हूं, न कि सकेत की घटना को जानने वाली महारानी से अपमानित की गई। तो अब अशोक-वृक्ष के समीप जाकर यथाभिलषित करूं। (घूमती है)।

विदूषक—ठहरो तो, अरे ठहरो। पैरों का शब्द सुनाई पड़ रहा है। मैं समझता हूं कि पश्चाताप करके फिर महारानी आ रही होगी।

राजा—मित्र, देवी बड़ी उदार है। शायद ऐसा भी हो। तब जल्दी से देखो।

विदूषक—जैसी आप आज्ञा दें। (घूमता है)।

सागरिका—(समीप जाकर) तो अब इस माधवी लता का फंदा बनाकर अशोक वृक्ष पर अपने को लटका कर आत्मघात करती हूं। (लता का फंदा बनाती हुई) हाय तात, हाय अम्मा, यह अभागी मैं अब अनाथ और शरणहीन होकर मर रही हूं। (गले में लता का फंदा डालती है)।

विदूषक—(विलोक्य) का उण एसा । कधं देवी वासवदत्ता । (ससम्भ्रमुच्चैः) भो वअस्स, परित्ताहि परित्ताहि । एसा क्खु देवी वासवदत्ताया अप्पाणअ उब्बन्धिअ वावादेदि । [का पुनरेषा । कथं देवी वासवदत्ता । भो वयस्य, परित्रायस्व परित्रायस्व । एषा खलु देवी वासवदत्ताऽऽत्मानमुद्बध्य व्यापादयति।]

राजा—(ससम्भ्रममुपसृत्य) क्वासौ क्वासौ ।

विदूषक—ण एसा । [नन्वेषा ।]

राजा—(उपसृत्य कण्ठात्पाशमपनयन्) अयि साहसकारिणि, किमिदमकार्यं क्रियते ।

मम कण्ठगताः प्राणाः पाशे कण्ठगते तव ।
अतः स्वार्थः प्रयत्नोऽयं त्यज्यतां साहसं प्रिये ॥१६॥

सागरिका—(राजानं दृष्ट्वा) अम्मो । कधं एसो भट्टा । (सहर्षमात्मगतम्) जं सच्चं एणं पेक्खिअ पुणो वि मे जीविदाहिलासो संवुत्तो । अहवा एणं पेक्खिअ कदत्था भविअ सुहेण एव्व जीविदं परिच्चइस्सं । (प्रकाशम्) मुञ्चदु मे भट्टा। पराहीणो क्खु अअं जणो ण उण ईदिसं अवसरं मरिदुं पावेदि ।

(इति पुनः कण्ठे पाशं दातुमिच्छति) । [अम्भो ! कथमेष भर्ता । यत्सत्यमेनं प्रेक्ष्य पुनरपि मे जीविताभिलाषः संवृत्तः । अथ वैनं प्रेक्ष्य कृतार्था भूत्वा सुखेनैव जीवितं परित्यक्ष्यामि । मुञ्चतु मुञ्चतु मां भर्ता । पराधीनः खल्वयं जनो न पुनरीदृशमवसरं मर्तुं प्राप्नोति ।]

राजा—(निरूप्य सहर्षमात्मगतम्) कथं प्रिया मे सागरिका (कण्ठात्पाशमाक्षिप्य प्रकाशम्)

अलमलमतिमात्रं साहसेनामुना ते
त्वरितमयि विमुञ्च त्वं लतापाशमेतम् ।

ममेति—प्रिये साहसं त्यज्यताम् । (यतः) पाशे तव कण्ठगते मम प्राणाः कण्ठगताः । अतः अयं प्रयत्नः स्वार्थः । इत्यन्वयः । प्रिये साहसं अविमृश्य कृतं प्राणत्यागरूपं त्यज्यताम् । यतः पाशे तव कण्ठगते कण्ठे स्थिते सति मम प्राणाः

विदूषक—(देखकर) यह कौन है ! क्या देवी वासवदत्ता ? (घबराकर जोर से) अरे मित्र, बचाओ, बचाओ। यह देवी वासवदत्ता लटक कर आत्मघात कर रही है।

राजा—(घबराहट के साथ समीप जाकर) वह कहाँ है ? कहाँ है वह ?

विदूषक—यह तो रही।

राजा—(समीप जाकर, गले से फंदा हटाते हुए) ऐ बिना विचारे करने वाली, यह क्या अनुचित कार्य कर रही हो।

फंदे के तेरे गले में लगने पर मेरे प्राण गले में आ रहे हैं। इसलिए (मेरा) यह प्रयत्न स्वार्थ ही है। हे प्रिय यह दुस्साहस छोड दो ॥१६॥

सागरिका—(राजा को देखकर) अरे ! कैसे ! यह तो स्वामी है। (हर्ष के साथ मन ही मन) सचमुच इसे देखकर तो फिर मुझे जीने की इच्छा हो आई। अथवा इसे देखकर और कृतार्थ होकर सुख से प्राण छोड़ूँगी। (प्रकट में) छोड़िये स्वामी मुझे छोड़िये। यह पराधीन जन फिर मरने का ऐसा सुयोग नहीं पायेगा। (यह कह कर फिर गले में फंदा लगाना चाहती है)।

राजा—(देखकर, हर्ष के साथ मन में) मेरी प्रिया सागरिका कैसे !

(गले से फंदा हटाकर प्रकट में)

बस, बस तेरे इस अत्युत्कट साहस से क्या ? ऐ, तू इस लता पाश को जल्दी से छोड़ दे। हे प्राणेश्वरी, निकलने के लिये उद्यत (मेरे) प्राणों को

कण्ठ गताः कण्ठगताः सन्ति। अतोऽस्य त्वन्निवारणे मम प्रयत्न स्वस्मा अयं स्वार्थ एव ॥१६॥

अलमलमिति—अयि अमुना ते अतिमात्रं साहसेन अलम् अलम। त्वं त्वरितम् एतं लतापाशं विमुञ्च। जीवितेशे, चलितमपि जीवितं निरोद्धुम् इह मम कण्ठे क्षण बाहुपाशं निधेहि। इत्यन्वयः। अयि सागरिके, अमुनाऽनेन ते तवाऽतिक्रान्ता मात्रा यस्मिन् कर्मणि तद् तथा स्यात्तथा साहसेनाऽलमलम्। त्वं

चलितमपि निरोद्धुं जीवितं जीवितेशे
क्षणमिह मम कण्ठे बाहुपाशं निधेहि ॥१७॥

(इति बाहुमाक्षिप्य कण्ठे कृत्वा स्पर्शं नाटयन्)

सखे, इयमनभ्रा वृष्टिः ।

विदूषकः—भो, एव्व णेदं जइ अकालवादवली भविअ ण आआदि देवी वासवदत्ता। [भो, एव न्विदं यद्यकालवातावली भूत्वा नायाति देवी वासवदत्ता ।]

(ततः प्रविशति वासवदत्ता काञ्चनमाला च)

वासव०—हञ्जे कञ्चणमाले, तं तधा चरणणिवडिदं भट्टउत्तं अवधीरिअ आअच्छन्तीए मए अदिणिठ्ठुरं किदं । ता दाणिं सअं ज्जेव्व गदुअ अज्जउत्तं अणुणइस्सं । [हञ्जे काञ्चनमाले, तं तथा चरणनिपतितमार्यपुत्रमवधीर्यागच्छन्त्या मयातिनिष्ठुरं कृतम् । तदिदानीं स्वयमेव गत्वाऽऽर्यपुत्रमनुनेष्यामि ।]

काञ्चनमाला—को अण्णो देवीं वज्जिअ एव्वं भणिदुं जाणादि । वरं सो एव्व देव्वो दुज्जणो होदु ण उण देवी । ता एदु एदु भट्टिणी । [कोऽन्यो देवीं वर्जयित्वैव भणितुं जानाति । वरं स एव देवो दुर्जनो भवतु न पुनर्देवी । तदेत्वेतु भर्त्री ।]

(इति परिक्रामतः)

राजा—अयि मुग्धे किमद्यापि मध्यस्थतया वयं विफलमनोरथाः क्रियामहे

काञ्चनमाला—(कर्णं दत्त्वा) भट्टिणी जधा समीवे एसो भट्टा मन्तेदि तधा तक्केमि तुमं ज्जेव्व अणुणेदुं इदो एव्व आअच्छदि । ता एदु एदु भट्टिणी [भर्त्रि यथा समीप एष भर्ता मन्त्रयते तथा तर्कयामि त्वामेवानुनेतुमित एवागच्छति । तदेत्वेतु भर्त्री ।]

वासव०—(सहर्षम्) ता अलिक्खिदा एव्व पुट्ठदो गदुअ कण्ठे गेण्हिअ पसादइस्सं । [तदलक्षितैव पृष्ठतो गत्वा कण्ठे गृहीत्वा प्रसादयिष्यामि ।]

विदूषक—भोदि साअरिए, वीसत्था भविअ पिअवअस्सं आलवेहि । [भवति सागरिके, विश्वस्ता भूत्वा प्रियवयस्यमालप ।]

त्वरितं यथा स्यात्तथैतं सतैव पाशस्तं विमुञ्चन् जीवितस्य प्राणानीमीशे ईश्वरि,

रोकने के लिये क्षण भर के लिये यहाँ मेरे गले में (अपने) भुज-पाश को डाल दे ॥१७॥

(इस प्रकार भुजा खींचकर कण्ठ में डालकर स्पर्श सुख का अनुभव करते हुए) मित्र, यह बिना मेघ की वृष्टि है ।

विदूषक—अरे, ऐसा ही है, यदि असमय की आंधी बनकर महारानी वासवदत्ता न आ जाये, तब ।

(तत्पश्चात् वासवदत्ता और काञ्चनमाला प्रवेश करती है)

वासव०—अरी काञ्चनमाला, चरणों में पड़े हुये आर्यपुत्र की इस प्रकार उपेक्षा करके आती हुई मैंने बहुत ही निष्ठुर कार्य किया है इसलिये अब स्वयं ही जाकर आर्यपुत्र को प्रसन्न करूंगी ।

काञ्चनमाला—महारानी को छोड़कर अन्य कौन ऐसा कहना जानता है । अच्छा है, वह महाराज ही दुर्जन रहे, लेकिन महारानी नहीं । इसलिये स्वामिनी चलिये, चलिये ।

(दोनों घूमती है)

राजा—ओ मुग्धे, क्यों आज भी अपनी उदासीनता से हमे अपूर्ण मनोरथ कर रही है ।

काञ्चनमाला—(कान लगाकर) स्वामिनी, जैसा कि वह स्वामी समीप ही बोल रहे हैं, इससे अनुमान करती हूं कि तुम्हे मनाने के लिये इधर ही आ रहे है । इसलिये स्वामिनी चले, चलें ।

वासव०—(हर्ष के साथ) तब तो बिना दीखे ही पीछे से जाकर गले मे लिपट कर प्रसन्न करूंगी ।

विदूषक—माननीय सागरिका, निर्भय होकर प्रिय मित्र से बातें करो ।

चलितमपि गमनोन्मुखमपि मम जीवितं निरोद्धुं प्रतिबद्धुमिहाऽस्मिन् मम कण्ठे क्षण मुहूर्त्तं बाहू एव पाशस्तं निधेहि स्थापय ॥१७॥

वासव०—(आकर्ण्य सविषादम्) कञ्चणमाले, कधं साअरिआ इदो एव्व आअदा। ता सुणिस्सं दाव पच्छा उवसप्पिस्सं। (इति तथा करोति)। [काञ्चनमाले, कथं सागरिकेत एवागता। तच्छ्रोष्यामि तावत्। पश्चादुपसर्पिष्यामि।]

सागरिका—भट्टा, किं एदिणा अलीअदाक्खिण्णेण जीविदादोवि अधिअवल्लहाए देविए अत्ताणअं अवराहिणं करेसि। [भर्तः, किमेतेनालीकदाक्षिण्येन जीवितादप्यधिकवल्लभाया देव्या आत्मानमपराधिनं करोषि।]

राजा—अयि, मिथ्यावादिनी खल्वसि। कुतः।

श्वासोत्कम्पिनि कम्पित कुचयुगे मौने प्रियं भाषित
वक्त्रेऽस्याः कुटिलीकृतभ्रुणि तथा यातं मया पादयोः।
इत्थं नः सहजाभिजात्यजनिता सेवैव देव्याः परं
प्रेमाबन्धविवर्धिताकरसा प्रीतिस्तु या सा त्वयि ॥१८॥

वासव०—(सहसोपसृत्य सरोषम्) अज्जउत्त, जुत्त एवं। सरिसं एदं। [आर्यपुत्र, युक्तमेतत्। सदृशमेतत्।]

राजा—(दृष्ट्वा सवैलक्ष्यम्) देवि, न खल्वकारणे मामुपालब्धुमर्हसि। सत्य त्वामेव मत्वा वेषसादृश्याद्विप्रलब्धा वयमिहागताः। तत्क्षम्यताम्। [इति पादयोः पतति।]

वासव०—(सरोषम्) अज्जउत्त उट्ठेहि उट्ठेहि। किं अज्जवि सहजाभिजादाए सेवाए दुक्ख अणुभवीअदि। [आर्यपुत्र, उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। किमद्यापि सहजाभिजातायाः सेवया दुःखमनुभूयते।]

राजा—(स्वगतम्) किमेतदपि श्रुतं देव्या। तत्सर्वथा देवीप्रसादनं प्रति निराशीभूता स्मः। [इत्यधोमुखस्तिष्ठति।]

श्वासोत्कम्पिनीति—अस्याः कुचयुग श्वासोत्काम्पनी कम्पितं मौने प्रियं भाषितम्। अस्याः वक्त्रे कुटिलीकृतभ्रुणि मया तथा पादयोः यातम्। इत्थ देव्याः सहजाभिजात्यजनिता नः सेवैव। पर प्रेमाबन्धविवर्धिताधिकरसा या प्रीतिः सा तु त्वयि (एव) इत्यन्वयः। अस्या वासवदत्तायाः कुचयुगे श्वासेनाभीक्ष्ण मुत्कम्पत इति श्वासोत्कम्पि तस्मिन् सति मया कम्पितमस्या मौने मौनमाश्रिता-

वासव०—(सुनकर, दुःख के साथ) काञ्चनमाला, कैसे सागरिका इधर ही आ गई। तब पहले सुनूंगी पीछे पास जाऊगी (वैसा करती है)।

सागरिका—स्वामी, क्यों इस झूठे प्रेम-प्रदर्शन से अपने को प्राणों से भी प्यारी महारानी का अपराधी बना रहे हो।

राजा—अरी, तू तो झूठी बात कह रही है। क्योंकि—

(जो) इस (महारानी) के स्तन-युगल के उच्छ्वास से कांपने पर (मैं) काप गया, मौन होने पर प्रिय वचन कहा, मुख के कुटिल भौं वाला करने पर पैरों में पड़ गया। (वह तो) इस प्रकार देवी के प्रति जन्मजात कुलीनता के कारण की गई हमारी सेवा-भर थी लेकिन, जिसमे प्रेम के बन्धन से अधिक रस बढ़ रहा है, वह प्रीति तो केवल तुझ में है ॥१८॥

वासव०—(वेग से समीप जाकर, रोषपूर्वक) आर्यपुत्र, य. ठीक है ? यह योग्य है ?

राजा—(देखकर, लज्जित होकर) देवी, कोई कारण न होने पर तुम्हें मेरा उपालम्भ नही करना चाहिये। सचमुच वेष की समानता से वञ्चित हुये हम तुम्हे समझकर यहां आ गये थे। इसलिये क्षमा करो। (यह कहकर पैरो में पड़ता है)।

वासव०—(रोषपूर्वक) आर्यपुत्र, उठो, उठो। जन्मजात कुलीन की सेवा से आज भी क्यो दुःख उठा रहे हो।

राजा—(स्वगत) क्या देवी ने यह भी सुन लिया ? तब तो देवी को प्रसन्न कर लेने की कोई आशा नही है। (मुख नीचे कर लेता है)।

या तस्याः संतोषार्थं प्रियं भाषितम्। अस्य वक्त्रे मुखे कुटिलीकृते वक्रीकृते भ्रुवौ यस्मिन् तस्मिन् सति मया तथा तेन प्रकारेण पादयोर्पात तस्याः प्रसादनार्थं चरणयोः पतन कृतम्। इत्यमेव देव्या वासवदत्तायाः सहज स्वाभाविक यदाभिजात्यं कुलीनता तेन जनिता कारिता नोऽस्माकं सेवैव। परमन्यथा प्रेम्ण आबन्धेन विर्धाधत उत्कर्ष नीतोऽधिको रसो यस्यां सा या प्रीतिरनुरागः सा तु त्वय्येव ॥१८॥

वेषेति—वेषस्य नेपथ्यस्य सादृश्येन विप्रलब्धा वञ्चिताः।

विदूषक—भोदि, तुमं किल अत्ताणअं उब्बन्धिअ वावादेसित्ति वेससारिस्समोहिदेण मए पिअवअस्सो एत्थ आणीदो। जइ मम वअणं ण पत्तिआअसि ता पेक्ख इमं लदापाशं। (इति लतापाशं दर्शयति)। [भवति, त्वं किलात्मानमुद्बध्य व्यापादयसीति वेशसादृश्यमोहितेन मया प्रियवयस्योऽत्रानीतः। यदि मम वचनं प्रत्याययसि तत्प्रेक्षस्वेमं लतापाशम्।]

वासव०—(सकोपम्) हञ्जे काञ्चनमाले, एदेण एव्व लदापासेण बन्धिअ गेण्ह एदं बम्हणं। एदं अ दुव्विणीदं कण्णअं अग्गदो करेहि। [हञ्जे काञ्चनमाले एतेनैव लतापाशेन बद्ध्वा गृहाणैनं ब्राह्मणम्। एतां च दुर्विनीतां कन्यकामग्रतः कुरु।]

काञ्चनमाला—जं देवी आणवेदि। (लतापाशेन विदूषकं बध्नती) हदास अणुभव दाव अत्तणो दुण्णअस्स फलं। साअरिए, तुमंपि अग्गदो होहि। [यद्देव्याज्ञापयति। हताश, अनुभव तावदात्मनो दुर्नयस्य फलम्। सागरिके, त्वमप्यग्रतो भव।]

सागरिका—(स्वगतम्) हद्धी, कधं अकिदपुण्णाए मए मरिदुं वि अत्तणो इच्छाए ण पारिदं। [हा धिक्। कथम् अकृतपुण्यया मया मर्तुमप्यात्मन इच्छया न पारितम्।]

विदूषक—(सविषादं राजानमवलोक्य) भो वअस्स, सुमरेहि मं अणाधं देवीए बन्धणादो विवज्जन्तं। [भो वयस्य, स्मर मामनाथं देव्या बन्धनाद्विपद्यमानम्।]

(सर्वानादाय निष्क्रान्ता वासवदत्ता)

राजा—(सखेदम्) कष्टं भोः कष्टम्।

किं देव्याः कृतदीर्घरोषमुषितस्निग्धस्मितं तन्मुखं
त्रस्ता सागरिका सुसभृतरुषा किं तर्ज्यमाना तया
बद्ध्वा नीतमितो वसन्तकमहं किं चिन्तयामीत्यहो
सर्वाकारकृतव्यथः क्षणमपि प्राप्नोमि नो निर्वृतिम् ॥१९॥

किं देव्या इति—किं देव्याः तत् कृतदीर्घरोषमुषितस्निग्धस्मितं मुख

विदूषक—देवी, तुम लटक कर आत्महत्या कर रही हो, इससे वेष की समानता से भ्रम में पड़ा हुआ मैं प्रिय मित्र को यहां ले आया था। यदि मेरी बात का विश्वास न हो तो, इस लता-पाश को देख लो। (लता-पाश दिखलाता है।)

वास०—(क्रोध से) काञ्चनमाला, इसी लतापाश से बांधकर इस ब्राह्मण को पकड़ लो। और इस उद्दण्ड लड़की को आगे आगे ले चलो।

काञ्चमाला—जैसी महारानी आज्ञा दें। (लतापाश से विदूषक को बांधती हुई) नीच, अब तू अपने दुराचार का फल चख। सागरिका, तू भी आगे हो।

सागरिका—(स्वगत) हाय ! धिक्कार ! क्यों मैं पापिन अपनी इच्छा से मर भी न सकी।

विदूषक—(विषादपूर्वक राजा को देखकर) हे मित्र, देवी के बन्धन से मरते हुए मुझे याद रखना।

(सबको लेकर वासवदत्ता चली जाती है)

राजा—(खेदपूर्वक) अहो ! बड़ा कष्ट है।

क्या मैं देवी के उस मुख की चिन्ता करूं जिसकी स्नेह भरी मुस्कान को किये गये दीर्घ रोष ने चुरा लिया है, क्या बढ़े हुए क्रोध वाली उस (देवी) से धमकाई जाती हुई और डरी हुई सागरिका की चिन्ता करूं, अथवा क्या यहां से बांधकर ले जाये गये विदूषक की चिन्ता करूं ? आह ! इस तरह सब प्रकार से, पीड़ा दिया गया मैं क्षण भर भी शान्ति नहीं पा रहा ॥१६॥

चिन्तयामि, सुसमृतरुषा तया तर्ज्यमाना त्रस्तां सागरिका (चिन्तयामि), किं बद्ध्वा इतः नीतं विदूषकं चिन्तयामि' इति, अहो सर्वाकारकृतव्यथः अहं क्षणमपि निर्वृतिं नो प्राप्नोमि। इत्यन्वयः। किं देव्या वासवदत्तायास्तप्तु—परिचितं कृतो यो दीर्घो रोषः क्रोधस्तेन मुषित-विलोपितं स्निग्धं रुचिरं स्मितं यस्मिस्तन्मुखं चिन्तयामि, किं सुसंभृता विवृद्धा रुट् क्रोधो यस्यास्तया तर्ज्यमानां भर्त्स्यमानामतस्त्रस्तां भीतां सागरिकां चिन्तयामि किं वा बद्ध्वा पाशेनादायेतो नीतं विदूषकं वसन्तकं चिन्तयामि, इत्येवमहो सर्वाकारेण सर्वप्रकारेण कृता

तत्किमिदानीमिह स्थितेन । देवीं प्रसादयितुमभ्यन्तरमेव प्रविशामि ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति सकेतक नाम तृतीयोऽङ्कः ॥

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति रत्नमालामादाय सास्रा सुसंगता)

सुसंगता—(सकरुणं निःश्वस्य) हा पिअसहि साअरिए, हा लज्जालुए, हा उदारसीले, हा सहीजणवच्छले, हा सोम्मदंसणे, कहिं दाणिं तुमं मए पेक्खिदव्वा (इति रोदिति। ऊर्ध्वमवलोक्य निःश्वस्य च) अयि देव्वहदअ, अकरुण असामण्णरूवसोहा तादिसी तुए जइ णिम्मिदा ता कीस उण ईदिसं अवत्थन्तरं पाविदा। इअं अ रअणमाला जीविदणिरासाए ताए कस्सवि बम्हणस्स हत्थे पडिवादेसुत्ति भणिअ मम हत्थे समप्पिदा। ता जाव कंपि बम्हणं अण्णेसामि। (परिक्रम्याग्रतोऽवलोक्य च) अए, कधं ऐसो खु अज्ज-वसन्तओ इदो जेव्व आअच्छदि। ता जाव एदस्स एव्व पडिवादइस्सं। [हा प्रियसखि सागरिके, हा लज्जालुके हा उदारशीले, हा सखीजनवत्सले, हा सौम्यदर्शने, कुत्रेदानीं त्वं मया प्रेक्षितव्या। अयि दैवहतक, अकरुण, असामान्यरूपशोभा तादृशी त्वया यदि निर्मिता तत्कस्मात्पुनरीदृशमवस्थान्तरं प्रापिता। इयं च रत्नमाला जीवितनिराशया तया कस्यापि ब्राह्मणस्य हस्ते प्रतिपादयेति भणित्वा मम हस्ते समर्पिता। तद्यावत्कमपि ब्राह्मणमन्विष्यामि। अये, कथमेष खलु आर्यवसन्तक इत एवागच्छति। तद्यावदेतस्मा, एवं प्रतिपादयिष्यामि।]

(ततः प्रविशति प्रहृष्टो वसन्तकः)

व्यथा पीडा यस्य सोऽहं क्षणमपि मुहूर्त्तमपि निर्वृतिं शान्तिं ना प्राप्नोमि लभे ॥१६॥

॥ इति रत्नावलीटीकायां तृतीयोऽङ्कः ॥

तो अब यहां बैठे हुये क्या होगा ? देवी को प्रसन्न करने के लिए अन्दर ही चलूं ।

(सब निकल जाते हैं)

॥ संकेत नामक तृतीय अङ्क समाप्त ॥

चतुर्थअङ्क

(रत्नमाला लिये आंसू बहाती हुई सुसंगता प्रवेश करती है)

सुसङ्गता—(करुणा सहित लम्बा सांस लेकर) हाय, प्रिय सखी सागरिका ! हाय, लज्जाशील ! हाय, उदार स्वभाव वाली ! हाय, सखियों से प्रेम रखने वाली ! हाय, सरल दर्शन वाली ! अब मैं तुझे कहां देखूंगी ? (रोती है, ऊपर देखकर और लम्बा सांस लेकर) अरे, निष्ठुष्ट दुष्ट भाग्य, यदि तूने यह असाधारण रूप सौन्दर्य वाली बनाई थी, तो उसकी ऐसी दुर्दशा क्यों की ? जीवन से निराश हुई उसने यह रत्नावाला 'इसे किसी ब्राह्मण के हाथ में देना', यह कहकर मेरे हाथ में दी । तो अब किसी ब्राह्मण की खोज करूं । (घूमकर और आगे देखकर) अरे, यह तो आर्य वसन्तक ही इधर आ रहा है । तब इसी को इसे दे दूंगी ।

(प्रसन्न हुआ वसन्तक प्रवेश करता है)

विदूषक—ही ही भो, अज्ज क्खु पिअवअस्सेण पसादिदाए तत्तभोदीए वासवदत्ताए बन्धणादो मोचिअ सहत्थदिण्णेहिं मोदएहिं चिरस्स दाव कालस्स उदरं मे सुपूरिदं किदं। अण्णं च, एदं पट्टंसुअजुअलं कण्णाभरणं अ दिण्णं ता जाव दाणिं गदुअ पिअवअस्सं पेक्खामि। (इति परिक्रामति)। [ही ही भोः, अद्य खलु प्रियवयस्येन प्रसादितया तत्रभवत्ता वासवदत्ताया बन्धनान्मोचयित्वा स्वहस्तदत्तैर्मोदकैश्चिरस्य तावत्कालस्योदरं मे सुपूरितं कृतम्। अन्यच्च, एतत्पट्टांशुकयुगलं कर्णाभरणं च दत्तम्। तद्यावदिदानीं प्रियवयस्यं प्रेक्षे।]

सुसंगता—(रुदती सहसोपसृत्य) अज्ज वसन्तअ, चिट्ठ दाव मुहुत्तअं। [आर्य वसन्तक, तिष्ठ तावन्मुहूर्तम्।]

विदूषक—(दृष्ट्वा) कधं सुसंगदा। सुसंगदे किं णिमित्तं रोदीअदि। ण क्खु साअरिआए अच्चाहिदं किंपि संवुत्तम्। [कथं सुसंगता। सुसंगते, किं निमित्तं रुद्यते। न खलु सागरिकायां अत्याहितं किमपि संवृत्तम्।]

सुसंगता—अज्ज वसन्तअ, एदं ज्जेव णिवेदइस्सं। सा क्खु तवस्सिणी देवीए उज्जइणिं णीअदि त्ति प्पवादं कदुअ उवत्थिदे अद्धरत्ते ण जाणीअदि कहिं णीदेत्ति। [आर्य वसन्तक, एतदेव निवेदयिष्यामि। सा खलु तपस्विनी देव्योज्जयिनीं नीयत इति प्रवादं कृत्वोपस्थितेऽर्धरात्रे न ज्ञायते कुत्र नीतेति।]

विदूषक—(सोद्वेगम्) अदिणिग्घिणं क्खु देवीए किदं। [अतिनिर्घृणं खलु देव्या कृतम्।]

सुसंगता—इअं च रअणमाला ताए जीविदणिरासाए अज्जवसन्तअस्स हत्थे पडिवादेसित्ति भणिअ मम हत्थे समप्पिदा। ता गेण्हदु अज्जो एदं। (इयं च रत्नमाला तया जीवितनिराशयाऽऽर्यवसन्तकस्य हस्ते प्रतिपादयेत्युक्त्वा मम हस्ते समर्पिता तद् गृह्णात्वार्य एताम्।]

विदूषक—(सास्रम्) भोदि, ण मे ईदिसे पत्थावे हत्था गेण्हिदुं पसरन्ति। [भवति न मे ईदृशे प्रस्तावे हस्तौ गृहीतुं प्रसरतः।]

(द्वावुभौ रुदितः)

सुसंगता—(अञ्जलिं बद्ध्वा) ताए एव्व अणुग्गहं करन्तो अङ्गीकरेदु एदं अज्जो। [तस्या एवानुग्रहं कुर्वन्नङ्गीकरोत्वेतामार्यः।]

विदूषक—आहा हा हा ! अरे आज तो बहुत समय बाद प्रिय मित्र द्वारा प्रसन्न की गई महारानी वासवदत्ता ने (मुझे) बन्धन से छुड़ाकर अपने हाथ से दिये लड्डु से मेरा पेट अच्छी प्रकार भरा है। और यह रेशमी वस्त्रों का जोड़ा तथा कर्णाभूषण भी दिया है। तो अब जाकर प्रिय मित्र को देखूंगा।

(घूमता है)

सुसंगता—(रोती हुई, जल्दी से पास जाकर) आर्य वसन्तक, क्षण भर ठहरो।

विदूषक—(देखकर) क्या सुसंगता, क्यों रोती हो ? कहीं सागरिका का कोई भारी अनिष्ट तो नहीं हो गया ?

सुसंगता—आर्य वसन्तक, यही तो बतलाऊंगी। उस बेचारी को महारानी ने 'उज्जयिनी भेजी जा रही है' यह अफवाह फैलाकर आधी रात होने पर न जाने कहां भेज दिया।

विदूषक—(उद्वेगपूर्वक) देवी ने बड़ा निष्ठुर काम किया।

सुसंगता—जीवन से निराश हुई उसने इस रत्नमाला को, यह कहकर कि इसे आर्य वसन्तक को दे देना, मुझे दे दिया। तो आर्य इसे स्वीकार करें।

विदूषक—(आंसुओं के साथ) आदरणीये इस परिस्थिति में मेरे हाथ लेने को आगे नहीं बढ़ते।

(दोनों रोते है)

सुसंगता—(हाथ जोड़कर) उसी पर अनुग्रह करते हुये आर्य इसे स्वीकार करें।

अर्धरात्र इति—अर्धं रात्रेरर्धरात्रो निशीथस्तस्मिन्। जीवितेति—जीविते निर्गताऽऽशा यस्याः सा तथा।

विदूषक—(विचिन्त्य) अह वा उवहि। जेणेण इमाए उजेव्व साअरि-विरहदुक्खिदं पिअवस्सं विणोदइस्सं। [अथ वोपनय। येनैतयैव सागरिका-विरहदुःखितं प्रियवयस्यं विनोदयिष्यामि।]

(सुसंगतोपनयति)

विदूषक—(गृहीत्वा निरूप्य सविस्मयम्) सुसंगदे, कुदो उण ताए ईदिसस्स अलंकारस्स समागमो। [सुसङ्गते, कुतः पुनस्तस्या ईदृशस्यालङ्कारस्य समागमः।]

सुसंगता—अज्ज, मए वि सा कोदूहलेण पुच्छिदा उजेव्व असि। [आर्य मयापि सा कौतूहलेन पृष्टैवाऽऽसीत्।]

विदूषक—तदो ताए किं भणिदं। [ततस्तया किं भणितम्।]

सुसंगता—तदो सा उद्धं पेक्खिअ दीहं णिस्ससिअ 'सुसंगदे किं दाणिं इमाए कधाए' त्ति भणिअ रोदिदुं पउत्ता। [ततः सोर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं निःश्वस्य 'सुसंगते, किमिदानीं तवानया कथया, इति भणित्वा रोदितु प्रवृत्ता।]

विदूषक—णं कधिदं एव्व सामण्णजणदुल्लहेण इमिणा परिच्छदेण—'सव्वधा महाभिजणसमुप्पण्णए ताए होदव्वं' त्ति। सुसंगदे पिअवअस्सो दाणिं कहिं। [ननु कथितमेव सामान्यजनदुर्लभेनानेन परिच्छदेन—'सर्वथा महाभिजनसमुत्पन्नया तया भवितव्यम्' इति। सुसंगते, प्रियवयस्य इदानीं कुत्र।]

सुसंगता—अज्ज, एसो क्खु भट्टा देवीभवणादो णिक्कमिअ फडिअसिला-मण्डवं गदो। ता गच्छदु अज्जो। अहंवि देवीए पासवत्तिणी भविस्सं। [आर्य, एष खलु भर्ता देवीभवनान्निष्क्रम्य स्फटिक शिलामण्डपं गतः। तद्गच्छत्वार्यः। अहमपि देव्याः पार्श्ववर्तिनी भविष्यामि।]

विदूषक—एव्वं। [एवम्।]

(इति निष्क्रान्तौ)

इति प्रवेशकः।

(ततः प्रविशत्यासनस्थो राजा)

राजा—(विचिन्त्य)

विदूषक—(सोचकर) अथवा लाओ, क्योंकि इसी से सागरिका के वियोग से दुःखी प्रिय मित्र का विनोद करूंगा।

(सुसंगता देती है)

विदूषक—(लेकर और देखकर विस्मय से) सुसङ्गता, लेकिन उसे ऐसा अलङ्कार मिला कहां से ?

सुसंगता—आर्य, मैंने भी उत्सुकता वश उससे पूछा था।

विदूषक—तब उसने क्या कहा ?

सुसंगता—तब वह ऊपर को देखकर लम्बा सांस छोड़कर और यह कहकर—'सुसंगता, तुझे इस बात से क्या'—रोने लगी।

विदूषक—निश्चिय ही साधारण लोगों के लिये दुर्लभ इस अलङ्कार ने बतला दिया—यह अवश्य ही किसी बड़े कुल में उत्पन्न हुई होगी। सुसंगता, प्रिय मित्र इस समय कहां है ?

सुसंगता—आर्य, यह स्वामी महारानी के भवन से निकलकर स्फटिक—शिला-मण्डप में गये है। तब आर्य भी जायें। मैं भी महारानी के पास जाती हूं।

विदूषक—ऐसा (ही हो)।

(दोनों चले जाते हैं)

प्रवेशक समाप्त

(तब आसन पर स्थित राजा प्रविष्ट होता है)

राजा—(सोचकर)

सागरिकेति—सागरिकाया विरहेण दुःखितम्। सामान्योति—सामान्यः साधारणो जनस्तेन दुर्लभो दुष्प्रापस्तेन।

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्याधिकं
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः ।
प्रत्यापत्तिमुपागता न हि तथा देवी रुदत्या यथा
प्रक्षाल्येव तयैव बाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम् ॥१॥

(सोत्कण्ठं निश्वस्य) इदानीं देव्यां प्रसादितायां सागरिकाचिन्तैव केवलं मां बाधते । कुतः ।

अम्भोजगर्भसुकुमारतनुस्तथासौ
कण्ठग्रहे प्रथमराघने विलीय ।
सद्यःपतन्मदनमार्गणरन्ध्रमार्गै-
र्मन्ये मम प्रियतमा हृदयं प्रविष्टा ॥२॥

(विचिन्त्य) योऽपि मे विश्वासस्थानं वसन्तकः सोऽपि देव्या भयत । तत्कस्याग्रतो बाष्पमोक्षं करिष्ये ।(इति निःश्वसिति) ।

(ततः प्रविशति वसन्तकः)

विदूषक—(राजानं दृष्ट्वा) एसो क्खु णिब्भरोवकण्ठापरिक्खामं वि सलाहुणि मलावण्णं तणु सामुव्वहन्तो उविदो दुविआचन्दो विअ अहिअदरं सोहदि पिअवअस्सो । ता जाव णं उपसप्पामि (उपसृत्य) सोत्थि भवदे । दिट्ठआ विद्ठोसि देवीहत्थगदेणावि मए पुणोवि एदेहिं अच्छीहिं [एष खलु

सव्याजैरिति—सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा अधिकं चित्तानुवृत्या परेण वैलक्ष्येण पादपतनैः मुहुः सखीनां वाक्यैः देवी तथा प्रत्यापत्तिं न हि उपागता यथा रुदत्या तया स्वयमेव बाष्पसलिलैः प्रक्षाल्य इव कोपः अपनीत । इत्यन्वयः । व्याजेन कपटेन सहितैः शपथैः प्रियेण मधुरेण वचसाऽधिकं देव्या वासवदत्तायाश्चित्तस्यानुवृत्याऽनुकूलाचरणेन परेणात्यन्तेन वैलक्ष्येण लज्जा-

युक्तिपूर्वक की गई शपथों से, प्रिय वचन से, अत्यधिक मनोनुकूल आचरण से, अति लज्जित होने से, चरणों मे पड़ने से और सखियों के बार-बार कहे गये वचनो से देवी (वासवदत्ता) उतना प्रकृतिस्थ नही हुई जितना कि रोती हुई उसने स्वय आँसुओं के जल से, मानो धोकर, कोप दूर कर लिया ॥१॥

(व्याकुलता से उच्छ्वास लेकर) अब देवी के प्रसन्न हो जाने पर केवल सागरिका की चिन्ता ही मुझे सता रही है क्योंकि—

कमल के मध्य भाग के समान कोमल शरीर वाली वह प्रियतमा (सागरिका) प्रथम अनुराग के कारण गाढ कण्ठालिगन मे उस प्रकार (बिल्कुल) विलीन होकर तत्क्षण पडने वाले कामदेव के बाणों के मार्गों से, मानो, हृदय मे प्रविष्ट हो गई ॥२॥

(सोचकर) जो ही मेरा विश्वासपात्र वसन्तक था, वह भी देवी द्वारा बधा पड़ा है। तब किसके आगे आँसू बहाऊँ ? (निःश्वास छोड़ता है।)

(तत्पश्चात् वसन्तक प्रवेश करता है)

विदूषक—अत्यधिक चिन्ता से क्षीण होते हुए भी प्रशंसनीय सौन्दर्य वाले शरीर को धारण करता हुआ यह प्रिय मित्र नवोदित द्वितीया के चन्द्रमा के समान और अधिक अच्छा लग रहा है। तब अब इसके पास चलूँ। (पास जाकर) आपका कल्याण हो। सौभाग्य से देवी के हाथ मे पड़ जाने पर भी मैंने फिर इन आँखों से तुम्हें देख लिया।

प्रदर्शनेन पादयोः पतनेश्चरणपातैर्मुहुर्भूयो भूयः सखीना वांक्यैर्वचनैर्देवी वासवदत्ता तथा प्रत्यापत्ति प्रकृतिभावं न हि नैवोपागता यथा रुदत्या तया स्वयमेव बाष्पाणामश्रूणां जलैः प्रक्षाल्येव कोपोऽपनीतो दूरीकृतः ॥१॥

अम्भोजेति—अम्भोजगर्भसुकुमारतनुः असौ प्रियतमा प्रथमरागघने कण्ठग्रहे तथा विलीय सद्यःपतन्मदनमार्गणरन्ध्रमार्गैर्मम हृदयं प्रविष्टा (इति) मन्ये। इत्यन्वयः। अम्भोजस्य कमलस्य गर्भो मध्यभागः ■ इव सुकुमारा तनुः शरीरं यस्याः माऽसौ प्रियतमा सागरिका प्रथमोऽभिनवो रागोऽनुरागस्तेन घने निविड़े कण्ठग्रहे कण्ठाश्लेषे तथाऽत्यधिकं विलीय विशीर्णा भूत्वा सद्यस्तत्क्षण पतन्तो ये मदनस्य कामस्य मार्गणाः सायकास्तेषा रन्ध्राण्येव मार्गास्तैर्मम हृदय प्रविष्टेति मन्ये ॥२॥

निर्भरोत्कण्ठापरिक्षामामपि श्लाघनीयलावण्यां तनुं समुद्वहन्नुदितो द्वितीयाचन्द्र इवाधिकतर शोभते प्रियवयस्य: । तद्यावदेनमुपसर्पामि । स्वस्ति भवते । दिष्ट्या दृष्टोऽसि देवीहस्तगतेनापि मया पुनरप्येताभ्यामक्षिभ्याम् ।]

राजा—(दृष्ट्वा सहर्षम्) अये, वसन्तकः प्राप्तः । सखे परिष्वजस्व माम् ।

विदूषक—(परिष्वजति) ।

राजा—वयस्य, वेषेणैव निवेदितस्ते देव्याः प्रसादः । तत्कथ्यतामिदानीं सागरिकायाः का वार्तेति ।

(विदूषकः सर्वलक्ष्यमधोमुखस्तिष्ठति)

राजा—वयस्य, किं न कथयसि ।

विदूषक—अप्पिअं दे णिवेदिदुं ण पारेमि । [अप्रियं ते निवेदयितुं न पारयामि ।

राजा—(सोद्वेगम्) वयस्य, कथमप्रियम् । क्व मेमोत्सृष्टं जीवितं तया हा प्रिये सागरिके । (इति मोहं नाटयति) ।

विदूषकः—(ससम्भ्रमम्) समस्ससदु समस्ससदु पिअवअस्सो । [समाश्वसितु समाश्वसितु प्रियवयस्यः ।]

राजा—(समाश्वस्य सास्रम्)

प्राणाः परित्यजत काममदक्षिण मां
रे दक्षिणा भवत मद्वचनं कुरुध्वम् ।
शीघ्रं न यात यदि तन्मुपिताः स्थ नूनं
याता सुदूरमधुना गजगामिनी सा ॥३॥

विदूषक—भो वअस्स, मा अण्णधा संभावेहि । सा क्खु तवस्सिणी देवीए उज्जइणिं पेसिदत्ति सुणीअदि । तदो मए अप्पिअत्ति भणिदं । [भो वयस्य, मान्यथा संभावय । सा खलु तपस्विनी देव्योज्जयिनीं प्रेषितेति श्रूयते । अतो मयाऽप्रियमिति भणितम् ।]

निर्भरेति—निर्भरयाऽतिशयितयोत्कण्ठयौत्सुक्येन परिक्षामां कृशाम् ।

श्लाघनीयेति—श्लाघनीयं प्रशंसनीयं लावण्यं सौन्दर्यं यस्यास्ताम् ।

राजा—(देखकर हर्ष के साथ) आह ! वसन्तक आ गया। मित्र, मेरा आलिङ्गन कर लो।

विदूषक—(आलिङ्गन करता है)।

राजा—मित्र, वेष ने ही तुझ पर महारानी का अनुग्रह कह दिया। तो यह बतलाओ कि अब सागरिका का क्या वृत्तान्त है ?

(विदूषक लज्जा से मुख नीचा करके कहता है)

राजा—मित्र, कहते क्यों नहीं ?

विदूषक—तुमसे अप्रिय निवेदन करने का मुझ में सामर्थ्य नहीं है।

राजा—(उद्वेगपूर्वक) मित्र, अप्रिय कैसे ? स्पष्ट ही, उसने प्राण त्याग दिये हैं। हाय, प्यारी सागरिका। (मूर्छित होता है)

विदूषक—(घबराहट के साथ) प्रिय मित्र, धैर्य रखिये, धैर्य रखिये।

राजा—(संभलकर आंसू भर कर)

हे प्राणों मुझ अत्यनुदार को तुम छोड़ दो, (मेरे) अनुकूल बनो, मेरी बात मानो। यदि तुम शीघ्र (मुझे छोड़कर) नहीं चले जाते हो, तो निश्चय ही तुम ठगे गये, (क्योंकि) हाथी के समान (सुन्दर) गति वाली वह (सागरिका) अब दूर जा चुकी है ॥३॥

विदूषक—हे मित्र, कुछ और न समझो। उस बेचारी को महारानी ने उज्जयिनी भेज दिया है, ऐसा सुना जा रहा है। इसलिये मैंने 'अप्रिय' यह कहा था।

प्राणा इति—रे प्राणाः, दक्षिणाः भवत, मद्वचनं कुरुध्वं काममदक्षिणं मा पारत्यजत। यदि शीघ्रं न यात तद् नूनं मुषिताः स्थ (यतः) अधुना सा गजगामिनी सुदूरं याता। इत्यन्वयः। हे प्राणाः, दक्षिणा अनुकूला भवत, मम वचनमिति मद्वचनं मदुक्तं कुरुध्वमाचरत—काममत्यर्थमदक्षिणमनुदारं मां परित्यजत। यदि यूयं शीघ्रं न यात तत्तदा यूयं नूनं निश्चितं मुषिता वञ्चिताः स्थ यतोऽधुना संप्रति सा गज इव गन्तुं शीलं यस्याः सा सागरिका सुदूरं विप्रकृष्टान्तरं याता गता ॥३॥

राजा—कथमुज्जयिनीं प्रेषिता। अहो निरनुरोधा मयि देवी। वय केन तवैतदाख्यातम्।

विदूषक—(सास्रं निःश्वस्य) भो सुसंगदाए। अण्णं च, मम हत्थे ताए कि पि णिमित्तं इअं रअणमाला पेसिदा। [भोः सुसंगतया। अन्यच्च मम हस्ते तया किमपि निमित्तमियं रत्नमाला प्रेषिता।]

राजा—किमपरं मामाश्वासयितुम् तद्वयस्य, उपनय।

(विदूषक उपनयति)

राजा—(गृहीत्वा रत्नमाला निर्वर्ण्य हृदये निधाय) अहह !

कण्ठाश्लेषं समासाद्य तस्याः प्रभ्रष्टयानया।
तुल्यावस्था सखीवेयं तनुराश्वास्यते मम ॥४॥

वयस्य, त्व परिधत्स्वैनाम्। येन वयमेनामपि तावद् दृष्टया धृतिं करिष्यामः।

विदूषक—भो जं भव आणवेदि। (परिदधाति)। [भोः यद्भवाना— ज्ञापयति।]

राजा—(सास्रम्) वयस्य, दुर्लभं पुनर्दर्शनं प्रियायाः।

विदूषक—(सभयं दिशोऽवलोक्य) भो वअस्स, मा एव्वं उच्च मन्तेहि। कदावि को वि देवीए एत्थ संचरदि। [भो वयस्य, मैवमुच्चैर्मन्त्रयस्व। कदापि कोऽपि देव्या अत्र संचरति।

(ततः प्रविशति वेत्रहस्ता वसुन्धरा)

वसुन्धरा—(उपसृत्य) जअदु जअदु भट्टा। भट्टा एसो क्खु रुमण्णदो भाइणेओ विजअवम्मा पिअं किंपि णिवेदिदुकामो दुआरे चिट्ठदि। [जयतु जयतु भर्ता। भर्त एष खलु रुमण्वतो भागिनेयो विजयवर्मा प्रियं किमपि निवेदयितुकामो द्वारि तिष्ठति।]

राजा—वसुन्धरे अविलम्बितं प्रवेशय।

वसु०—ज देवो आणवेदि। (निष्क्रम्य विजयवर्मणा सह पुनः प्रविश्य च) विजअवम्म, एसो क्खु भट्टा। उपसप्पदु अज्जो। [यद्देव आज्ञापयति। विजयवर्मन्

निरनुरोधेति—निर्गतोऽनुरोधोऽनुवर्तनं यस्याः सा।

कण्ठाश्लेषमिति—तस्याः कण्ठाश्लेषं समासाद्य प्रभ्रष्टया अनया तुल्यावस्था

राजा—क्या उज्जयिनी भेज दिया ? ओह ! देवी का मेरे प्रति (कैसा) उपेक्षाभाव है। मित्र, तुमसे यह किसने कहा ?

विदूषक—(आसू भर कर, लम्बा सास लेकर) अरे, सुसङ्गता ने। और (साथ ही), उसने किसी कारण से यह रत्नमाला ? (सिवाय) मुझे सान्त्वना देने के। इसलिए, मित्र, लाओ।

(विदूषक समीप ले जाता है)

राजा—लेकर, रत्नमाला को ध्यान से देखकर और वक्षस्थल पर रखकर अहह !

उसके (सागरिका के) कण्ठ का आलिङ्गन पाकर अलग हुई यह (माला) समान दशा वाले मेरे इस शरीर को सखी के समान सान्त्वना दे रही है ॥४॥

मित्र, तुम इसे पहनो, जिससे हम इसे देखकर सन्तोष पा सकें।

विदूषक—जो आप आज्ञा दें। (पहनता है)

राजा—(आसू भर कर) मित्र, प्रिया (सागरिका) का दर्शन तो दुर्लभ है।

विदूषक—(डरते हुए चारो ओर देखकर) अरे मित्र, ऐसे जोर से न बोलो। कभी देवी (वासवदत्ता) का कोई (परिजन) यहाँ घूम रहा हो।

(तब हाथ मे बेंत लिये वसुन्धरा प्रवेश करती)

वसुन्धरा—(समीप जाकर) जय हो, स्वामी की जय हो। स्वामी, कुछ प्रिय निवेदन की इच्छा वाला यह रुमण्वान् का भानजा विजयवर्मा द्वार पर स्थित है।

राजा—वसुन्धरा, अविलम्ब प्रवेश कराओ।

वसुन्धरा—जो देव की आज्ञा हो। (बाहर जाकर विजयवर्मा के साथ फिर प्रवेश करके) विजयवर्मा, यह (सामने) स्वामी हैं। तो आर्य पास जावें।

इय मम तनुः सखी इव समाश्वास्यते। इत्यन्वयः। तस्याः सागरिकायाः कण्ठाश्लेषं कण्ठग्रहं समासाद्य प्राप्य प्रभ्रष्टया च्युतयाऽनया रत्नमाला तुल्या सदृशवस्था यस्याः सेयं मम तनुः शरीरं सखीव वयस्येवाऽऽश्वास्यते सान्त्व्यते ॥४॥

निवेदयितुकाम इति—निवेदयितुं कथयितुं कामोऽभिलाषो यस्य सः।

एष खलु भर्ता । उपसर्पत्वार्यः ।]

विजयवर्मा—(उपसृत्य) जयतु जयतु देवः । देव, दिष्टया वर्धसे रुमण्वतो विजयेन ।

राजा—साधु रुमण्वन्, साधु । अचिरान्महत्प्रयोजनमनुष्ठितम् । विजयवर्मन्, इत आस्यताम् । (विजयवर्मोपविशति) ।

राजा—विजयवर्मन्, जितः कोसलेश्वरः ।

विजय०—देवस्य प्रभावेण ।

राजा—विजयवर्मन् तत्कथय कथमिति विस्तरतः श्रोतुमिच्छामि ।

विजय०—देव, श्रूयताम् । इतो देवादेशादकतिपयैरेवाहोभिरनेककरितुरग-पत्तिदुर्निवारेण महता बलसमूहेन गत्वा विन्ध्यदुर्गास्थितस्य कोसलाधिपतेर्द्वारि-मवष्टभ्य सेनाः समावेशयितुं समारब्धवान् ।

राजा—ततस्ततः ।

विजय०—ततः कोसलेश्वरोऽप्यतिदर्पात्परिभवमसहमानो हास्तिकप्रायम्-शेषमात्मसैन्यं सज्जीकृतवान् ।

विदूषक—भो, लहुं आचक्ख । वेवदि विअ मे हिअअं । [भोः लघ्वाचक्ष्व । वेपत इव मे हृदयम् ।]

राजा—ततस्ततः ।

विजय०—देव, कृतनिश्चयश्चासौ ।

योद्धुं निर्गत्य विन्ध्यादभवदभिमुखस्तत्क्षणे दिग्विभागा-
न्विन्ध्येनेवापरेण द्विपपतिपृतनापीडबन्धेन रुन्धन् ।

अनेकेति—अनेकैर्बहुभिः करिभिस्तुरगैः पत्तिभिश्च दुर्निवारेण निवारयितुम-शक्येन । हास्तिकेति—हस्तिनां समूहो हास्तिकं तत्प्राय यस्मिंस्तत् ।

योद्धुमिति—(असौ) योद्धुं विन्ध्याद् निर्गत्य तत्क्षणम् अपरेण विन्ध्येन इव द्विपपतिपृतनापीडबन्धेन दिग्विभागान् रुन्धन् अभिमुखः अभवत् । बाणान्

विजयवर्मा—जय हो महाराज की जय हो। महाराज, सौभाग्य से रुमण्वान् की विजय द्वारा आपकी वृद्धि हो रही है।

राजा—वाह, रुमण्वान्, वाह। जल्दी ही बहुत बड़ा काम कर डाला। विजयवर्मा, इधर बैठो। (विजयवर्मा बैठता है)।

राजा—विजयवर्मा, कोसल का राजा जीत लिया ?

विजयवर्मा—महाराज के प्रताप से।

राजा—विजयवर्मा बतलाओ तो, कैसे ? विस्तार से सुनना चाहता हूं।

विजयवर्मा—महाराज, सुनिये। (रुमण्वान् ने) महाराज के आदेश से कुछ ही दिनो में अनेक हाथियो, घोडों तथा पैदल सिपाहियों के कारण दुर्जेय बड़ी सेना के साथ यहां से जाकर विन्ध्य-दुर्ग में स्थित कोसलाधिपति के मार्ग को रोककर सेनाओं का शिविर डालना प्रारम्भ कर दिया।

राजा—उसके बाद ?

विजयवर्मा—तब कोसलाधिपति ने भी अभिमान के कारण अपमान को न सहते हुए अपनी सम्पूर्ण सेना, जिसमे प्रायः हाथी थे, तैयार कर ली।

विदूषक—अरे, जल्दी कह डालो। मेरा हृदय कांप-सा रहा है।

राजा—उसके बाद ?

विजयवर्मा—महाराज, निश्चय, किये वह—

युद्ध के लिए विन्ध्य से निकल कर उस क्षण गजेन्द्रो की सेना की घन व्यूह-रचना से, मानो द्वितीय विन्ध्य से, दिशाओं को आच्छादित करता हुआ सामने आया। वेग-पूर्वक बाणों को छोडता हुआ, मत वाले हाथियो के समूह

विमुञ्चन् समदकरिघटोत्पिष्टपत्तिः वाञ्छिताप्तिद्विगुणितरभसः रुमदण्वान् वेगाद् निपत्य क्षणेन तं प्रत्यैच्छत्। इत्यन्वयः। असौ कोसलाधिपतिर्योद्धुं युद्धाय विन्ध्यान्निर्गत्य तत्क्षणमपरेण द्वितीयेन विन्ध्येनेव द्विपानां करिणां पतयस्तेषां पृतनायाः सेनाया आपीडबन्धेन व्यूहरचनया दिशां विभागानन्तरालानि रुन्धन्

वेगाद्बाणान्विमुञ्चन्समदकरिघटोत्पिष्टपत्तिर्निपत्य
प्रत्यैच्छद्वाञ्छिताप्तिद्विगुणितरभसस्तं रुमण्वान्क्षणेन ॥५॥

अपि च

अस्त्रव्यस्तशिरस्त्रशस्त्रकषणोत्कृत्तोत्तमाङ्गे क्षणं
व्यूढासृक्सरिति स्वनत्प्रहरणे वर्मोद्वलद्वह्निनि ।
आहूयाजिमुखे स कोसलपतिर्भङ्गप्रतीपीभव-
न्नेकेनैव रुमण्वता शरशतैर्मत्तद्विपस्थो हतः ॥६॥

विदूषकः—जेदु जेदु भवं । जिदं अम्हेहिं । (इत्युत्थाय नृत्यति) । [जयतु जयतु भवान् । जितमस्माभिः ।]

राजा—साधु कोसलपते, साधु । मृत्युरपि ते श्लाघ्यो यस्य रिपवोऽपि पुरुषकारमेवं वर्णयन्ति । ततस्ततः ।

विजय०—देव, ततो रुमण्वानपि कोसलेषु मद्भ्रातरं ज्यायांसं जयवर्माणं स्थापयित्वा समरव्रणितमशेषसैन्यमनुवर्तमानः शनैः शनैरागच्छत्येव ।

राजा—वसुन्धरे, उच्यतां यौगन्धरायणः—'दीयतां मत्प्रसादोऽस्य' इति ।

वसु०—जं देवो आणवेदि । (इति विजयवर्मणा सह निष्क्रान्ता) [यद्देव आज्ञापयति ।]

त्याप्तुवन्नभिमुखोऽभवत् । तदा बाणान् विमुञ्चन् पातयन् मदेन सहितानां करिणां घटाभिः समूहैरुत्पिष्टा दलिताः पत्तयः पदातयो वीरा यस्य स वाञ्छितस्याऽभिलषितस्य कोसलाधिपतेराप्त्या द्विगुणितो रभस उत्साहो यस्य स रुमण्वान् वेगाद् निपत्य तं प्रत्यैच्छत् प्रतियातः ॥५॥

अस्त्रव्यस्तेति—अस्त्रव्यस्तशिरस्त्रशस्त्रकषणोत्कृत्तोत्तमांगे क्षणं व्यूढासृक्सरिति स्वनत्प्रहरणे वर्मोद्वलद्वह्निनि आजिमुखे भङ्गप्रतीपीभवन् मत्तद्विपस्थः स कोसलाधिपतिः आहूय एकेन एव रुमण्वता शरशतैः हतः । इत्यन्वयः । अस्त्रैर्व्यस्तानि व्युत्क्षिप्तानि यानि शिरांसि त्रायन्त इति शिरस्त्राणि शिरोवेष्टनानि तेषां शस्त्राणां खड्गादीनां च कषणैः संघट्टनैरुत्कृत्तानि

से कुचली गई पदाति-सेनाओं वाला और अभिलषित की प्राप्ति से दुगुने उत्साह वाला रुमण्वान् झपटकर क्षण भर में उसके सामने पहुंच गया ॥५॥

और भी—

युद्ध के क्षेत्र में, जिसमें शस्त्रों से उड़ाये गये शिरस्त्राणों और शस्त्रों की रगड़ से सिर काटे जा रहे थे, जिसमें क्षण भर में रुधिर की नदी उमण आई थी, जिसमें शस्त्र खड़क रहे थे और जिसमें कवचों से अग्नि निकल रही थी, (अपने) पराभव का प्रतिरोध करते हुये और मत्त हाथी पर बैठे हुये कोसलाधिपति को ललकार कर अकेले रुमण्वान् ने सैंकड़ों तीरों से मार दिया ॥६॥

विदूषक—जय हो, आपकी जय हो। हम जीत गये। (यह कहकर उठकर नाचता है)।

राजा—धन्य हो, कोसलाधपति, तुम धन्य हो। तुम्हारी मृत्यु भी प्रशंसनीय है जिसके पराक्रम का शत्रु भी इस प्रकार वर्णन करते हैं। उसके बाद ?

विजयवर्मा—महाराज, उसके बाद मेरे बड़े भाई जयवर्मा को कोसल में रखकर रुमण्वान् भी युद्ध में घायल हुई सारी सेना के पीछे-पीछे धीरे-धीरे आ ही रहा है।

राजा—वसुन्धरा, यौगन्धरायण से कहो कि इसे हमारा प्रसाद देवें।

वसुन्धरा—जो देव की आज्ञा हो। (यह कहकर विजयवर्मा के साथ बाहर जाती है)।

छिन्नान्युत्तमाङ्गानि शिरांसि यस्मिंस्तस्मिन् क्षणं व्यूढा वृद्धाऽसृजो रुधिरस्य सरिन्नदी यस्मिंस्तस्मिन्, स्वनन्ति शब्दायमानानि प्रहरणानि शस्त्राणि यस्मिन् पुनश्च वर्मभ्यः कवचेभ्य उद्वलन्नुद्गच्छन् वह्निरग्निर्यस्मिंस्तस्मिन्नाजेर्युद्धस्य, मुखे रणशिरसि भङ्गस्य स्वसेनायाः पराभवस्य प्रतीपीभवन् तं निवारयन्नित्यर्थः मत्ते मदस्राविणि द्विपे हस्तिनि तिष्ठतीति मत्तद्विपस्थः स कोसलानां तदाख्यजनपदस्याऽधिपतिः प्रभुराहूयाऽऽकार्य केनैकाकिनैव रुमण्वता तन्नाम्ना सेनापतिनाऽशराणां बाणानां शतैरनन्तसंख्यामिर्हतः ॥६॥

(ततः प्रविशति काञ्चनमाला)

काञ्चन०—आणत्तम्हि देवीये जधा—'हञ्जे कञ्चणमाले, गच्छ एवं इन्दजालिअं अज्जउत्तस्स दसेहि त्ति। (परिक्रम्यावलोक्य च) एसो क्खु भट्टा। ता जाव उवसप्पामि। (उपसृत्य) जेदु जेदु भट्टा। भट्टा, देवी विण्णवेदि—'एसो क्खु उज्जइणीदो सव्वसिद्धि णाम इन्दजालिओ आअदो। ता पेक्खदु णं अज्जउत्तो' त्ति। [आज्ञप्तास्मि देव्या यथा—'हञ्जे काञ्चनमाले, गच्छ। इममैन्द्रजालिकमार्यपुत्रस्य दर्शय' इति। एष खलु भर्त्ता। तद्यावदुपसर्पामि। जयतु जयतु भर्ता। भर्तः, देवी विज्ञापयति—'एष खलूज्जयिनीतः सर्वसिद्धिर्नामैन्द्रजालिक आगतः। तत्प्रेक्षतामेनमार्यपुत्रः' इति।]

राजा—अस्ति नः कौतुकमैन्द्रजालिके। लदेन शीघ्रं प्रवेशय

काञ्चन०—जं देवो आणवेदि। [इति निष्क्रम्य पुनः पिच्छिकाहस्तेनैन्द्रजालिकेन सह प्रविशति)। [यद्देवं आज्ञापयति।]

ऐन्द्र०—(पिच्छिकां भ्रामयन्)

पणमह चलणे इन्दस्स इन्दजालअपिणद्धणामस्स।
तह जेव्व संबरस्स माआसुपरिट्ठिदजसस्स ॥७॥
[प्रणमत चरणाविन्द्रस्येन्द्रजालकपिनद्धनाम्नः।
तथैव शम्बरस्य मायासुप्रतिष्ठितयशसः॥]

काञ्चन०—(उपसृत्य) भट्टा, एसो क्खु इन्दजालिओ। [भर्तः, एष खल्वैन्द्रजालिकः।]

ऐन्द्रजा०—जअदु जअदु देवो। देव,

किं धरणिए मिअङ्को आआस महिअरो जले जलणो।
मज्झण्हम्मि पओसो दाविज्जइ देहि आणत्तिम् ॥८॥

प्रणमतेति—इन्द्रजालकपिनद्धनाम्नः इन्द्रस्य चरणौ प्रणमत। तथैव मायासुप्रतिष्ठितयशसः शम्बरस्य (चरणौ प्रणमत)। इत्यन्वयः। इन्द्रजालमेन्द्रजालकं माया तस्मिन् पिनद्धं बद्धं नाम यस्य तस्येन्द्रस्य चरणौ प्रणमत।

(तत्पश्चात् काञ्चनमाला प्रवेश करती है)

काञ्चनमाला—महारानी ने मुझे आज्ञा दी है कि—अरी काञ्चनमाला जा, इस ऐन्द्रजालिक को आर्यपुत्र को दिखलादे। (घूमकर और देखकर) स्वामी यह हैं। तब पास जाती है। (पास जाकर) जय हो, स्वामी की जय हो। महारानी ने निवेदन किया है—'यह सर्वसिद्धि नाम का ऐन्द्रजालिक उज्जयिनी से आया है। आर्यपुत्र इसे देखें।'

राजा—इन्द्रजाल में हमें भी उत्सुकता है। इसलिये शीघ्र प्रवेश कराओ।

काञ्चनमाला—जो देव आज्ञा दें।

(बाहर जाकर फिर हाथ में मोरपंखी लिये ऐन्द्रजालिक के साथ आती है)

ऐन्द्रजालिक—(मोरपंखी घुमाता हुआ)

इन्द्रजाल से जुड़े हुये नाम वाले इन्द्र के चरणों को प्रणाम करो तथा माया के लिये विख्यात कीर्ति वाले शम्बर (नामक असुर) के चरणों को प्रणाम करो ॥७॥

काञ्चनमाला—(पास जाकर) स्वामी, यही वह ऐन्द्रजालिक है।

ऐन्द्रजालिक—जय हो, महाराज की जय हो। महाराज।

क्या पृथ्वी पर चन्द्रमा, आकाश में पर्वत, जल में अग्नि अथवा मध्याह्न में रात्रि का प्रथम भाग दिखलाया जाये? आज्ञा दीजिये ॥८॥

तथैव मायायामिन्द्रजालविद्यायां सुप्रतिष्ठितं यतः ख्यातिर्यस्य तस्य शम्बरस्य तन्नाम्नोऽसुरस्य च चरणौ प्रणमत ॥७॥

किं धरण्यामिति—किं धरण्यां मृगाङ्कः, आकाशे महीधरः, जले ज्वलनः, मध्याह्ने (वा) प्रदोषः दर्श्यताम्। आज्ञप्तिं देहि। इत्यन्वयः। किमिति प्रश्ने। किं धरण्यां पृथिव्यां मृगो हरिणोऽङ्को लाञ्छनं यस्य स चन्द्रो दर्श्यतां दृष्टिविषयः क्रियताम्। किं वाऽऽकाशे महीधरः पर्वतो दर्श्यताम्। किं वा जले ज्वलनोऽनलो दर्श्यताम्। अपि वाऽह्नि दिवसस्य मध्य मध्याह्नस्तस्मिन् प्रदोषो रजनीमुखं दर्श्यताम् आज्ञप्तिमादेशं देहि ॥८॥

अहवा किं बहुणा जम्पिदेण ।

मज्ज पइण्णा एसा जं जं हिअएण संदट्ठुं ।
तं तं दसेमि अह गुरुणो मन्तप्पहावेण ॥६॥

[जयतु जयतु देवः। देव,

किं धरण्यां मृगाङ्क आकाशे महीधरो जले ज्वलनः ।
मध्याह्ने प्रदोषो दर्श्यतां देह्याज्ञप्तिम् ॥
अथवा किं बहुना जल्पितेन

मम प्रतिज्ञैषा यद्यद् हृदयेनेहसे संद्रष्टुम् ।
तत्तद्दर्शयाम्यह गुरोर्मन्त्रप्रभावेण ॥]

विदूषक—भो वअस्स, अवहिदो होहि । ईदिसो से अवट्ठम्भो जेण सव्वंपि सम्भाविअदि । [भो वयस्य, अवहितो भव । ईदृशोऽस्यावष्टम्भो येन सर्वमपि सम्भाव्यते ।]

राजा—भद्र, तिष्ठ तावत् । काञ्चनमाले, उच्यतां देवी—'युष्मदीय एवायमैन्द्रजालिको विजनीकृतश्चायमुद्देशः तदागच्छ । संहितावेव पश्याव' इति ।

काञ्चन—जं भट्टा आण्ण वेदि । (इति निष्क्रम्य वासवदत्ता सह प्रविशति) [यद्भर्ताऽऽज्ञापयति ।]

वासव०—काञ्चणमाले, उज्जइणीदो आअदोत्ति अत्थि मे तस्सिं इन्दजालिए पक्खवादो । [काञ्चनमाले, उज्जयिनीत आगत इत्यस्ति मे तस्मिन्नैन्द्रजालिके पक्षपातः ।]

काञ्चन०—णादिउलबहुमाणो क्खु एसो भट्टिणीए । ता एदु एदु भट्टिणी । (इति परिक्रामतः) । [ज्ञातिकुलबहुमानः खल्वेष भर्त्र्याः । तदेत्वेतु भर्त्री ।]

वासव०—(उपसृत्य) जेदु अज्जउत्तो । [जयत्वार्यपुत्रः ।]

राजा—देवि, बहुतरमनेन गर्जितम् तदिहोपविश्यताम् । पश्यावस्तावत् ।
(वासवदत्तोपविशति)

ममेति—मम एषा प्रतिज्ञा—यद् यद् हृदयेन संद्रष्टुम् ईहसे, गुरोः मन्त्र-

अथवा अधिक क्या कहूँ—

मेरी यह प्रतिज्ञा है कि आप हृदय में जो जो देखने की इच्छा करेंगे, मैं गुरु के मन्त्र के प्रभाव से वह दिखला दूँगा ॥६॥

विदूषक—हे मित्र, सावधान हो जाओ। इसकी ऐसी अकड़ है, जिससे सब कुछ सम्भव है।

राजा—भद्र, तनिक ठहरो। काञ्चनमाला, महारानी से कहो—'यह ऐन्द्रजालिक तुम्हारा ही है और यह स्थान भी निर्जन कर दिया है। इसलिये आओ, दोनों साथ ही इसे देखें।'

काञ्चनमाला—जो स्वामी आज्ञा देवें। (यह कहकर बाहर जाती है)।

(तत्पश्चात् वासवदत्ता और काञ्चनमाला प्रवेश करती हैं)

वासवदत्ता—काञ्चनमाला, उज्जयिनी से आया है, इसलिये मेरा उस ऐन्द्रजालिक के प्रति पक्षपात (झुकाव) है।

काञ्चनमाला—यह स्वामिनी का जाति-कुल के प्रति आदर भाव है। स्वामिनी चलिये, चलिये। (दोनों घूमती हैं)।

वासव०—(समीप जाकर) आर्यपुत्र की जय हो।

राजा—देवी, इसने बड़ी आत्मश्लाघा की है। यहाँ बैठिये। अब देखें तो।

(वासवदत्ता बैठ जाती है)

प्रभावेण अहं तद् दर्शयामि' इत्यन्वयः। ममैषा प्रतिज्ञा प्रतिश्रुवो यद् यद्यद् यदपि वस्तु हृदयेन मनसा संद्रष्टुमवलोकयितुमीहसे, इच्छसि गुरोर्मन्त्रस्य प्रभावेणाऽहं तत्तदेव वस्तु दर्शयामि दृष्टेर्विषयं करोमि ॥६॥

विजनीकृत इति—विगता जना अस्मादिति विजनः। अविजनो विजनः कृत इति विजनीकृतः शून्यीकृतः। ज्ञातिकुलेति—ज्ञातीनां बन्धूनां कुलं तस्य बहुरत्यधिको मान आदरः।

राजा—भद्र, प्रस्तूयतामिन्द्रजालम् ।

ऐन्द्र०—ज देवोआणवेदि । (बहुविधं नाट्यं कृत्वा पिच्छिकां भ्रामयन्)

हरिहरबम्हप्पमुहे देवे दसेमि देदराअं च ।

गअणम्मि सिद्धचारणसुरवहुसत्थं च णच्चन्तम् ॥१०॥

[यद् देवो आज्ञापयति ।] पेक्खदु देवो । [यद्देव आज्ञापयति ।]

हरिहरब्रह्मप्रमुखान्देवान्दर्शयामि देवराजं च ।

गगने सिद्धचारणसुरवधूसार्थं च नृत्यन्तम् ॥

[प्रेक्षतां देवः ।]

(सर्वे सविस्मयं पश्यन्ति)

राजा—(ऊर्ध्वं दृष्ट्वासनादवतरन्) आश्चर्यमाश्चर्यम् । देवी, पश्य,

एष ब्रह्मा सरोजे रजनिकरकलाशेखरः शंकरोऽयं

दोर्भिर्दैत्यान्तकोऽसौ सधनुरसिगदाचक्रचिह्नैश्चतुर्भिः ।

एषोऽप्यैरावतस्थस्त्रिदशपतिरमी देवि देवास्तथान्ये

नृत्यन्ति व्योम्नि चैताश्चलचरणरणन्नूपुरा दिव्यनार्यः ॥११॥

वासव०—अच्चरिअं अच्चरिअं । [आश्चर्यमाश्चर्यम् ।]

विदूषक—(अपवार्य) हा दासीए पुत्त इन्दजालिअ, किं एदेहिं देवेहिं अच्छराहिं च दंसिदाहिं । जइ दे इमिणा परितुट्ठेण कज्ज ता दसेहि साअरिअं । [आः दास्याः पुत्र, ऐन्द्रजालिक किमेतैर्देवैरप्सरोभिश्च दर्शितैः । यदि तेऽनेन परितुष्टेन कार्यं तद्दर्शय सागरिकाम् ।]

हरिहरेति—हरिहरब्रह्मप्रमुखान् देवान् देवराजं च गगने च नृत्यन्त सिद्ध-चारणसुरवधूसार्थं दर्शयामि । इत्यन्वयः । हरिहरौ ब्रह्मा च प्रमुखाः प्रधाना येषां तान् देवान् देवानां राजा देवराज इन्द्रस्तं च गगने चाकाशे नृत्यन्तं सिद्धानां चारणानां देवयोनिविशेषाणां सुरवधूनामप्सरसां च सार्थं समूहं दर्शयामि ॥१०॥

एष ब्रह्मेति—देवि, व्योम्नि एष सरोजे ब्रह्मा, अयं रजनिकरकलाशेखरः शंकरः, असौ सधनुरसिगदाचक्रचिह्नैः चतुर्भिः दोर्भिः (उपलक्षितः) दैत्यान्तकः

राजा—भद्र, इन्द्रजाल प्रस्तुत कीजिये।

ऐन्द्रजालिक—जो महाराज आज्ञा दें। (यह कहकर अनेक प्रकार से नाट्य करके मोरपखी को घुमाते हुए।

मैं आकाश मे हरि, हर तथा ब्रह्मा प्रमुख देवों को, देवों के राजा (इन्द्र) को और सिद्ध, चारण तथा सुराङ्गनाओं के समूह को नाचते हुए दिखलाऊँगा ॥१०॥

महाराज देखिये।

(सब आश्चर्य से देखते हैं)

राजा—(ऊपर देखकर आसन से उतरते हुए) आश्चर्य! आश्चर्य! देवी, देखो।

हे देवि, आकाश में यह कमल मे (स्थित) ब्रह्मा है, यह चन्द्रमा की कला रूपी शिरोभूषण वाला शिव है, यह धनुष, तलवार, गदा चक्र के चिन्हों वाला चार भुजाओं से युक्त दैत्यो का नाशक (विष्णु) है और यह ऐरावत गज पर स्थित देवों का राजा (इन्द्र) है, तथा ये दूसरे देवता हैं, और यह चञ्चल चरणों मे बजते हुए नूपुर वाली सुराङ्गनायें (अप्सरायें) नाच रही हैं ॥११॥

वासवदत्ता—आश्चर्य है! आश्चर्य है!

विदूषक—(एक ओर को होकर) अरे दासी के पुत्र ऐन्द्रजालिक, इन देवों और अप्सराओ के दिखाये से क्या होता है? यदि तुम्हें इसके सन्तुष्ट होने से कोई प्रयोजन है तो सागरिका को दिखलाओ।

एषः अपि ऐरावतस्य. त्रिदशपतिः, तथा अमी अन्ये देवाः, एताः च चलचरणरणन्नूपुराः दिव्यनार्यः नृत्यन्ति। इत्यन्वयः। हे देवि वासवदत्ते, व्योम्नि नभस्येषोऽयं पुरो दृश्यमानः सरोजे पद्मनि स्थितो ब्रह्मा वर्तते। अथ रजनिकरस्य चन्द्रमसः कला एव शेखरः शिरोभूषण यस्य स शङ्करो वर्तते। असौ स धनुरसिर्गदा चक्रं च चिह्नानि तैः सहितैश्चतुर्भिर्दोर्भिर्भुजैरुपलक्षितो दैत्यानामन्तको नाशको विष्णुर्वर्तते। एषोऽप्ययमपि चैरावतस्य ऐरावते तिष्ठतीति स त्रिदशानां देवानां पतिरिन्द्रो विद्यते। तथा चामी अन्ये देवाः सन्ति। एताश्चेमाश्चलेषु चरणेषु रणन्तः स्वनन्तो नूपुरा मञ्जीरा यासां ताः, दिवि भवा दिव्यास्ताश्च नार्य इति दिव्यनार्यः सुराङ्गना नृत्यन्ति ॥११॥

(ततः प्रविशति वसुन्धरा)

वसुन्धरा—(राजानमुपसृत्य) जेदु जेदु भट्टा। अमच्चो जोअन्धराअणो विण्णवेदि-एसो क्खु विक्कोमबाहुणो पहाणामच्चो वसुभूदी बब्भव्वेण कञ्चुइणा सह आअदो। ता अरिहदि देवो इमस्सि एव्व सुन्दरमुहुत्तए पेक्खिदुं। अहंपि कज्जसेसं समाविअ आअदो ज्जेव्व त्ति। [जयतु जयतु भर्ता। अमात्यो यौगन्धरायणो विज्ञापयति—एष खलु विक्रमबाहोः प्रधानामात्यो वसुभूतिर्बाभ्रव्येण कञ्चुकिना सहाऽऽगतः। तदर्हति देव अस्मिन्नेव सुन्दरमुहूर्ते प्रेक्षितुम्। अहमपि कार्यशेषं समाप्याऽऽगत एव' इति।]

वासव०—अज्जउत्त, चिट्ठदु दाव इन्दजालं। माउलघरादो पहाणामच्चो वसुभूदी आअदो। तं दाव पेक्खदु अज्जउत्तो। [आर्यपुत्र, तिष्ठतु तावदिन्द्रजालम्। मातुलगृहात् प्रधानामात्यो वसुभूतिरागतः। तं तावत्प्रेक्षतामार्यपुत्रः।]

राजा—यथाह देवी (ऐन्द्रजालिकं प्रति, भद्र, विश्रम्यतामिदानीम्।

इन्द्र०—जं देवो आणवेदि। (पुनः पिच्छिकां भ्रामयति)। (निष्क्रामन्) एको उण मह खेलओ अवस्सं देवेण पेक्खिदव्वो। [यद्भर्ताऽऽज्ञापयति। एको पुनर्मम खेलोऽवश्यं देवेन प्रेक्षितव्यः।

राजा—भद्र, द्रक्ष्याम्।

वासव०—कञ्चणमाले, गच्छ तुमं। देहि से पारितोसिअं। [काञ्चनमाले, गच्छ त्वम्। देह्यस्य पारितोषिकम्।]

काञ्च०—जं देवी आणवेदि। (ऐन्द्रजालिकेन सह निष्क्रान्ता)। [यद् देव्याज्ञापयति।]

राजा—वसन्तक, प्रत्युद्गम्य प्रवेशयतां वसुभूतिः।

विदूषक—जं देवो आणवेदि। (इति वसुन्धरया सह निष्क्रान्तः)। [यद् देव आज्ञापयति।]

(ततः प्रविशति वसन्तकेनानुगम्यमानो वसुभूतिर्बाभ्रव्यश्च)

वसुभूति—(समन्तादवलोक्य) अहो वत्सेश्वरस्यानुभावः इह हि—

(तब वसुन्धरा प्रवेश करती है)

वसुन्धरा—(राजा के समीप जाकर) जय हो स्वामी की जय हो। अमात्य यौगन्धरायण निवेदन करते हैं—'यह विक्रमबाहु का प्रधान मन्त्री वसुभूति बाभ्रव्य नामक कञ्चुकी के साथ आया है। इसलिए महाराज इसे इसी सुन्दर मुहूर्त्त में दर्शन दें। मैं भी शेष कार्य को समाप्त करके आता ही हूं।

वासव०—आर्यपुत्र, इन्द्रजाल् को रहने दीजिये। मामा के घर से प्रधान मन्त्री वसुभूति आया है, आर्यपुत्र इसे दर्शन दें।

राजा—जैसा देवी कहें। (ऐन्द्रजालिक को लक्ष्य करके) भद्र, अब आराम करो।

ऐन्द्रजालिक—जो देव आज्ञा देवें—(फिर मोरपंखी को घुमाता है)। (बाहर जाते हुए) मेरा एक खेल महाराज अवश्य देखें।

राजा—भद्र, देखेंगे।

वासव०—काञ्चनमाला, तू जा। इसे इनाम दे।

काञ्चन०—जो देवी आज्ञा दें। ऐन्द्रजालिक के साथ बाहर जाती है)।

राजा—वसन्तक, सत्कार (अगवानी) करके वसुभूति को अन्दर लिवा लाओ।

विदूषक—जो महाराज आज्ञा दें। वसुन्धरा के साथ बाहर जाता है)। (तत्पश्चात् वसन्तक के साथ वसुभूति और बाभ्रव्य प्रवेश करते हैं)।

वसुभूति—(चारों ओर देखकर) वत्सराज का ऐश्वर्य आश्चर्यकारी है। क्योंकि यहा—

आक्षिप्तो जयकुञ्जरेण तुरगान्निर्वर्णयन्वल्लाभा-
न्संगीतध्वनिना हृतः क्षितिभृतां गोष्ठीषु तिष्ठन्क्षणम्।
सद्यो विस्मृतसिंहलेन्द्रविभवः कक्षाप्रदेशेऽप्यहो-
द्वाःस्थेनैव कुतूहलेन महता ग्राम्यो यथाऽहं कृतः ॥१२॥

बाभ्रव्यः—वसुभूते, अद्य खलु चिरात्स्वामिनं द्रक्ष्यामीति परसत्वमानन्दातिशयेन किमप्यवस्थान्तरमनुभवामि। कुतः।

विवृद्धिं कम्पस्य प्रथयतितरां साध्वसवशा-
दविस्पष्टां दृष्टिं तिरयतितरां बाष्पपटलैः।
स्खलद्वर्णां वाणीं जडयतितरां गद्गदतया
जरायाः साहाय्यं मम हि परितोषोऽद्य कुरुते ॥१३॥

विदूषक—(अग्रे भूत्वा) एदु एदु अमच्चो। [एत्वेत्वमात्यः।]

वसुभूति—(विदूषकस्य कण्ठे रत्नमालां दृष्ट्वाऽपवार्य) बाभ्रव्य, जाने सैवेयं रत्नमाला या देवेन राजपुत्र्यै प्रस्थानसमये दत्तेति

आक्षिप्त इति—वल्लभान् तुरगान् निर्वर्णयन जयकुञ्जरेण आक्षिप्तः, क्षितिभृतां गोष्ठीषुक्षिणं तिष्ठन् संगीतध्वनिना हृतः, अहो, कक्षाप्रदेशे अपि सद्यः विस्मृतसिंहलेन्दविभवः अहं द्वाःस्थेन एव महता कुतूहलेन ग्राम्यः यथा कृतः। इत्यन्वयः। वल्लभान् प्रियान् तुरगानश्वान् निर्वर्णयन्नवलोकयन् जयस्य कुञ्जरो जयकुञ्जरो जयावहो हस्ती तेनाऽऽक्षिप्त आकृष्टः। क्षितिभृतां राज्ञां वत्सराजस्य सेवार्थमागतानां गोष्ठीषु सभासु क्षणं तिष्ठन् संगीतस्य ध्वनिः स्वरस्तेन हृत आकृष्टः। अहो आश्चर्यम्, कक्षाप्रदेशेऽपि प्रकोष्ठेऽपि सद्यः सपदि विस्मृतः सिंहलेन्द्रस्य सिंहलनृपतेर्विभव ऐश्वर्ये येन स तथाभूतोऽहं द्वारि तिष्ठतीति द्वाःस्थ तेन महता कुतूहलेनाऽऽश्चर्येण ग्रामे भवो ग्राम्यो यथा ग्रामीण इव कृतः। नगरं गतो यथा कश्चिद् ग्रामवासी तत्रस्थवैभवं दृष्ट्वाऽऽश्चर्यचकितो भवति तथाऽहं भूतोऽस्मीत्यर्थः ॥१२॥

विवृद्धिमिति—अद्य मम परितोषः जरायाः साहाय्य कुरुते—हि साध्वस-

(राजा के) प्रिय अश्वों को देखता हुआ (ही) (मैं) विजय (लाभ कराने वाले) हाथी से आकृष्ट हो गया, राजाओं की गोष्ठियों में क्षण भर ठहरता हुआ (ही मैं) सगीत की ध्वनि से लुभा लिया गया। प्राङ्गण स्थल मे ही तुरन्त सिंहल के अधिपति के ऐश्वर्य को भूला हुआ मै द्वार पर स्थित महान् आश्चर्य से ही ग्रामीण के समान कर दिया गया ।।१२।।

बाभ्रव्य—वसुभूति, आज चिरकाल पश्चात् स्वामी के दर्शन करूंगा, इससे सचमुच आनन्द के अतिरेक के कारण कुछ दूसरी ही दशा का अनुभव कर रहा हूँ। क्योंकि—

आज मेरा हर्ष वृद्धावस्था की सहायता ही कर रहा है (जैसे कि)—(हर्ष) भय के कारण (गात्रो मे) कम्पन की वृद्धि को और बढा रहा है, आँसुओं के समूहो से (वृद्धावस्था से) धुधली दृष्टि को और अधिक ढक रहा है, और गले के भर आने से टूटते हुए अक्षरो वाली वाणी को और अधिक जड़ बना रहा है ।।१३।।

विदूषकः—(आगे जाकर) अमात्य चलिये, चलिये।

वसुभूति—(विदूषक के गले में माला देखकर, एक ओर को होकर) बाभ्रव्य, मैं समझता हूँ कि यह रत्नमाला वही है जो प्रस्थान के समय महाराज ने राजकुमारी को दी थी।

वशात् कम्पस्य विवृद्धि प्रथयतितराम्, बाष्पपटलैः अविस्पष्टा दृष्टि तिरयतितराम् गद्‌गदतया स्खलद्वर्णा वाणी जडयतितराम्। इत्यन्वयः। वत्सराजस्य कञ्चुकी बाभ्रव्यो नाम , स्वस्वामिन चिराद् द्रक्ष्यतीत्यनेन सोऽपूर्वा दशामनुभवति, तदेवात्र वर्णयति—अद्य मम परितोषः स्वामिदर्शने भविष्यतीत्यानन्दो जराया वृद्धावस्थायाः सहायस्य भावः साहाय्य सहायतां कुरुते, हि यतः साध्वसवशाद् भयाद्धेतोः कम्पस्य वेपथोर्विवृद्धि प्रथयतितरामतिशयेन वर्धयति। बाष्पाणां हर्षाश्रूणां पटलैः समूहैर्वार्धक्येनाऽविस्पष्टा मन्दां दृष्टि तिरयतितरामतिशयेन छादयति। गद्‌गदतया कण्ठावरोधेन जरायाः कारणात्पूर्वत एव स्खलन्तोऽस्पष्टा वर्णा अक्षराणि यस्या तां वाणी वाच जडयतितरामतिशयेन जडां शिथिला करोति ।।१३।।

बाभ्र०—अमात्य, अस्ति सादृश्यम्। तत्किं वसन्तकं पृच्छामि प्राप्तिमस्याः।

वसु०—बाभ्रव्य, मा मैवम्। महति राजकुले रत्नबाहुल्यान्न दुर्लभो भूषणानां संवादः। (इति परिक्रामति)।

विदूषक—भो, एसो महाराओ। ता उवसप्पदु अमच्चो। [भोः, एष महाराजः। तदुपसर्पत्वमात्यः।]

वसु—(उपसृत्य) जयतु देवः।

राजा—(उत्थाय) आर्य, अभिवादये।

वसुभूतिः—आयुष्मान् भव।

राजा—आसनमासनमार्याय।

विदूषक—एदमासणं। उपविसदु अमच्चो। [इदमासनम्। उपविशत्वमात्यः।]

(वसुभूतिरुपविशति)

बाभ्र०—देव, बाभ्रव्यः प्रणमति।

राजा—(पृष्ठे हस्तं दत्वा) बाभ्रव्य, इत आस्यताम्।

विदूषक—अमच्च, एसा देवी वासवदत्ता पणमदि। [अमात्य, एषा देवी वासवदत्ता प्रणमति।]

वासव०—अज्ज, पणमामि। [आर्य, प्रणमामि।]

वसु०—आयुष्मति, वत्सराजसदृशं पुत्रं प्राप्नुहि।

(सर्वे उपविशन्ति)

राजा—आर्य वसुभूते, अपि कुशलं तत्र भवतः सिंहलेश्वरस्य।

वसु—(ऊर्ध्वमवलोक्य निःश्वस्य च) देव न जाने किं विज्ञापयामि। (अधोमुखस्तिष्ठति)।

वासव०—(सविषादमात्मगतम्) हद्धी हद्धी। किं दाणिं वसुभदी कथइस्सदि। [हा धिक्, हा धिक्। किमिदानीं वसुभूतिः कथयिष्यति।]

राजा—कथय किमेतत्। आर्य, आकुल इव मेऽन्तरात्मा।

बाभ्र०—(अपवार्य) अमात्य चिरमपि स्थित्वा कथनीयम्। तदिदानीमेव कथ्यताम्।

बाभ्रव्य—अमात्य, समानता तो है। तो क्या इसकी प्राप्ति के विषय में वसन्तक से पूछूं?

वसुभूति—बाभ्रव्य नहीं ऐसा न (करो)। बड़े राजकुल में रत्नों की बहुलता होने के कारण, भूषणों मे समानता मिलना कठिन नहीं है। (घूमता है)।

विदूषक—यह महाराज (बैठे है)। इसलिये अमात्य समीप जायें।

वसुभूति—(समीप जाकर) महाराज की जय हो।

राजा—(उठकर) आर्य, मैं अभिवादन करता हूँ।

वसुभूति—दीर्घायु बनो।

राजा—आसन, आर्य के लिये आसन (लाओ)।

विदूषकः—यह आसन (है)। अमात्य बैठिये।

(वसुभूति बैठता है)

बाभ्रव्य—महाराज, बाभ्रव्य प्रणाम करता है।

राजा—(पीठ पर हाथ रखकर) बाभ्रव्य इधर बैठो।

(बाभ्रव्य बैठता है)

विदूषक—अमात्य, यह देवी वासवदत्ता प्रणाम करती हैं।

वासव०—आर्य, मैं प्रणाम करती हूं।

वसु०—आयुष्मती, वत्सराज के जैसा पुत्र प्राप्त करो।

(सब बैठ जाते हैं)

राजा—आर्य वसुभूति, आदरणीय सिंहलाधिपति का कुशल तो है?

वसुभूति—(ऊपर को देखकर और लम्बा साँस छोड़कर) देव, समझ में नहीं आ रहा कि क्या कहूँ? (नीचे को ओर मुख झुका कर बैठता है)।

वासव०—(विषादपूर्वक स्वागत) हाय! हाय! (न जाने) अब वसुभूति क्या कहेगा?

राजा—कहिये, यह क्या? आर्य, मेरा हृदय व्याकुल-सा हो रहा है।

बाभ्रव्य—(एक ओर को होकर) अमात्य, विलम्ब लगाकर भी कहना ही पड़ेगा, इसलिये अभी कह डालिये।

वसु०—(सास्रम्) देव, न शक्यं निवेदयितुम् । तथाप्येष कथयामि मन्दभाग्यः । यासौ तत्र भवता सिंहलेश्वरेण स्वदुहिता रत्नावली नामाऽऽयुष्मती वासवदत्तां दग्धामुपश्रुत्य देवाय पूर्वं प्रार्थिता सती दत्ता—

राजा—(अपवार्य) देवि, किमिदमलीकमेव त्वन्मातुलामात्यः, कथयति ।

वासव०(स्मित्वा) अज्जउत्त, ण जाणीअदि को अलिअं मन्तेदित्ति । [आर्यपुत्र, न ज्ञायते कोऽलीकं मन्त्रयत इति ।]

विदूषक—तदो ताए किं सवुत्तं । [ततस्तस्याः किं नवृत्तम् ।]

वसु०—सा च युष्मदन्तिकमानीयमाना समुद्रे यानभङ्गान्निमग्ना । (इति सवाष्पमधोमुखस्तिष्ठति) ।

वासव—(सास्रम्) हा हदम्हि मन्दभाइणी । हा बहिणि रअणावलि, कहिं वाणि सि । देहि मे पडिवअणं । [हा हतास्मि मन्दभागिनी । हा भगिनिके रत्नावलि, क्वदानीमसि । देहि मे प्रतिवचनम् ।]

राजा—समाश्वसिहि समाश्वसिहि । दुरवगाहा गतिर्दैवस्य । यानभङ्गपतितोत्थितो नन्वेतावेव ते निदर्शनम् । (इति वसुभूतिबाभ्रव्यौ दर्शयति) ।

वासव०—अज्जउत्त, जुज्जदि एदं । परं कुदो मम एत्तिअ भाअधेअं । [आर्यपुत्र, युज्यत एतत् । पर कुतो ममैतावद्भागधेयम् ।]

(नेपथ्ये महान्कलकलः)

हर्म्याणां हेमशृङ्गश्रियमिव निचयैरर्चियामादधानः
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः ।

त्वन्मातुलामात्यः—तव मातुलस्य मातुर्भ्रातुः सिंहलेश्वरस्याऽमात्यः । युष्मदन्तिकम्—युष्माकमन्तिकं समीपम् । दुरवगाहेति—दुःखेनावगाह्यत इति दुरवगाहा दुर्ज्ञेया । यानभङ्गेति—यानस्य पोतस्य भङ्गाद् ध्वंसात्पतितौ तत उत्थितौ ।

हर्म्याणामिति—अर्चिषां निचयैः हर्म्याणां हेमशृङ्गश्रियमिव आदधानः सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः धूमपातैः भीहामहीध सजल

वसुभूति—(आसुओं के साथ) देव, कहा तो नहीं जा सकता, फिर भी यह अभागा मैं कहता हूं। सिंहल के अधिपति ने जो वह, पहले मांगी गई, रत्नावली नाम की अपनी पुत्री आयुष्मती वासवदत्ता को जल गई सुनकर महाराज के लिए दी थी ······।

राजा—(एक ओर को) देवी, तुम्हारे मामा का मन्त्री यह क्या झूठी बात कह रहा है?

वासव०—(मुस्करा कर) आर्यपुत्र, पता नहीं कि झूठ कौन बोल रहा है?

विदूषक—तब उसका क्या हुआ?

वसुभूति—आपके समीप लाई जाती हुई वह जहाज के टूट जाने से समुद्र में डूब गई। (यह कहकर रोते हुये मुख नीचे लटका लेता है)।

वासव०—हाय! मैं अभागिन मारी गई। हाय, बहन रत्नावली, अब तू कहां है? मुझे उत्तर (तो) दे।

राजा—'देवी, धैर्य रखो, धैर्य रखो। दैव की गति जानी नहीं जा सकती। जहाज टूटने से (समुद्र में) गिरकर उबरे हुये ये दोनों ही, (देखो), इसके उदाहरण हैं। (यह कहकर वसुभूति और बाभ्रव्य को दिखलाता है)।

वासव०—आर्यपुत्र यह ठीक है। परन्तु मेरा इतना भाग्य कहां है?

(नेपथ्य में जोर से कलकल ध्वनि होती है)

ज्वालाओं के समूह से भवनों की सुवर्ण के शिखरों की-सी शोभा करती हुई, घने उद्यान के वृक्षों की चोटियों को मुरझा देने से (अपने) अत्यन्त उग्र ताप को सूचित करने वाली, धूम-समूह से क्रीड़ा-पर्वत को जल से भरे मेघ

जलधरश्यामलं कुर्वन् प्लोषार्तयोषिज्जन एषः अग्निः इह अन्तःपुरे सहसा एव उत्थितः। इत्यन्वयः। अर्चिषां ज्वालानां निचयैः पुञ्जैर्हर्म्याणां प्रासादानां हेम्न स्वर्णस्य शृङ्गाणि शिखराणि तेषां श्रियमिव शोभामिवाऽऽदधानः कुर्वन्, सान्द्राणां निबिडानामुद्यानद्रुमाणां यान्यग्राणि शिखराणि तेषां ग्लपनेन

कुर्वन्क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूमपातै—
रेष प्लोषार्तयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः ॥१४॥

अपि च

देवीदाहप्रवादोऽसौ योऽभूल्लावाणके पुरा ।
करिष्यन्निव तं सत्यमयमग्निः समुत्थितः ॥१५॥

(सर्वे संभ्रान्ताः पश्यन्ति)

राजा—(ससंभ्रममुत्थाय) कथमन्तःपुरेऽग्निः । कष्टं देवी वासवदत्ता दग्धा । हा प्रिये वासवदत्ते ।

वासव०—अज्जउत्त, परित्ताहि परित्ताहि ।

[आर्यपुत्र, परित्रायस्व परित्रायस्व]

राजा—अये, कथमतिसंभ्रमाविहस्थापि देवी नोपलक्षिता । देवि, समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

वासव०—अज्जउत्त, मए अत्तणो किदे ण भणिदं । एसा क्खु मए णिग्घिणाए इध णिअडेण संजमिदा साअरिआ विवज्जेदि ता तं परित्ताअदु अज्जउत्तो । [आर्यपुत्र, मयात्मनः कृते न भणितम् । एषा खलु मया निर्घृणयेह निगडेन संयमिता सागरिका विपद्यते । तत्तां परित्रायतामार्यपुत्रः ।]

राजा—कथं वि, सागरिका विपद्यते । एष गच्छामि ।

वसु०—देव, किमिदमकारणमेव पतङ्गवृत्तिः क्रियते ।

बाभ्र०—देव, युक्तमाह वसुभूतिः ।

विदू०—(राजानमुत्तरीये गृहीत्वा) वअस्स, मा क्खु एव्वं साहसं करेहि । [वयस्य, मा खल्वेवं साहसं कुरु ।]

राजा—(उत्तरीयमुत्सृज्य) धिङ्, मूर्ख, सागरिका विपद्यते । किमद्यापि प्राणा धार्यन्ते । [ज्वलनप्रवेशं नाटयित्वा धूमाभिभवं नाटयति]

प्लापनेन विधुनितः सूचितोऽत्यन्ततीव्रोऽभितापो यस्य सः धूमपातैर्धूमावतरणैः क्रीडामहीध्रं क्रीडापर्वतं जलेन सहितः सजलः स च जलधरो मेघः स इव श्यामलः कृष्णवर्णस्तं कुर्वन् प्लोषेण दाहेनाऽऽर्तः पीडितो योषिज्जनः स्त्रीवर्गो

के समान श्यामल करती हुई, यह आग, जिसके दाह से स्त्रियाँ पीड़ित हो रही है यहाँ अन्तःपुर मे अकस्मात् ही (भड़क) उठी है ॥१४॥

पहले लावाणक (नामक गाँव) में जो वह देवी (वासवदत्ता) के जल जाने की अफवाह हो गई थी, मानो, उसे सत्य करने वाली यह अग्नि उठी है ॥१५॥

(सब घबराते हुये जाते है)

राजा—(घबराहट के साथ उठकर) अन्तःपुर में आग कैसे ! अनर्थ (हुआ) देवी वासवदत्ता जल गई। हाय, प्रिय वासवदत्ता।

वासव०—आर्यपुत्र, बचाओ, बचाओ।

राजा—अरे ! कैसे ! अधिक घबराहट के कारण यहां बैठी हुई भी देवी नहीं देखी। देवी, धैर्य रक्खो, धैर्य रक्खो।

वासव०—आर्यपुत्र, मैंने अपने लिये नहीं कहा। मुझ निर्दय द्वारा जंजीर से बांधी गई यह सागरिका इस (आग) में मर रही है। इसलिये आर्यपुत्र उसकी रक्षा करें।

राजा—देवी, क्या सागरिका मर रही है ? मैं यह जाता हूं।

वसुभूति—महाराज, क्यों व्यर्थ पतंग का आचरण करते हैं ?

बाभ्रव्य—महाराज, वसुभूति ने ठीक (ही) कहा है।

विदूषक—(राजा की चादर पकडकर) मित्र, ऐसा साहस न करो।

राजा—(चादर छोड़कर) छिः मूर्ख, सागरिका मर रही है। क्या अब भी प्राण धारण किये जायें। (यह कहकर अग्नि मे घुसने का नाटय करके धुएं से हुये कष्ट का अभिनय करते हुये।)

यस्मात्स एष पुरो दृश्यमानोऽग्निरिहाऽन्तःपुरे शुद्धान्ते सहसैवाऽकस्मादेवोत्थितः ॥१४॥

देवीदाहेति—पुरा लावाणके यः असौ देवीदाहप्रवादः अभूत, तं सत्यं करिष्यन् इव अयम् अग्निः समुत्थितः। इत्यन्वय पुरा लावाणके तदाख्ये ग्रामे देव्या वासवदत्ताया दाहस्य प्रवादो लोकश्रुतिरभूत् तं प्रवादं सत्यं करिष्यन्निवाऽयमग्निः समुत्थितः ॥१५॥

विरम विरम वह्ने मुञ्च धूमानुबन्धं
प्रकटयसि किमुच्चैरर्चिषां चक्रवालम् ।
विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्धः प्रियायाः
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि ॥१६॥

वासव०—कधं मम दुःखभाइणीए वअणादो एव्वं अज्झवसिदं अज्जउत्तेण। ता अहंपि अज्जउत्तं एव्वं अणुगमिस्सं। [कथं मम दुःखभागिन्या वचनादेवमध्यवसितमार्यपुत्रेण। तदहमप्यार्यपुत्रमेवानुगमिष्ये।]

विदूषक—(परिक्रामन्नग्रतो भूत्वा) भोदि, अहंपि दे पधोवदेसको होमि। [भवति, अहमपि ते पथ्युपदेशको भवामि।]

वसु०—कथं प्रविष्ट एव ज्वलनं वत्सराजः। तन्ममापि दृष्टराजपुत्रीविपत्तेर्युक्तमिहैवात्मानमाहुतिकर्तुम्।

बाभ्र०—(सास्रम्) हा दैव, किमिदमकारणमेव भरतकुलं संशयतुलामारोपितम्। अथवा किं प्रलापेन। अहमपि भक्तिसदृशमाचरामि।

(इति सर्वेऽग्निप्रवेशं नाटयन्ति)

(ततः प्रविशति निगडसंयता सागरिका)

साग०—(दशोऽवलोक्य)हद्धी समन्तदो पज्जलिदो हुदवहो। (विचिन्त्य सपरितोषम्) अज्ज हुदवहो दिट्ठिआ करिस्सदि मे दुक्खावसाणं। [हा धिक्, समन्ततः प्रज्वलितो हुतवहः। अद्य हुतवहो दिष्ट्या करिष्यति मे दुःखावसानम्।]

राजा—अये, इयमासन्नहुतवहा वर्तते सागरिका। तत्त्वरितमेनां संभावयामि। (त्वरितमुपसृत्य) अयि प्रिये, किमद्यापि संभ्रमे स्वस्थतयाऽवस्थीयते।

विरमेति—वह्ने, विरम, धूमानुबन्धं मुञ्च। उच्चैः अर्चिषां चक्रवालं किं प्रकटयसि? यः अहं प्रबलदहनभासाव प्रियायाः विरहहुतभुजा न दग्धः तस्य त्वं किं करोषि? इत्यन्वयः। वह्ने, विरम विरम शान्तो भव, धूमस्याऽनुबन्धं सातत्यं मुञ्च। उच्चैरुच्चगामिन्यर्चिषा ज्वालानां चक्रवालं मण्डलं किं प्रकटयसि? यतो हि योऽहं प्रलये प्रलयकाले यो दहनोऽग्निस्तस्य भास्तेज इव भा यस्य तेन

हे अग्नि, शान्त हो जाओ, शान्त हो जाओ, धूम की शृंखला को छोड़ दो। तुम ऊंची ज्वालाओं के समूह को क्यों प्रकट कर रही हो ? जिस मुझे प्रलय काल को अग्नि के समान तेज वाली, प्रिया के विरह की अग्नि ने नहीं जलाया, उसका तुम क्या कर सकोगी ॥१६॥

वासव०—क्यों मुझ दुखिया के कहने से आर्यपुत्र ने ऐसा स्वीकार किया ? तब मैं भी आर्यपुत्र का ही अनुगमन करूंगी।

विदूषक—(घूमते हुये आगे होकर) आदरणीय, मैं भी तुम्हारा पथ-प्रदर्शक बनता हूं।

वसुभूति—अरे ! वत्सराज अग्नि में प्रविष्ट हो ही गये। तब मुझे भी, जिसने राजपुत्री की मृत्यु देख ली है, इस (आग) में अपनी आहुति दे देनी उचित है।

बाभ्रव्य—हाय विधाता ! क्यों यह निष्कारण ही भरतकुल को संशय की तराजू पर चढा दिया ? या रोने धोने से क्या (लाभ) ? मैं भी भक्ति के अनुरूप आचरण करता हूं।

(सब अग्नि मे घुसने का नाट्य करते हैं)

(तत्पश्चात् शृङ्खला में बन्धी सागरिका प्रविष्ट होती है)

सागरिका—(चारों ओर देखकर) हाय, धिक्कार ! चारों ओर अग्नि जल रही है। (सोचकर सन्तोष के साथ) आज सौभाग्य से अग्नि मेरे दुःख का अन्त कर देगी।

राजा—अरे ! यह सागरिका है, जिसके समीप आग पहुंच गई है। तब जल्दी से इस पर ध्यान दूं। (जल्दी से पास जाकर) अरी प्यारी ! कैसे अब उपद्रव में भी शान्त खड़ी हो ?

प्रियायाः सागरिकाया विरहस्य वियोगस्य हुतं भुङ्क्त इति हुतभुगग्निस्तेन न दग्धस्तस्य मम त्वं किं करोषि ? न त्वं मां दग्धुं पारयसीति तस्माद् व्यर्थ एवैष तवाटोप इति ॥१६॥

पथ्युपदेशकः—पथो मार्गस्योपदेशको वक्ता। दृष्टराजपुत्रीति—दृष्टा राजपुत्र्या रत्नावल्या विपत्तिर्नाशो येन तस्य। भक्तिसदृशम्—भक्तेः स्वामिभक्तेः

साग०—(राजानं दृष्ट्वात्मगतम्) कधं अज्जउत्तो। ता एदं पेक्खिअ पुणोवि मे जविदासा सवुत्ता। (प्रकाशम्) भट्टा परित्ताहि। [कथमार्यपुत्रः। तदेनं प्रेक्ष्य पुनरपि में जीविताशा संवृत्ताः। भर्तः, परित्रायस्व।]

राजा—भीरु, अलं भयेन।

मुहूर्तमपि सह्यतां बहुल एष धूमोद्गमो

(अग्रतोऽवलोक्य)

हहा धिगिदमंशुकं ज्वलति ते स्तनात्प्रच्युतम्।

(विलोक्य)

मुहुः स्खलसि किं कथं निगडसंयतासि द्रुतं

(परिकरं बद्ध्वा)

नयामि भवतीमितः प्रियतमेऽवलम्बस्व माम् ॥१७॥

(कण्ठे गृहीत्वा निमीलिताक्षः स्पर्शसुखं नाटयन्) अहो क्षणाद् पगतोऽयं मे संताप। प्रिये, समाश्वसिहि समाश्वसिहि।

व्यक्तं लग्नोऽपि भवतीं न दहत्येव पावकः।

यतः संतापमेवायं स्पर्शस्ते हरति प्रिये ॥१८॥

(अक्षिणी समुन्मील्य दिशो निरीक्ष्य सागरिकां च मुक्त्वा) अहो महदाश्चर्यम्।

क्वासौ गतो हुतवहस्तवदस्यमेतद्

अन्तःपुरं (वासवदत्तां दृष्ट्वा) कथमवन्तिनयात्मजेयम्।

वासव०—(राज्ञः शरीरं परामृशन्ति सहर्षम्) दिट्ठिआ अक्खदसरीरो उज्जउत्तो—[दिष्ट्याऽक्षतशरीर आर्यपुत्रः।]

सदृशं योग्यम्। आसन्नेति—आसन्नः समीपवर्ती हुतवहो वह्निर्यस्याः सा।

मुहूर्तमिति—एष बहलः धूमोद्गमः मुहूर्तमपि सह्यताम्। हहा, धिग् इदं ते स्तनात् प्रच्युतम् अंशुकं ज्वलति। मुहुः किं स्खलसि? कथं निगडसंयता असि द्रुतं भवतीम् इतः नयामि। प्रियतमे, माम् अवलम्बस्व। इत्यन्वयः। एष बहलो घनो धूमस्योद्गम आविर्भावो मुहूर्तं क्षणमपि सह्यतां मृष्यताम्। हहेति खेदे।

सागरिका—(राजा को देखकर मन ही मन) क्या आर्यपुत्र ! इन्हें देखकर तो फिर मुझे जीने की इच्छा हो आई है। (प्रकट में) स्वामी बचाइये, बचाइये।

राजा—भीरु, भय न करो।

इस घने धुयें के गुब्बार को क्षण भर सह लो। (आगे देखकर) हाय, यह स्तन से गिरा हुआ तुम्हारा वस्त्र जल रहा है। (देखकर) बार-बार कैसे गिर रही हो ? अरे ! शृङ्खला में बन्धी हुई हो। (कमर कसकर) प्रियतमा, मेरा सहारा ले लो, मैं आपको यहाँ से (उठाकर) लिये जाता हूँ ॥१७॥

(गले लगकर आँखें बन्द किये स्पर्श सुख का नाट्य करते हुए) अहो, मेरा यह ताप क्षण भर में चला गया। प्रिय, धैर्य रक्खो, धैर्य रक्खो।

प्रिय, (तुमसे) स्पष्ट रूप से लिपटा हुआ भी पावक तुम्हें नहीं जला रहा है, क्योंकि यह तुम्हारा स्पर्श ताप को ही हर लेता है ॥१८॥

(आँखें खोलकर चारों ओर देखकर और सागरिका को छोड़कर) अहो ! महान् आश्चर्य है।

यह आग कहाँ चली गई। यह अन्तःपुर उसी दशा वाला है। (वासवदत्ता को देखकर) अरे ! यह अवन्ति के राजा की पुत्री (वासवदत्ता) रही।

वासव०—(राजा के शरीर को छूकर हर्ष के साथ) सौभाग्य [illegible] आर्यपुत्र का शरीर घायल नहीं हुआ।

धिक्। इद ते तव स्तनात्प्रच्युत स्रस्तमंशुकं वस्त्र ज्वलति दहति। मुहुः पुनः-पुनः किं स्खलसि पतसि ? कथमिति सभ्रमे। निगडेन शृङ्खलया सयता बद्धाऽसि द्रुतं शीघ्रं भवतीमितोऽस्मादग्नेर्दूरं नयामि। प्रियतमे मामवलम्बस्व गृहाण ॥१७॥

निमीलितेति—निमीलिते अक्षिणी नेत्रे यस्य सः।

व्यक्तमिति—प्रिये व्यक्तं लग्नः अपि पावकः भवतीं न दहति एव, यत, अयं ते स्पर्शः सन्तापम् एव हरति। इत्यन्वयः। प्रिये सागरिके, व्यक्तं स्पष्टं यथा स्यात्तथा लग्नोऽपि स्पृष्टोऽपि पावकोऽग्निर्भवती न दहत्येव दग्धुं न पारयति, यतो यस्मात्कारणादयं ते तव स्पर्शः सन्तापमेव दाहमात्रं हरत्यपनयति ॥१८॥

राजा—बाभ्रव्य एष—

बाभ्रव्य—देव, इदानीं प्रत्युज्जीविता: स्मः।

राजा— वसुभूतिरयं—

वसु०—विजयतां महाराजः।

राजा— वयस्यः—

विदूषक—जेदु जेदु भवं [जयतु जयतु भवान्।]

राजा—

स्वप्ने मतिभ्र मति किं न्विदमिन्द्रजालम्॥१६॥

विदूषक—भो मा सदेहं करेहि। इन्दजालं ज्जेव्व एदं। भणिदं तेण दासीए पुत्तेण इन्दिआलिएणजधा अवस्स ज्जेव्व मम एक्को खेलणओ देवेण पेक्खिदव्वात्ति। ता ण ज्जेव एवं। [भो मा संदेह कुरु।] इन्द्रजालमेवेदम्। भणित तेन दास्याः पुत्रेणेन्द्रजालिकेन यथा अवश्यमे ममैकः खेलनको देवेन प्रेक्षितव्य इति। ततदेवैतद्।

राजा—देवि, इयं त्वद्वचनादस्माभिरिहाऽऽनीता सागरिका।

वासव०—(सस्मितम्) अज्जउत्त, जाणिदं मए। [आर्यपुत्र, ज्ञातं मया।]

वसुभूति—(सागरिकां दृष्ट्वापवार्य) बाभ्रव्य, सदृशीयं राजपुत्र्या।

बाभ्र०—अमात्य, ममाप्येतदेव मनसि वर्तते।

वसुभूति—(राजानमुद्दिश्य) देव, कुत इयं कन्यका।

राजा—देवि, जानाति।

वसुभूति—देवि, कुतः पुनरियं कन्यका।

वासव०—अमच्च, ऐसा खु साअरादो पाविदे त्ति भणिअ अमच्चजोअन्धराअणेण मम हत्थे णिक्खित्ता। अदो ज्जेव्व साअरिआन्ति सद्दावीअदि। [अमात्य, एषा खलु सागरात्प्राप्तेति भणित्वाऽमात्ययौगन्धरायणेन मम हस्ते निक्षिप्ता। अत एव सागरिकेति शब्दायते।]

कासाविति—असौ हुतवहः क्व गतः? एतद् अन्तःपुर तदवस्थम्। कथमियम् अवन्तिनृपात्मजा, एषः बाभ्रव्यः, अयं वसुभूतिः, (अयं) वयस्यः। मतिः स्वप्ने

राजा—यह बाभ्रव्य है।

बाभ्रव्य—महाराज, अब हम पुनः जीवित हो गये हैं।

राजा—यह वसुभूति रहा।

वसुभूति—महाराज की जय हो।

राजा—(यह) वयस्य रहा।

विदूषक—जय हो, आपकी जय हो।

राजा—बुद्धि स्वप्न में घूम रही है। अथवा क्या यह इन्द्रजाल है ॥१६॥

विदूषकः—अरे, सन्देह न करो। यह इन्द्रजाल ही है। उस दासी के पुत्र इन्द्रजालिक ने कहा था कि देव मेरा एक खेल अवश्य देखें। यह वही है।

राजा—देवी, यह तुम्हारे कहने से हम सागरिका को यहाँ ले आये।

वासवदत्ता—(मुस्कराहट के साथ) आर्यपुत्र, मैंने जान लिया।

वसुभूति—(सागरिका को देखकर, एक ओर को) बाभ्रव्य यह तो राजपुत्री से मिलती है।

बाभ्रव्य—अमात्य, मेरे मन में भी यही है।

वसुभूति—(राजा को लक्ष्य करके) देव, यह कन्या कहाँ से (पाई है) ?

राजा—(यह) देवी जानती है।

वसुभूति—देवी, यह कहाँ से (आई है) ?

वासव—अमात्य मन्त्री यौगन्धरायण ने यह कहकर—'यह सागर से मिली है—'मेरे हाथ मे धरोहर रक्खी थी। इसीलिये इसे 'सागरिका' कह कर पुकारा जाता है।

भ्रमति किम्। (कि) नु इदम् इन्द्रजालम्। इत्यन्वयः। असौ सम्प्रत्येवोत्थितो हुत वहत्तीति हुतवहोऽग्निः क्व गतः ? एतदिदमन्तःपुरं शुद्धान्तं सा तादृशी दाहात्पूर्वाऽवस्था यस्य तदेव वर्तते। कथमित्याश्चर्यपूर्वके प्रश्ने। इयमवन्तीनां नृपस्याऽऽत्मजा पुत्री वासवदत्ता, एष बाभ्रव्यो नाम कञ्चुकी, अयं वसुभूतिः सिंहलेश्वरस्य मन्त्री, अयं च वयस्यः सखा वसन्तकः। सर्वेऽक्षता एव तिष्ठन्ति। मतिर्बुद्धिः स्वप्ने भ्रमति किम्। किं स्वप्न एवेदं मेऽग्निदर्शन न तु वास्तविकम्। अथवा किञ्चिदिति वितर्के, इदमिन्द्रजालं माया वर्तते ॥१६॥

राजा—(स्वगतम्) यौगन्धरायणेन न्यस्ता ! कथमसौ मामनिवेद्य किञ्चित्करिष्यति ।

वसु०—(अपवार्य) बाभ्रव्य, यथा सुसदृशी वसन्तकस्य कण्ठे रत्नमाला, अस्याश्च सागरात्प्राप्तिः, तथा व्यक्तं सिंहलेश्वरस्य दुहिता रत्नावलीयम् । (प्रकाशम्) आयुष्मति, न खलु राजपुत्री रत्नावली त्वमीदृशीमवस्थामुपगता ।

साग०—(विसुभूर्ति दृष्ट्वा सास्रम्) कधं अमच्चो वसुभूदी । [कथममात्यो वसुभूति ।]

वसु०—(सास्रम्) हा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः । (इति भूमौ पतति) ।

साग०—हा ताद, हा अम्ब, कहिं सि । देहि मे पडिवअणं । (इति वसुभूतेरुपरि पतन्ती मोहमुपगता) । [हा तात, हा अम्ब, कुत्रासि । देहि मे प्रतिवचनम् ।]

वासव०—(ससम्भ्रमम्) अज्ज कञ्चुइ, इअं सा मम बहिणी रअणावली । [आर्य कञ्चुकिन्, इय सा मम भगिनी रत्नावली ।]

बाभ्र०—देवी, इयमेव सा ।

वासव०—(रत्नावलीमालिङ्ग्य) बहिणी, समस्सस समस्सस ।
[भगिनि, समाश्वसिहि, समाश्वसिहि ।]

राजा—कथमुदात्तवंशस्य सिंहलेश्वरस्य विक्रमबाहोरात्मजेयम् ।

विदू०—(रत्नमालां स्पृशन् स्वगतम्) पढमं ज्जेव्व मए जाणिदं ण क्खु सामण्णजणस्स ईदिसो परिच्छदो होदित्ति । [प्रथममेव मया ज्ञातं न खलु सामान्यजनस्येदृशः परिच्छदो भवतीति ।]

वसु०—(उत्थाय) आयुष्मति, समाश्वसिहि समाश्वसिहि । नन्वियं ज्यायसी ते भगिनी दुःखमास्ते । तत्परिष्वजस्वैनाम् ।

साग०—(समाश्वस्य वासवदत्तां दृष्ट्वा स्वगतम्) किदावराहा क्खु अहं देवीए ण सक्कणोमि मुहं दंसिदुं । (इत्यधोमुखी तिष्ठति) । [कृतापराधा खल्वहं देव्या न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम् ।]

राजा—(मन में) यौगन्धरायण ने धरोहर रक्खी। कैसे यह मुझ से बिना बतलाये कुछ करेगा ?

वसुभूति—(एक ओर को) बाभ्रव्य, क्योंकि वसन्तक के गले में (पड़ी) रत्नमाला बिल्कुल मिलती-जुलती है और इस (कन्या) की सागर से प्राप्ति हुई है, इससे स्पष्ट (है कि) यह सिंहल के अधिपति की पुत्री रत्नावली है। (प्रकट में) आयुष्मति, कहो तुम राजकुमारी रत्नावली ही तो इस अवस्था को प्राप्त नहीं हो गई ?

सागरिका—(वसुभूति को देखकर आँसुओं के साथ) क्या अमात्य वसुभूति ?

वसुभूति—(आंसू भरकर) हाय, मैं (ही) अधम भाग्यहीन हूँ। (पृथ्वी पर गिरता है)।

सागरिका—हाय तात, हाय अम्मा, कहाँ हो ? मुझे प्रत्युत्तर दो (यह कहकर वसुभूति के ऊपर पड़ती हुई मूर्च्छित हो जाती है)।

वासव०—(घबराहट के साथ) आर्य कञ्चुकी, यह वह मेरी बहिन रत्नावली है।

बाभ्रव्य—देवी, वह यही है।

वासव०—(रत्नावली का आलिंगन करके) बहिन, धैर्य रक्खो, धैर्य रक्खो।

राजा—अरे कैसे ! यह उच्चकुलीन, सिंहल के अधिपति, विक्रमबाहु की पुत्री है।

विदूषक—(रत्नमाला को छूते हुए मन में) मैंने पहले ही जान लिया था कि साधारण जन का आभूषण ऐसा नहीं होता है।

वसुभूति—(उठकर) आयुष्मती, धैर्य रक्खो, धैर्य रक्खो। यह तुम्हारी बड़ी बहन दुःखी हो रही है। इसका आलिङ्गन तो करो।

सागरिका—(संभल कर, वासवदत्ता को देखकर, मन में) मैंने देवी का अपराध किया है, इसलिये मैं मुँह नहीं दिखा सकती हूँ। (मुख नीचा करके जाती है)।

वासव०—(सास्रं बाहू प्रसार्य) एहि एहि अदिणिट्ठुरे, दाणिं पि दाव सिणेहं दसेहि। (इति कण्ठे गृह्णाति। [एह्येह्यतिनिष्ठुरे, इदानीमपि तावत् स्नेहं दर्शय।]

(रत्नावली स्खलितं नाटयति)

वासव०—(अपवार्य) अज्जउत्त, लज्जेमि अहं इमिणा अत्तणो णिसंसत्तेण। ता अवणेहि से बन्धणं। [आर्यपुत्र, लज्जेऽहमेतेनात्मनो नृशंसत्वेन। तदपनयास्या बन्धनम्।]

राजा—(सपरितोषम्) यथाऽऽह देवी। (इति तथा करोति)।

वासव०—अज्जउत्त, अमच्चजोअन्धराअणेन एत्तिअं क्खु कालं दुज्जणीकिदम्हि। जेण जाणन्तेण वि ण मे णिवेदिदं। [आर्यपुत्र, अमात्ययौगन्धरायणेनैतावन्त खलु काल दुर्जनीकृतास्मि। येन जानतापि न मे निवेदितम्।]

(ततः प्रविशति यौगन्धरायणः)

यौगन्धरायण—

देव्या मद्वचनाद्यदाऽभ्युपगतः पत्युर्वियोगस्तदा
सा देवस्य कलत्रसंघटनया दुःखं मया स्थापिता।
तस्याः प्रीतिमयं करिष्यति जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः
सत्यं दर्शयितुं तथापि वदनं शक्नोमि नो लज्जया ॥२०॥

(क्षण विचिन्त्य) अथवा किं क्रियते ? ईदृशमत्यन्तमाननीयेष्वपि निरनुरोधवृत्ति स्वामिभक्तिव्रतम्। (निरूप्य) अयं देवः। यावदुपसर्पामि। (उपसृत्य) जयतु जयतु देवः। देव, क्षम्यतां यन्मयाऽनिवेद्य कृतम्।

राजा—यौगन्धरायण, कथय किमनिवेद्य कृतम्।

देव्या इति—यदा देव्या मद्वचनात् पत्युः वियोगः अभ्युपगत तदा मया सा देवस्य कलत्रसंघटनया दुःख स्थापिता। प्रभोः अय जगत्स्वामित्वलाभः तस्याः प्रीतिं करिष्यति (इति) सत्यं तथा अपि लज्जया वदनं दर्शयितुं नो शक्नोमि इत्यन्वयः। यदा देव्या वासवदत्तया मम वचनादिति मद्वचनात्पत्युर्भर्तुर्वियोग विरहोऽभ्युपगतः स्वीकृतस्तदा मया सा देवी वासवदत्ता देवस्य राज्ञ उदयन

वासव०—(आंसू भरकर दोनों भुजायें फैलाकर) आ, आ। अति निष्ठुर, अब तो स्नेह दिखला दे। (गले लगती है।)

(रत्नावली लड़खड़ाने का नाट्य करती है)

वासव०—(एक ओर को होकर) आर्यपुत्र, मैं अपनी इस क्रूरता से लज्जित हूं। इसलिये इसका बन्धन हटा दो।

राजा—(सन्तोष के साथ) जैसा देवी कहें। (वैसा करता है)

वासव०—आर्यपुत्र, मन्त्री यौगन्धरायण ने मुझे इतने समय तक दुर्जय बनाये रक्खा, जिसने जानते हुये भी नहीं बतलाया।

(तब यौगन्धरायण प्रवेश करता है)

यौगन्धरायण—

मेरे कहने से जब देवी (वासवदत्ता) ने पति का वियोग स्वीकार किया, तब मैंने देव का दूसरी स्त्री से सम्बन्ध करके उसे (देवी को) दुःख (ही) दिया। (यह) सच (है) कि प्रभु का यह जगत का स्वामी होने का लाभ (देवी को) सन्तोष देगा, फिर भी लज्जा के कारण मैं अपना मुख नहीं दिखा सकूंगा।।२०।।

(क्षण भर सोचकर) अथवा क्या किया जाय। (यह) स्वामिभक्ति का व्रत (ही) ऐसा (है) जिसमे अत्यन्त माननीय जनो के प्रति भी रूखा व्यवहार करना पड़ता है। (देखकर) यह महाराज (हैं)। तो अब समीप जाऊं। (समीप जाकर) जय हो, महाराज की जय हो। महाराज, जो मैने देव से बिना निवेदन किये कर दिया है, (उसे) क्षमा करें।

राजा—यौगन्धरायण, कहो, क्या बिना बतलाये कर दिया है ?

कलत्रेणाऽपरया पत्न्या सघटनया संयोगेन हेतुना दुःख यथा स्यात्तथा स्थापित कंप प्रापितेत्यर्थः। प्रभो. स्वामिनोऽस्य कलत्रसम्बन्धेन प्राप्तो जगतो लोकस्य स्वामित्वमाधिपत्य तस्य लाभः प्राप्तिस्तस्या देव्या वासवदत्तायाः प्रीतिमानन्द करिष्यतीति सत्यं तथापि लज्जया वदनं मुख दर्शयितुं न शक्नोमि ।।२०।।

निरनुरोधेति—निर्गतोऽनुरोधो यस्याः सा निरनुरोधा निरपेक्षा वृत्तिर्व्यवहारी यस्मिस्तत्। स्वामिभक्तीति—स्वामिनो भक्तिरेव व्रतम्

यौगन्ध०—करोत्वासनपरिग्रहं देवः। सर्वं विज्ञापयामि।

(सर्वे यथास्थानमुपविशन्ति)

यौगन्ध०—(कृताञ्जलिः) देव श्रूयताम्। येयं सिंहलेश्वरस्य दुहिता सा सिद्धेनाऽऽदिष्टा यथा—योऽस्याः पाणिं ग्रहीष्यति स सार्वभौमो राजा भविष्यति। ततस्तत्प्रत्ययादस्माभिः स्वामिनोऽर्थे बहुशः प्रार्थ्यमानेनापि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेदं परिहरता यदा न दत्ता—

राजा—तदा किम्।

यौगन्ध०—तदा लावाणके वह्निना देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहितः।

राजा—ततः परं श्रुतं मया। अथेयं देवीहस्ते किमनुचिन्त्य स्थापिता।

विदूषकः—भो अणाचक्खिदं वि एदं जाणीअदि एव्व जधा अन्तेउरगदा सुहेण दे दंसणपधं गमिस्सदि त्ति। [भोः अनाख्यातमप्येतज्ज्ञायत एव यथान्तःपुरगता सुखेन ते दर्शनपथं गमिष्यतीति।]

राजा—(विहस्य) यौगन्धरायण, गृहीतस्तेऽभिप्रायो वसन्तकेन।

यौगन्ध०—यदाज्ञापयति देवः।

राजा—ऐन्द्रजालिकवृत्तान्तोऽपि मन्ये त्वत्प्रयोग एव।

यौगन्ध०—देव, एवम्। अन्यथाऽन्तःपुरे बद्धाया अस्याः कुतो देवेन दर्शनम्। अदृष्टायाश्च वसुभूतिना कुतः परिज्ञानम्। (विहस्य) परिज्ञातायाश्च भगिन्याः संप्रति यथा करणीयं तत्र देवी प्रमाणम्।

वासव०—(सस्मितम्) अज्ज, फुडं एव्व किं ण भणासि जधा पडिवादेहि से रअणावलीं त्ति। [आर्य, स्फुटमेव किं न भणसि यथा प्रतिपादयास्मै रत्नावलीमिति।]

विदूषकः—भोदि सुट्ठु तुए जाणिदो अमच्चस्स अभिप्पाओ [भवति, सुष्ठु त्वया ज्ञातोऽमात्यस्याभिप्रायः।]

यौगन्धरायण—देव आसन ग्रहण करें। मैं सब बतलाता हूं।

(सब यथायोग्य स्थान पर बैठते है)

यौगन्धरायण—(हाथ जोड़कर) महाराज, सुनिये। इस सिंहल के अधिपति की पुत्री के विषय में सिद्धों ने कहा था कि जो इसका पाणि-ग्रहण करेगा वह चक्रवर्ती राजा होगा। तब उस (सिद्ध के वचन) के विश्वास से हमारे द्वारा स्वामी के लिये अनेक बार याचना किये जाते हुए भी देवी वासवदत्ता के चित्त के खेद को बचाते हुए, सिंहल के अधिपति ने जब (वह) न दी—

राजा—तब क्या (हुआ) ?

यौगन्धरायण—तब लावाणक में लगी आग से देवी जल गई, यह अफवाह उड़ाकर उसके समीप बाभ्रव्य भेजा।

राजा—उसके बाद की बात मैंने सुन ली है। लेकिन इसे देवी के हाथ में क्या सोचकर रक्खा ?

विदूषक—अरे, यह तो बिना कहे भी समझा जा सकता है कि अन्त:पुर में गई हुई यह आसानी से तुम्हारे दृष्टिपथ में आ जायेगी।

राजा—(हंसकर) यौगन्धरायण, वसन्तक ने तुम्हारा अभिप्राय समझ लिया।

यौगन्धरायण—जो महाराज कह रहे हैं, (ठीक है)।

राजा—मैं समझता हूँ कि ऐन्द्रजालिक की घटना भी तुम्हारा ही प्रयोग था।

यौगन्धरायण—देव ऐसा (ही है)। नहीं तो, अन्तःपुर में बन्धी हुई इसका देव को कहाँ से दर्शन होता ? और बिना देखी हुई को वसुभूति कहाँ से पहचानता ? (हंसकर) अब पहचान ली गई बहिन के प्रति जैसा करना हो, उसमें देवी को अधिकार है।

वासव०—(मुस्कराहट के साथ) आर्य, स्पष्ट ही क्यों नहीं कहते कि रत्नावली को इसे (महाराज को) दे दो।

विदूषक—आदरणीय, आपने मन्त्री का अभिप्राय ठीक समझ लिया।

वासव०—(हस्तं प्रसार्य) एहि रअणावलि, एहि, एत्तिअं वि दाव मे बहिणिआणुरूवं भोदु। (इति रत्नावलीं स्वकीयैराभरणैरलङ्कृत्य हस्ते गृहीत्वा राजानमुपसृत्य।) अज्जउत्त, पडिच्छ एदं। [एहि, रत्नावलि एहि। एतावदपि तावन्मे भगिनिकानुरूपं भवतु। आर्यपुत्र, प्रतीच्छैनाम्।]

राजा—(सपरितोषं हस्तौ प्रसार्य) को देव्याः प्रसादो न बहु मन्यते।

वासव०—अज्जउत्त, दूरे क्खु एदाए णादिकुलं। ता तधा करेहि जधा बन्धुजणं ण सुमरेदि। (इति समर्पयति)। [आर्यपुत्र, दूरे खल्वेतस्या ज्ञातिकुलम्। तत्तथा कुरु यथा बन्धुजनं न स्मरति।]

राजा—यथाऽऽज्ञापयति देवी। (रत्नावलीं गृह्णाति)।

विदूषक—(नृत्यन्) ही ही भो पुहवी क्खु दाणिं हत्थगदा पिअवअस्सस्स। [ही ही भोः पृथ्वी खल्विदानीं हस्तगता प्रियवयस्यस्य।]

वसु०—आयुष्मति, स्थाने देवीशब्दमुद्वहसि।

यौगन्ध०—इदानीं सफलपरिश्रमोऽस्मि संवृत्तः। देव, तदुच्यतां किं ते भूयः प्रियं करोमि।

राजा—किमतः परमपि प्रियमस्ति। यतः।

नीतो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले
सारं सागरिका ससागरमही प्राप्त्येकहेतुः प्रिया।
देवी प्रीतिमुपागता च भगिनीलाभाज्जिताः कोसलाः
किं नास्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मै करोमि स्पृहाम्॥२१॥

नीत इति—विक्रमबाहुः आत्मसमतां नीतः, उर्वीतले सारं ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः इयं प्रिया सागरिका प्राप्ता। भगिनीलाभाद् देवी प्रीतिमुपागता, कोसलाः च जिताः। त्वयि अमात्यवृषभे सति किं नास्ति यस्मै स्पृहां करोमि। इत्यन्वयः। विक्रमबाहुः सिंहलेश्वरस्तत्कन्याया रत्नावल्याः पत्नीत्वेन स्वीकरणादात्मना समस्तस्य भावस्तामात्मसमतामात्मीयतां नीतः प्रापितः। उर्वीतले

वासवदत्ता—(हाथ फैलाकर) आओ, रत्नावली, आओ। इतना भर तो मेरा (आचरण बहिन के योग्य हो जाय। (रत्नावली को अपने आभूषणों से अलंकृत करके, हाथ पकड़कर राजा के समीप जाकर) आर्यपुत्र, इसे स्वीकार कीजिये।

राजा—(सन्तोष के साथ दोनों हाथ फैलाकर) देवी के किस अनुग्रह को बहुत नहीं समझा जाता ?

वासव०—आर्यपुत्र, इसका पीहर बहुत दूर है। इसलिये ऐसा कीजिये कि यह अपने बन्धु-जनों को याद न करे। (यह कहकर देती है)।

राजा—जैसे देवी आज्ञा दें। (रत्नावली को पकड़ता है)।

विदूषकः—(नाचता हुआ) आ हा हा ! अरे, अब तो पृथ्वी प्रिय मित्र के हाथ में आ गई।

वसुभूति—आयुष्मति, तुम उचित ही 'देवी' पद को धारण कर रही हो।

यौगन्धरायण—अब मैं सफल-परिश्रम हो गया हूं। महाराज, तब कहिये कि आपको और क्या प्रिय करूं ?

राजा—इससे अधिक प्रिय क्या है ? क्योंकि—

विक्रमबाहु अपने जैसा (आत्मीय) कर दिया, पृथ्वीतल की सारभूत, सागर समेत (सम्पूर्ण) पृथ्वी की प्राप्ति की एक मात्र कारणभूत यह प्रिया सागरिका पा ली, बहिन के मिल जाने से देवी (वासवदत्ता) सन्तुष्ट हो गई और कोसल-देश जीत लिया। तुम श्रेष्ठ मन्त्री के होने पर क्या (अभीष्ठ वस्तु) नहीं है, जिसकी मैं इच्छा करूं ? ॥२१॥

भूतले सारं रत्नं सागरैः सहितायाः मह्याः पृथिव्याः प्राप्तेर्लाभस्यैको मुख्यो हेतुः कारणमियं प्रिया सागरिका प्राप्ता। भगिन्याः सागरिकाद्यपरनाम्न्याः स्वसुः रत्नावल्या लाभात्प्राप्तेर्देवी वासवदत्ता प्रीतिं सन्तोषमुपागता। कोसलास्तदाख्यं जनपदं जिताः। त्वय्यमात्यवृषभे मन्त्रिश्रेष्ठे सति किमभीष्टं वस्तु मम नास्ति यस्मै स्पृहामभिलाषं करोमि ॥२१॥

तथापीदमस्तु

(भरतवाक्यम्)

उर्वीमुद्दामसस्या जनयतु विसृजन् वासवो वृष्टिमिष्टा-
मिष्टैस्त्रैविष्टपानां विदधतु विधिवत्प्रीणनं विप्रमुख्याः ।
आकल्पान्तं च भूयात्समुपचितसुखः संगमः सज्जनानां
निःशेषं यान्तु शान्तिं पिशुनजनगिरो दुर्जया वज्रलेपाः ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इत्यैन्द्रजालिको नाम चतुर्थोऽङ्कः ॥

इति श्रीहर्षदेवस्य कृतिः समाप्तेयं रत्नावली नाम नाटिका

—:o:—

उर्वीमिति—इष्टां वृष्टिं विसृजन् वासवः उर्वीम् उद्दामसस्यां जनयतु । विप्रमुख्याः इष्टैः त्रैविष्टपानां विधिवत्प्रीणनं विदधतु । समुपचितसुखः सज्जनानां संगमः आकल्पान्तं भूयात् । दुर्जयाः वज्रलेपाः पिशुनजनगिरः निःशेषं शान्तिं यान्तु । इत्यन्वयः ॥ इष्टामभिलषितां वृष्टिं वर्षां विसृजन् मुञ्चन् वासव इन्द्र उर्वीं पृथिवीमुद्दामं प्रभूतं सस्यं धान्यं यस्यां तां जनयतु करोतु । विप्रेषु द्विजेषु मुख्याः श्रेष्ठा इष्टैर्यज्ञैस्त्रैविष्टपानां तृतीयं विष्टपं त्रिविष्टपं स्वर्गस्तत्र भवास्त्रै-

फिर भी यह हो जाय—

(भरतवाक्य)

अभिलषित वर्षा करता इन्द्र पृथ्वी को समृद्ध धान्य वाली बनावे। श्रेष्ठ ब्राह्मण विधिपूर्वक यज्ञों द्वारा देवों को प्रसन्न करें, सुख की वृद्धि करने वाला सज्जनों का समागम प्रलय काल पर्यन्त बना रहे। दुर्जेय और वज्र के समान चुभने वाले दुर्जनों के वचन पूर्णरूप से शान्ति को प्राप्त होवें ॥२२॥

(सब निकल जाते हैं)

॥ ऐन्द्रजालिक नाम का चतुर्थ अङ्क समाप्त ॥

श्रीहर्षदेव विरचित यह रत्नावली नाम की नाटिका समाप्त हुई।

—:o:—

विष्टपा देवास्तेषां विधिवत्प्रीणनं प्रीतिं विदधतु कुर्वन्तु। समुपचितं वृद्धिं प्राप्तं सुखं यस्मात्स सज्जनानां सङ्गमः सङ्गतिराकल्पान्तं प्रलयपर्यन्तं भूयाद् भवतु। दुर्जेया जेतुमशक्या वज्रलेपा वज्रस्येव लेपः प्रसक्तिर्यासां ताः पिशुनजनानां खलानां गिरो वाचो निःशेषं पूर्णं यथा स्यात्तथा शान्तिं यान्तु नश्यन्तु ॥२२॥

* इति रत्नावलीटीकायां चतुर्थोऽङ्कः *

* रत्नावलीनाटिकास्थश्लोकानां वर्णानुक्रमसूची *

—:०:—

रत्नावलीनाटिकास्थ-सुभाषितानि

श्रीहर्षदेवविरचित रत्नावली नाटिका

व्याकरण, छन्द, अलङ्कार और नाट्यशास्त्रीय विशेषता निर्देश सहित समीक्षात्मक तथा व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ

अङ्क १

पृष्ठ २

संस्कृत के नाट्य ग्रन्थ प्रायः देव आदि की पूजा नमस्कार अथवा आशीर्वाद रूप मङ्गल-श्लोकों से प्रारम्भ होते है। इन मङ्गल-श्लोकों को पारिभाषिक शब्दों में नान्दी कहते है। किन्हीं-किन्ही नाट्य-शास्त्रियों के अनुसार नान्दी में प्रकृत नाटक की कथावस्तु, पात्र अथवा घटना का संकेत भी होता है। जैसा कि कहा गया है—

'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीना तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥
माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी ।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥'

(साहित्य दर्पण ६, २४, २५)

'आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोकः काव्यार्थसूचकः ।
नान्दीति कथ्यते तस्या पदादिनियमोऽपि वा ॥'

(भरत नाट्य-शास्त्र)

नान्दी ८ या १२ पदों की होनी चाहिये। लेकिन व्याख्याकारों ने 'पद' की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। कही सुबन्तो और तिङन्तों को पद माना गया है, कही पद्य के चतुर्थांश को पद कहा गया है और कहीं एक अवान्तर वाक्य (clause) पद कहा गया है। नान्दी प्रायः १ से लेकर ४ श्लोकों तक की होती है। नाटककारो ने प्रायः पदों की सख्या के विषय में नियम का पालन नहीं किया है।

रत्नावली—की नान्दी में ४ श्लोक हैं। किन्हीं-किन्ही हस्तलिखित तथा मुद्रित पुस्तकों में 'संप्राप्तं मकरध्वजेन…' इत्यादि एक और अधिक श्लोक

पाया जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत नाटिका में नान्दी १६ या २० पदों की है।

श्लोक (१) पादाग्रस्थितया—पैरों के अग्रभाग अर्थात् पंजों पर खड़ी हुई, ('गिरिजया' का विशेषण) पार्वती शिव की पूजा में उसके सिर पर पुष्पाञ्जलि रखना चाहती थी, इसलिये वह शिव के उन्नत सिर तक पुष्प पहुँचाने के लिये पंजों पर खड़ी थी। स्तनभरेणानीतया नम्रताम्—स्तनों के भार से बार बार झुकाई गई, ('गिरिजया' का विशेषण)। संस्कृत साहित्य और भारतीय मूर्तिकला में स्तन-भार से झुकी स्त्रियों का चित्रण लोकप्रिय विषय रहा है। देखिये, '..........स्तोकनम्रास्तनाभ्याम्।' मेघ० २, २२, 'इमां तटाशोकलता च तन्वीं स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम्।' रघु० सर्ग १३। शम्भो सस्पृहलोचन० यान्त्या—शिव द्वारा साभिलाष तीनों नेत्रों से देखी जाती हुई, ('गिरिजया' का विशेषण)। समास के लिये संस्कृत टीका देखिये। लोचनत्रयस्य पन्थाः लोचनत्रयपथः। तत्पुरुष समास के अन्त में पथिन् शब्द समासान्त 'अ' प्रत्यय जुड़ने पर 'पथ' हो जाता है। देखिये पाणिनि, ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे ५/४/१४। पार्वती पंजों पर खड़ी होकर शिव के सिर तक पुष्पाञ्जलि रखने का बार-बार प्रयत्न कर रही थी, लेकिन स्तन-भार उसे बार-बार नीचे झुका देता था, इससे पार्वती की ओर शिव का ध्यान आकृष्ट हुआ और पार्वती को साभिलाष नेत्रों से देखने लगा। समान भाव के लिये देखिये—हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः। उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥ कुमार० ३/६७/ तदाराधने—उसकी अर्थात् शिव की पूजा के समय। हिमालय ने नारद के कहने पर अपनी पुत्री पार्वती को शिव को प्रसन्न करने के लिये उसके पास भेजा था, जिससे कि पार्वती की सेवा से प्रसन्न होकर शिव हिमालय से पार्वती की याचना करे। देखिये, कुमार० १/५०-६०। ह्रीमत्या—ह्रीः अस्या विद्यते सा ह्रीमती तया। ह्री+मतुप्। लज्जित हुई, ('गिरिजया' का विशेषण)। शिव ने पार्वती को सस्पृह नेत्रों से देखा, इससे वह लजा गई। सपुलक०—रोमाञ्च,

स्वेद और कम्पन से युक्त, ('गिरिजया' का विशेषण)। शिव के सस्पृह नेत्रों से देखने पर पार्वती में भी भाव जगा और उसकी अभिव्यक्ति स्वरूप उसे अनायास रोमाञ्च, स्वेद और कम्पन हो उठा। किसी भाव की प्रतिक्रिया में होने वाले विकारों को साहित्यशास्त्र में अनुभाव कहा गया है क्योंकि इन विकारों से अन्तःस्थित भाव प्रकट होता है। लेकिन स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैतर्ण्य, अश्रु और प्रलय ये आठ अनुभाव होते हुए भी सात्विक भाव कहलाते हैं, क्योंकि ये 'सत्त्व' से उत्पन्न होते हैं। देखिये, 'विकाराः सत्त्वसंभूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः'। सा द० ३/१३४ और आगे। शिरसीहितः—सिर पर रखने लिये चाहा गया, ('कुसुमाञ्जलिः' का विशेषण) संस्कृत मे अञ्जलि' शब्द पुलिङ्ग में होता है, इसलिये 'ईहितः' पुंल्लिंग है। अञ्जलिः—दोनों हाथों को जोडने पर जो अन्तर्भाग बनता है, उसे अञ्जलि कहते हैं, परन्तु लक्षणा से अञ्जलि में आ सकने वाली वस्तु को भी अञ्जलि कहा जाता है। इसलिये यहाँ कुसुमा० से अभिप्राय 'अञ्जलि-भर पुष्प' है। वः—'युष्मद्' का द्वितीया विभक्ति बहुवचन का रूप। निगुडकर शास्त्री ने वः' का अर्थ 'युष्मानस्मानन्यांश्च' अर्थात् 'हम तुम और अन्य सबको' किया है और 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' के अनुसार एक शेष माना है।

इस श्लोक में शृङ्गार रस की व्यञ्जना हुई है शिव और पार्वती आलम्बन विभाव हैं, रति स्थायिभाव है, जो कि शिव के 'सस्पृहलोचनत्व' और पार्वती के 'सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पत्व' रूप अनुभावों से प्रकट होता है, पार्वती का 'ह्रीमती' होना संचारिभाव है।

'कुसुमाञ्जलि' के बीच मे ही विशीर्ण होने में, 'पादाग्रस्थितया' 'स्तनभरेणानीतया नम्रतां' 'ह्रीमत्या आदि पदों को हेतु रूप मे उपस्थापित किया गया है, इसलिये यहां 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है, लक्षण—हेतोर्वाक्य-पदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्। शार्दूलविक्रीडित छन्द।

श्लोक २—यह श्लोक भी नान्दी है। इसमे विवाहोपरान्त शिव-पार्वती के प्रथम मिलन का दृश्य अङ्कित किया गया है।

औत्सुक्येन—उत्सुकस्य भाव औत्सुक्यं तेन। उत्सुक+ष्यञ् (य) भावार्थक तद्धित प्रत्यय। हेतु में तृतीया विभक्ति। सहभुवा—सह भवतीति सहभूः सहज। सह+√भू+क्विप्, कर्त्ता के अर्थ में कृत्प्रत्यय। 'ह्रिया' का विशेषण। व्यावर्तमाना—वि+आ+√वृत्+शानच्, लौटती हुई, ('गौरी' का वि०)। पाठान्तर—व्यावर्त्यमाना, (लज्जा से) लौटाई जाती हुई, व्या+वृत्+णिच् +शानच्। ह्रिया—हेतु में तृतीया। तैस्तैः—उन प्रसिद्ध बार-बार कहे गये 'वचनैः', से सम्बद्ध। वीप्सा और आमीत्य अर्थ प्रकट करने के लिये पदो का दो बार उच्चारण किया जाता है। यहाँ 'तैः' का द्विरुच्चारण पौन.पुन्य अर्थ में हुआ है। बन्धुवधू०—यह समास दो प्रकार से खोला जा सकता है, (१) बन्धूना या वध्वस्तासा जनः समूहस्तस्य, सम्बन्धियों की स्त्रियों के समूह के, (ब) बन्धुयों वधूजनतस्यः, प्रिय सम्बोजन के। अभिमुख्यम्—अभिमुखस्य भाव, सामने (ले जाई गई)। अभिमुख+ष्यञ् (य) भावार्थक तद्धित प्रत्यय। वरः—वृणोतीति वरः, पति। √वृ+अच्, कर्ताकारण के अर्थ में पचादिगण होने से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ३/१/१३४ सूत्र के अनुसार अच् (अ) कृत्प्रत्यय। आत्तसाध्वस०—आत्त=आ+√दा+क्त, अजन्त उपसर्ग से परे दा धातु के स्थान पर 'त' हो जाता है। देखिये, अष्टाध्यायी, अच उपसर्गात्तः ७/४/४७। इस समास को दो प्रकार से खोला जा सकता है— (१) आत्ती साध्वसरसौ यया सा भय और आनन्द से युक्त, (२) आत्तः साध्वसमेव रसो यया सा, भय रूप अनुभव को धारण करने वाली। दूसरे विग्रह में 'रस' का अर्थ 'अनुभव' होगा। हमने पहला अर्थ ही उचित समझा है। संरोहत्पुलका— जिसके रोमाञ्च उठे हैं।' यहाँ शिव को सामने देखकर पार्वती मे उदित भय और हर्ष के भाव के फलस्वरूप उत्पन्न हुए रोमाञ्च का वर्णन किया गया। हसता—शिव के हास का कारण प्रथम मिलन में पार्वती की उत्सुकता, लज्जा, भय एवं हर्ष से उत्पन्न विचित्र दशा थी।

साहित्य-शास्त्र में रस, स्थायीभाव तथा संचारिभावों को वाचक पदों से कहना दोष माना गया है। लेकिन जब अनुभावों से संचारिभावों की स्पष्ट

प्रतीति न हो तो वाचक पदों से कहना भी दोष नहीं होता। काव्यप्रकाश (उल्लास ७, कारिका १५) में यह श्लोक इसका उदाहरण दिया गया है। इस श्लोक में स्वभावोक्ति अलङ्कार है, क्योंकि नवोढा की चेष्टाओं का यथार्थ सुन्दर वर्णन हुआ है, लक्षण—स्वाभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्। शार्दूलविक्रीडित छन्द।

(पृ०४)—किन्हीं हस्तलिखित तथा मुद्रित पुस्तकों में 'संप्राप्तं मकर……' इत्यादि श्लोक अधिक पाया जाता है, लेकिन यह प्रक्षिप्त जान पड़ता है। फिर भी इसका अनुवाद कर दिया गया है। इस श्लोक में श्लिष्ट पदों द्वारा एक साथ शिव और विष्णु के प्रति सपत्नी-डाह से कहे गये रोष-वचनों को कहने वाली पार्वती और लक्ष्मी के चण्ड रूप का वर्णन करके उनसे रक्षा की कामना की गई है। मकर०—(१) कामदेव, कामदेव मकरकेतन, झषकेतन, मकरध्वज आदि नामों से प्रसिद्ध है, क्योंकि उसके ध्वज पर मीन का आकार बना माना जाता है। (२) समुद्र, क्योंकि समुद्र में मकर आदि प्राणी हैं। मथनम्—(१) नाश: शिव ने कामदेव को जला दिया था, देखिये कुमार० सर्ग ३, (२) मन्थन, देव और दानवों ने मन्दराचल को मन्थनदण्ड और वासुकि नाग को रस्सी (नेति) बनाकर क्षीर सागर को मथकर १४ रत्न निकाले थे, जिनमें से एक लक्ष्मी थी।

तद् युक्तम्—तब क्या उचित है? अर्थात् उचित नहीं है। यहाँ 'युक्तम्' में काकु है। बहुमार्गगाम्—(१) अनेक मार्गों से चलने वाली कहा जाता है कि गङ्गा स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल तीनों लोकों में बहती है इसलिए गंगा का एक नाम त्रिपथगा भी है। विश्वास किया जाता है कि गङ्गा शिव की जटाओं से निकली थी, इसलिये संस्कृत काव्यों में गङ्गा को पार्वती की सपत्नी के रूप में भी चित्रित किया गया है। देखिये, मुद्रा० १/१। (२) अनेकों के मार्ग पर जाने वाले अर्थात् कुलटा, यहाँ कदाचित् कुब्जा का संकेत है, जो मथुरा में कृष्ण के स्पर्श से परम सुन्दरी हो गई थी। वोढुम्—√वह+तुमुन्; धारण करना। पाठान्तर–वोढुः' वोढु का षष्ठी ए० व० का रूप धारण करने वाले का। तामेव…कण्ठग्रहम्—इस पङ्क्ति में सभङ्ग श्लेष है। (१) शिवपक्ष

में स्वभावकुटिलां तामेव अनुनय, हे कृष्णकण्ठ ग्रहं मुञ्च; स्वभाव से कुटिल उस गंगा को प्रसन्न करो, हे नील कण्ठ वाले (मेरा) आलिङ्गन छोड़ दो। नदी का मार्ग टेढ़ा-मेढा होता है, इसलिये गंगा को 'स्वभावकुटिला' कहा गया है, शिव को प्राय: 'नीलकण्ठ' कहा जाता है, परन्तु यहाँ श्लेष के लिये कृष्णकण्ठ कहा गया है (२) विष्णु पक्ष में—भावकुटिलां तामेव अनुनयस्व, हे कृष्ण, (मे) कण्ठग्रह मुञ्च; भाव (प्रेम) में कुटिल अर्थात् कृत्रिम प्रेम वाली उस (कुब्ज) को ही प्रसन्न करो; हे कृष्ण (विष्णु का अवतार) मेरा कण्ठ ग्रहण छोड़ दो।

इस श्लोक में श्लेष अलङ्कार है; लक्षण—श्लिष्टै पदैरनेकार्थाभिधानं श्लेष इष्यते। शार्दूलविक्रीडित छन्द।

श्लोक ३—इस श्लोक में पार्वती को दक्ष प्रजापति के यज्ञ-विध्वंस की घटना सुनाते हुये शिव का वर्णन किया गया है। कथा इस प्रकार है—दक्ष प्रजापति की पुत्री सती का शिव से विवाह हुआ था। एक बार दक्ष ने यज्ञ किया, लेकिन उसमें शिव और सती को निमन्त्रित नहीं किया, सती फिर भी पिता के घर चली गई। वहाँ अपमानित होने पर वह यज्ञ-कुण्ड में कूद कर नष्ट हो गई। जब शिव को इस बात का पता चला तो उसने अपनी जटा से बाल उखाड़ कर पृथ्वी पर पटका। उससे वीरभद्र उत्पन्न हुआ और उसने दक्ष के यज्ञ का पूर्ण ध्वंस कर दिया। एक अन्य आख्यान के अनुसार शिव स्वयं यज्ञ का नाश करने गया था और उसने मृग-रूप-धारी दक्ष का पिनाकी होकर पीछा किया था। मिलाइये, अभि० शा० १/६—मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम्। अयऽपि वह्नयः—तीनों यज्ञाग्नियां। तीन यज्ञाग्नि गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि हैं। वह्नि √वह् + नि उणादि प्रत्यय। अग्नि देवों के पास हवि ले जाता है, इसलिये उसे वह्नि ('ले जाने वाला') कहा जाता है ऋत्विजः—ऋतौ यजतीति, ऋत्विग् ऋतु अर्थात् नियत समय पर यज्ञ करने वाला, पुरोहित; ऋतु + √यज् + क्विप्। यज्ञ में चार प्रमुख होते थे—होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा। लेकिन बड़े यज्ञों में १६ पुरोहित बैठते थे क्योंकि प्रत्येक प्रमुख के तीन सहायक पुरोहित भी होते

थे। चपल०—(१) चञ्चल या (२) उत्पाती। गण—शिव के सेवकों का समूह, जिन्हें प्रमथ भी कहा जाता है और गणेश जिनका नायक है। समास के लिये टीका देखिये। उष्णीषपट्ट—दुपट्टा, सिर पर बाधने का वस्त्र (turban) मखमथन०—समास के लिये टीका देखिये। यहां 'विषये सप्तमी' है। आधार तीन प्रकार का माना जाता है—(१) औपश्लेषिक, जब क्रिया का आश्रय आधार का केवल एक भाग हो, जैसे कटे आस्ते (चटाई पर बैठा है), (२) वैषयिक, जब आधार क्रिया का वस्तुतः आश्रय नहीं होता, जैसे मोक्षे इच्छाऽस्ति (मोक्ष की इच्छा है), (३) अभिव्यापक, जब क्रिया आधार के सब भागों में व्याप्त होती है, जैसे तिलेषु तैलम् (तिलों में तेल)। आत्तहासः —'आत्त' की व्युत्पत्ति देखिये ऊपर श्लोक २। पाठान्तर–अट्टहासः, अट्टो हासो यस्य सः, प्रचण्ड हास वाला, ज़ोर से हंसता हुआ ('शिव' का विशेषण)। करुणम्—क्रिया विशेषण, 'विलपति' क्रिया से सम्बद्ध। विद्रुतम्–वि + √द्रु + क्त, (भाव में क्त प्रत्यय), इसलिये कर्त्ता 'देवैः' में तृतीया विभक्ति। भाववाच्य में हमेशा नपुंसकलिङ्ग एकवचन का प्रयोग होता है।

इस श्लोक में रौद्र रस की व्यञ्जना हुई है। क्रोध स्थायिभाव है, गण आलम्बन विभाव है, पुरोहित आदि गत भय संचारिभाव है और उनका नीचे गिरना, दक्ष-पत्नी का विलाप तथा देवों का भागना आदि चेष्टायें अनुभाव हैं।

यहां वासवदत्ता के क्रोध और सागरिका के विलाप की ओर भी सकेत मिलता है, जिसका आगे कथावस्तु में समावेश हुआ है। इस प्रकार नान्दी का यह श्लोक वस्तु निर्देश भी करता है। अनुप्रास अलंकार, लक्षण—'अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।' स्रग्धरा छन्द।

(पृ० ६) श्लोक ४ यह श्लोक भी नान्दी का ही भाग है। जितमुडुपतिना–'जितम्' भाववाच्य मे प्रयुक्त हुआ है। मिलाइये, श्लोक ३ 'विद्रुतम्'। 'जितम्' का अर्थ है—'सर्वोत्कृष्ट रहा'। इसलिये नमस्कार अर्थ का भी उपलक्षण हो जाता है। द्विजवृषभा—उपमित समास। कर्मधारय-समास में वृषभ, पुङ्गव व्याघ्र आदि शब्द अन्त मे आने पर 'श्रेष्ठ' अर्थ के वाचक होते हैं—स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः। सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थ-

गोचराः । अमरकोश । नरेन्द्रचन्द्रः—समास 'द्विजवृषभाः' के समान । इसलिये 'राजाओं में श्रेष्ठ' अर्थ हुआ । उपमा अलङ्कार । पुष्पिताग्रा छन्द ।

नान्द्यन्ते—संस्कृत-नाटकों में नान्दी-श्लोकों के बाद 'नान्द्यते' अथवा 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' यह रङ्गमञ्च-निर्देश पाया जाता है । केवल भास के नाटक ही ऐसे हैं जिनमें 'नान्द्यन्ते' यह निर्देशक के पहले आता है और आशीर्वादात्मक अथवा पात्रों का संकेत करने वाला श्लोक बाद में आता है ।

सूत्रधार—सूत्रं प्रयोगानुष्ठानं धारयतीति सूत्रधारः । सूत्रधार वह प्रमुख नट होता था जो कि रूपक को रङ्गमञ्च पर दिखलाने का प्रबन्ध करता था, संस्कृत नाटकों में सूत्रधार अथवा पारिपार्श्विक केवल प्रस्तावना अथवा स्थापना में आता है । वह अभिनेय रचना और नाटककार का परिचय देता है और नटी अथवा मार्ष अथवा विदूषक के साथ वार्तालाप में ऐसा अवसर उपस्थित कर देता है जिससे मञ्च पर किसी मुख्य पात्र के प्रवेश की अथवा नाट्य सम्बन्धी किसी घटना की सूचना मिल जाती है । सूचयेद् वस्तु बीज वा मुख पात्रमथापि वा । दशरू० ३/३ । प्रस्तुत नाटिका में सूत्रधार के इन शब्दों में एष मे यवीयान् भ्राता गृहीतयौगन्धरायणभूमिकः प्राप्त एव' यौगन्धरायण के प्रवेश की सूचना हो जाती है ।

न प्रयोगतो दृष्टा—रङ्गमञ्च पर खेली जाती नहीं देखी । 'प्रयोग का अर्थ किसी नाट्य को 'रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करना' है । अपूर्ववस्तुरचनालङ्कृता—अपूर्वया वस्तुरचनयोऽलङ्कृता, कथा को नये प्रकार से बनाकर सजाई गई, 'रत्नावली नाटिका' का विशेषण । रत्नावली—नायिका का नाम, नायिका के नाम पर नाटिका का भी नाम । नाटिका—१८ प्रकार के उपरूपकों में एक, जिस में चार अङ्क कैशिकी वृत्ति और स्त्रीप्रायः पात्र होते हैं (देखो, भूमिका पृ०४४) नेपथ्य—वेष-विन्यास, प्रसाधन, नाट्यशाला में प्रसाधन करने का स्थान । रचना—प्रबन्ध, व्यवस्था । आवर्जितानि—आ + वृज् + णिच् + क्त । झुकाये, अभिमुख किये । सामाजिक—समाज रक्षति सामाजिकः समाज + टक् (इक) सहृदय, रसिक दर्शक अथवा पाठक, किसी काव्य का रसास्वादन करने के लिये एकत्र सभा का सदस्य ।

श्लोक ५—इस श्लोक में सामाजिकों को अभिनेय वस्तु की ओर अभिमुख करने के लिये कवि, नायक और नट आदि की प्रशंसा की गई है, इसलिये यह भारतीवृत्ति का 'प्ररोचना' नामक अङ्ग है।

हारि—हर्तुं शीलमस्य, √हृ+णिनि; हरने वाला, लुभाने वाला; सुन्दर। नाट्य—अवस्था का अनुकरण; अभिनय-कला। उपचय—उप+√चि+घ (अ); वृद्धि। हेतु के अर्थ में पञ्चमी।

अनुप्रास अलङ्कार। शार्दूलविक्रीडित छन्द।

पृ० ८. संगीतकम्—गीत, नृत्त और वाद्य (एक साथ मिले हुए, नृत्तं गीतं तथा वाद्य त्रयं सगीतमुच्यते)। आर्ये—नटी के लिये सम्बोधन; नाट्य में नटी और सूत्रधार को परस्पर 'आर्य' सम्बोधन करने का नियम है (देखो, सा० द० ५/१४७—वाच्यौ नटीसूत्रधारावार्यनाम्ना परस्परम्)। नियोगः—नियुज्यतेऽस्मिन् इति नियोगः; नि+√युज्+घञ् (अ); आज्ञा, आदेश। रत्नावली—यहाँ 'रत्नावली' का अभिप्राय 'रत्नावली नाटिका का प्रयोग' है। नेपथ्यम्—वेष। दत्ता—यहाँ 'दत्ता' का अभिप्राय 'वाग्दान में दे दी' है। अलम्—निषेधात्मक अव्यय। उद्वेगेन—उदासी से, अन्यमनस्कता से (साध्य नहीं है)। करण में तृतीया ('साध्यम्' इस अप्रयुक्त क्रिया का 'उद्वेग' करण है)।

श्लोक ६. द्वीपात्—द्विर्गता आपः इति द्वीपः; द्वि+अप्+अ (समासान्त प्रत्यय; अप् का 'अ' द्वि, अन्तर् और उपसर्ग के बाद 'ई' हो जाता है)। घटयति—मिला देता है; घट्+णिच्। अभीमुखीभूत—अभिगतं मुखस्य अभिमुखः (सामने मुख वाला, अनुकूल), अभिमुख+च्वि+भू+क्त, अनुकूल हुआ ('विधिः' का विश्लेषण)।

इस श्लोक में सागरिका, वसुभूति और बाभ्रव्य के समुद्र में डूबकर बचने और सागरिका के अन्तःपुर में आने का संकेत हुआ है, इसलिये अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार है। आर्या छन्द।

पृ० १०. नेपथ्ये—नेपथ्यगृह में, नाट्यशाला में पर्दे (जवनिका) के पीछे का स्थान जहाँ अभिनेता प्रसाधन करते है तथा मञ्च पर जाने के लिये

प्रतीक्षा करते हैं। भरतपुत्र—नट, नाट्य-कला का आदि आचार्य भरतमुनि माना जाता है, इसलिये नाट्य करने वाले को भी भरत कहा जाता है। अतः यहाँ, भरतपुत्र=नटपुत्र।

एवमेतत्—योगन्धरायण द्वारा जवनिका के पीछे से कहे गये इस वचन से सागरिका-समागम रूप 'बीज' का संकेत किया गया है, इसलिये यहाँ मुखसन्धि का अङ्ग 'उपक्षेप' है। योगन्धरायण—नाटिका के नायक वत्सराज उदयन का स्वामिभक्त मन्त्री (देखो, भूमिका पृ० ३०—३४)। गृहीत-योगन्धरायणः—गृहीता योगन्धरायणस्य भूमिका येन सः, योगन्धरायण का वेष बनाये। भूमिका=वेषान्तर, छद्मवेष, नाटक में किसी अभिनेता के लिये नियत किसी पात्र का चरित। नेपथ्यग्रहणाय-वेष धारण करने के लिये।

प्रस्तावना—(दे भूमिका पृ० ४१)। प्रस्तावना पाँच प्रकार की होती है (दे० सा० द० ६/३३)। योगन्धरायण सूत्रधार के 'द्वीपादन्यस्माद्' इत्यादि वचन को कहता हुआ प्रवेश करता है, इसलिये यहाँ प्रस्तावना का कथोद्घात नामक भेद है।

फलक--तहता प्रत्यागच्छना – लौटते हुए। तदवस्थायाः—सा अवस्था यस्या तस्याः, उस अवस्था वाली का। संभावनम्—सहायता करना, ध्यान देना। रत्नमालाचिह्नाया—रत्नमाला चिह्न यस्या तस्याः। मयापि·········युक्तमेवानुष्ठितम्—इस वचन द्वारा 'बीज' के 'न्यास' की सूचना मिलती है। सागरिका का अन्तःपुर में रखना ही रत्नावली नाटिका की 'बीज' है, क्योंकि इसी के आधार पर आगे नाटिका की वस्तु और व्यापार का विकास होता है। कञ्चुकी - संस्कृत नाटकों में एक पात्र। कञ्चुकी के राजा के अन्तःपुर में रहने वाले एक सामान्य वृद्ध ब्राह्मण के रूप में चित्रित किया जाता है। कोसलोच्छित्तये—कोसलानामुच्छित्तये, कोसल देश के नाश के लिये। यह कोसल दक्षिकोसल है, जो गगा के दक्षिण में आधुनिक बरार तक फैला हुआ था। उच्छित्ति-उत्+√छिद्+क्तिन् (ति) स्त्री०। रुमण्वत्—(दे० भूमिका पृ० ३१, ३५)। धृतिम्—(१) सन्तोष या (२) धैर्य।

श्लोक ७. प्रारम्भे कर्म में, उद्योग में। पु०भाववाचक संज्ञा। स्वेच्छाचारी—स्व+इच्छा+√चर्+णिनि (इन्)। यहाँ 'परिन्यास' नामक मुखसन्धि का अंग है। शालिनी छन्द।

(पृ० १२) कलकलः—कोलाहल। अभिहन्यमान०—अभिहन्यमानाः ये मृदवः मृदंगाः तैरनुगतः यत् संगीतं तेन मधुरः, पीटे जाते हुए मृदु ध्वनि वाले मृदङ्गों के साथ होने वाले संगीत के कारण मधुर। चर्चरी—(१) करतल ध्वनि या (२) करतल ध्वनि के साथ गाया गया गान विशेष। मदनमहमहीयांसम—मदनोत्सव में बढ़े हुए मह, (पुं०)=उत्सव, महीयस्=महत्=ईयसुन्। देव.—स्वामी, राजा। संस्कृत नाटकों में सेवकों तथा मन्त्रियों द्वारा राजा को देव सम्बोधन किये जाने का विधान है। (दे० सा० द० ६/१४४)।

श्लोक ८. यहाँ राजा उदयन को कामदेव के समान कहा गया है और दोनों के लिये श्लेषोक्ति द्वारा समान विशेषणों का प्रयोग किया गया है। विश्रान्त०—(१) विग्रह=युद्ध, शत्रुओं के अभाव से जिसकी युद्ध की कथा समाप्त हो गई है, (२) विग्रह—शरीर, शिव ने कामदेव के शरीर को भस्म कर दिया था। रतिमान्—(१) (प्रजा से) प्रेम करने वाला, (२) रति=कामदेव की पत्नी। जनस्य चित्ते वसन्—(१) प्रजा का प्रिय होने के कारण प्रजा के हृदय में रमा हुआ, (२) लोगों के चित्त में रहने वाला, इसीलिये कामदेव को मनसिज, मनोभ आदि कहा जाता है। वसन्तक—(१) वसन्तक=विदूषक का नाम, राजा उदयन का नर्मसचिव (दे०, भूमिका), (२) वसन्तक=वसन्त ऋतु जिसे कामदेव का सखा कहा जाता है (मि० कु० स० ३/२१)। निजमहो—निज—अपना (१) क्योंकि उसके राज्य में मनाया जाता था, (२) क्योंकि कामदेव की पूजा के लिये मनाया जाता था। अभ्युपैति=सामने आ रहा है, अभि+उप+√इण् (गतौ)।

यहाँ श्लेष और उत्प्रेक्षा अलंकारों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव होने से सङ्कर है। वर्ण-साम्य के कारण अनुप्रास अलंकार भी है। वसन्ततिलका छन्द।

'कार्यशेषम्—कार्यस्य शेषः तम्, बचा कार्य। यहाँ बचे कार्य से कदाचित् यौगन्धरायण द्वारा प्रयोजित ऐन्द्रजालिक के प्रयोग का अभिप्राय है।

विष्कम्भकः—(दे० भूमिका पृ० ४२), यदि विष्कम्भक मध्यम कोटि के पात्र से प्रयोजित होता है, जैसे कि यहाँ है, तो शुद्ध कहलाता है और यदि मध्यम और अधम पात्र प्रयोजित होता है तो मिश्र विष्कम्भक कहलाता है। यहाँ नाटिका के कथावस्तु से पहले की घटना की सूचना दी गई है।

प्रविशत्यासनस्थः—(पर्दा उठने पर) रङ्गमञ्च पर आसन पर बैठा हुआ दिखाई पड़ता है। विदूषकः—संस्कृत नाटकों में हास्य-जनक पात्र, जो प्रायः नायक की प्रणय-चेष्टाओं में सहायक चित्रित किया गया है। इसकी भाषा प्राकृत होती है।

श्लोक ९—इस श्लोक से नायक का धीर ललित होना सूचित होता है। उपसर्ग—उपद्रव, मुसीबत। कामम्—चाहे जितना भले ही। नाम्ना—नाम से, 'मदन-उत्सव' में अपने नाम के अक्षरों का सादृश्य होने से। सचमुच नायक का उत्सव है, इसकी स्थापना में 'राज्य निर्जितशत्रु' आदि पदों का हेतु रूप में रखा गया है, इसलिये काव्यलिङ्ग अलंकार। शार्दूलविक्रीडित छन्द।

(पृ० १४) शृंगक—पिचकारी। जलप्रहार—जलस्य प्रसाराः, जल-प्रक्षेप। मर्दल—मृदंग। उद्दाम—प्रचण्ड। चर्चरी—गीत विशेष। पटवास—सुगन्धित चूर्ण। सश्रीकताम्—शोभावत्ता, शोभा।

(पृ० १६) श्लोक १०—यहाँ कौशाम्बी नगरी के पीला दिखलाई देने के तीन कारण बतलाये हैं—(१) पिष्टातकोघ, (२) हेमालङ्कारभा, (३) अशोक-पुष्पों के शिरोभूषण। पिष्टातकौघैः—पटवास की राशि से। क्षोद—(पु०) चूर्ण। भा—कान्ति। कैङ्किरातैः—किङ्किरात (अशोक) के पुष्पों के बने। वेष—वस्त्र और आभूषण। शातकुम्भ—शातकुम्भ पर्वत में उत्पन्न, सुवर्ण एक-पीता—अधिकतर पीली, पीली-पीली।

कौशाम्बी के वैभव के उत्कर्ष का वर्णन होने के कारण 'उदात्त' अलंकार और शातकुम्भद्रवखचितत्व की पीतत्व के हेतु रूप में कल्पना करने के कारण 'उत्प्रेक्षा' अलंकार है। स्रग्धरा छन्द।

श्लोक ११. धारायन्त्र—ऐसा यन्त्र, जिससे धारायें निकलें, पिचकारी, फव्वारा। सतत—सम्+√तन्+क्त, ('सतत' भी इसी से बना है)। पूर—प्रवाह। प्लुत प्लावित, छाये हुए। सान्द्रविमर्द०—(प्रागण) जिसमें (पैरों

की) अत्यधिक रगड़ से (उत्पन्न) कीचड़ में क्रीडा की जा रही थी। प्रांगणे—बड़े आगन मे। उद्दाम—उत्कट; धृष्ट; उच्छृङ्खल। प्रमदा—मत्त स्त्री। सिन्दूरीक्रियते—सिन्दूर से रगा हुआ बनाया जा रहा है। कुट्टिमम्—फर्श. बद्ध-भूमि। इस श्लोक मे अनुप्रास अलकार और शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

सीत्कार—सी-सी-सी की ध्वनि। वारविलासिनी—वेश्या। विलसित—चेष्टा।

(पृ १८) श्लोक १२—सन्ध्या के समय चारो ओर चूर्ण उड़ने से अन्धकार हो रहा था, पिचकारी उठाये कामी जन मणि-जटित आभूषणों की चमक में कुछ-कुछ दिखलाई दे रहे थे। ऐसे दृश्य को देखकर राजा को पूर्व घटना याद आ जाती है, जब उदयन पाताल लोक मे गया था (दे० भूमिका पृ० २९), यहाँ भुजंग मे श्लेष है, जिसका अर्थ (१) कामी, विट और (२) सर्प दोनों होता है। प्रकीर्ण० मणि०, उद्यत, इन पदों को कामी और सर्प दोनो पक्ष में लगाया जा सकता है (दे० संस्कृत टीका)। उद्यत=उठा हुआ, या उठाया हुआ; उद्+√यम्+क्त। संस्मरयति—सम्+स्मृ+णिच्, स्मृ धातु घटादिगण में आती है, इसलिये 'स्मारयति' न होकर 'स्मरयति' रूप बनता है।

इस श्लोक मे श्लेष अलकार और वसन्ततिलका छन्द है।

मदन०—(क्रिया वि०) काम के वश में होने से लड़खड़ाते हुए। द्विपदी—प्राकृत भाषा का एक प्रकार का चार चरणो का गीत, जिसके प्रत्येक चरण मे १३ मात्रायें होती हैं। ०खण्ड—द्विपदी का भाग।

श्लोक १३. शिथिलित०—(दक्षिण पवन) जिसने मानिनी सुन्दरियों के प्रणय-कलह को दूर कर दिया है। मुकुलायित—मुकुलैरयिताः मुकुलायिताः, मुकुलों से मुक्त किये गये। मुकुल+√अय्+क्त। पाठान्तर मुकुलीकृताः, मुकुला एषां विद्यन्त इति कुमुलिनः, न मुकुलिन, अमुकुलिन, अमुकुलिनः मुकुलिन कृता इति मुकुलीकृताः।

श्लोक १४. बकुल—मौलसिरी का पेड़। मेलक—मेल, मिलन। प्रतिपालनासमर्थकः—('युवति०' का विशेषण) प्रतीक्षा करने में असमर्थ। यहाँ तथा पहले ०दूतक ०चूतक ०ग्रहणक ०अशोक ०मेलक मे स्वार्थ में 'क' प्रत्यय जुड़ा है। सार्थकः—सार्थ, समूह।

श्लोक १५—उद्दाम क्रीड़ा करती हुई दासियों के केश खुलने से पुष्पमालायें गिर पड़ी, नूपुर जोर से बजे और हार वक्ष पर लगे। इस पर कवि ने कल्पना की है कि मानो, उन्होंने ऐसा पीड़ा के कारण किया है, जैसे कोई व्याकुल वेदना के कारण सिर कचोटता है, क्रन्दन करता है और छाती पीटता है। स्रग्दाम—पुष्पमाला की लड़ी। केशपाशः—उत्तम केश; जूड़ा। क्षीव—मत्त। कम्पानुबन्ध—कम्पन की नैरन्तर्य। स्तन०—स्तनों के भार झुकते हुए मध्यभाग (कटि) के टूटने की चिन्ता नहीं है जिसमें इस प्रकार (क्रि० वि०)।

यहाँ केशों के शोभा त्याग, नूपुरों के क्रन्दन और हार के वक्षस्ताडन में पीड़ा की हेतु रूप में कल्पना की गई है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार। स्रग्धरा छन्द।

(पृ० २२) हताश—जिसकी आशायें नष्ट हो गई हैं; मूर्ख। चर्चरी—गीति विशेष। खण्डेन—खांड से; पेटू विदूषक 'द्विपदीखण्ड' में खण्ड का अर्थ खांड समझता है। अल ममैतेन—मुझे इससे (प्रयोजन) नहीं। अप्रयुक्त प्रयोजन के योग मे 'एतेन' में तृतीया। प्रपलाय्य भागकर; प्र+परा+—अय्+ल्यप्, अय् धातु के पहले 'प्र' और 'परा' उपसर्ग का रेफ लकार में बदल जाता है। हञ्जे—सम्बोधनवाचक अव्यय; नाटकों मे नीच स्त्री पात्र के लिये प्रयुक्त। दास्या पुत्रि—दासी की पुत्री। षष्ठी समास। निन्दा अर्थ में समास होने पर भी षष्ठी विभक्ति का लोप नहीं हुआ। स्वास्तिवाचनम्—स्वास्ति वाच्यतेऽनेन, स्वस्ति √ब्रू + णिच् + ल्युट्, वह दक्षिणा, जिसके लिये 'स्वस्ति' कहा जाये। प्राकृत के सोत्थिवाअणं की संस्कृत छाया 'स्वस्तिवायनम्' भी की गई है।

(पृ० २६) श्लोक १७—यहाँ वसन्त ऋतु में नव किसलयों, भ्रमरों की गुञ्जारों और वायु में झूमते हुए वृक्षों मे मद्यपान से मत्त पुरुष की उत्प्रेक्षा की गई है। मधुप्रसङ्ग—मधु शब्द में श्लेष है (१) मधोः प्रसंग वसन्त का संपर्क (२) मधुनः प्रसङ्ग, मद्य का संपर्क। उद्भिद्०—अङ्कुरित होते हुये प्रवाल की कान्ति के समान कान्ति वाले। ताम्रत्विषम्—लाल कान्ति को, मधु-पान से भी मुख पर लालिमा आ जाती है। कल—अव्यक्त मधुर। अविशदव्याहार—अस्पष्ट वचन। लीला—चेष्टा। घूर्णन्तः झूमते हुये। आहति—आ+√हन्+क्तिन् आघात। शोभा देते है। भ्रान्ति—पाठान्तर-

भ्रांति प्राप्य—तब अन्वय इस प्रकार होगा—मधुप्रसङ्गमधुना भ्रान्ति प्राप्य अमी द्रुमा मत्ता इव (दृश्यन्ते); वसन्त-सपक रूपी मद्य से उन्माद को प्राप्त करके यह वृक्ष मत्त से दिखलाई देते हैं।

इस श्लोक में श्लेष तथा उत्प्रेक्षा अलङ्कार और शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

श्लोक १८—इस श्लोक का वर्ण्य विषय संस्कृत कवि-सम्प्रदाय मे प्रचलित कुछ प्रसिद्धियों पर आधारित है। गण्डूषसेकासव—मुख में भर-भर कर सींचा गया आसव। पुष्पवृष्ट्या वासयते इव—मानों पुष्पों की वृष्टि द्वारा सुगन्धित किया जा रहा है। कवि-प्रसिद्धि है कि बकुल युवति द्वारा मुँह में भर कर सींचे गये मद्य से खिलता है। पादाहति—पैर से प्रहार। कवि-समय के अनुसार अशोक वृक्ष युवति के नूपुर बंधे चरण से विकसित होता है। सार्थ—समूह। उत्प्रेक्षा अलङ्कार। स्रग्धरा छन्द।

(पृ० २८) अनुहरन्ति—अनुकरण करते हैं, सदृश है। विभवत:—अधिकार के अनुसार। हञ्जे—उत्तम स्त्री पात्र की चेटी को 'हञ्जे' सम्बोधन करते हैं। आयास्यते–आ + √यस् + णिच् (कर्मवाच्य); दुखी किया जाता है।

(पृ० ३०) आत्मगतम्—मन मे; (दे० भूमिका पृ० ४३)।

(पृ० ३२) प्रद्युम्न—कामदेव। रतिविलाप से द्रवित शिव के प्रसाद से कामदेव ने कृष्ण की पत्नी रुक्मिणी के गर्भ मे प्रद्युम्न के रूप मे अवतार लिया था, इसलिये कामदेव-को प्रद्युम्न भी कहा जाता है।

श्लोक १९—यहाँ कामदेव के समीप स्थित वासवदत्ता में कामदेव की धनुर्यष्टि की उत्प्रेक्षा की गई है। कुसुम०—(१) वासवदत्ता के पक्ष मे—सुमन के समान कोमल शरीर वाली, (२) चापयष्टि—कुसुम ही जिसका कोमल शरीर है। नयमेन—(१) व्रतोपवास के कारण, (२) नियम से, निश्चित रूप से। मध्यम्—(१) कटि, (२) मध्यभाग।

कुङ्कुमचन्दस्थानकैं—केसर और चन्दन के लेपन से, पाठान्तर—०कुङ्कुमचर्चिकाशोभितम्, अपने हाथ से लगाये केसर के लेप से शोभित।

(पृ० ३४) श्लोक—२०—इस श्लोक में कामदेव-पूजन मे अशोक वृक्ष को चर्चित करती हुई देवी वासवदत्ता को नायक के मुख से लता सदृश कहलाया

है। प्रत्यग्र० और कौसुम्भ० दोनों पक्षों में लगेंगे। प्रत्यग्र०—(१) मद्यः स्नान (मज्जन) से अत्यधिक उज्ज्वल (विविक्त) कान्ति वाली, (२) नव सिञ्चन (मज्जन) से अत्यधिक स्वच्छ (विविक्त) कान्ति वाली। कौसुम्भ०—(१)—कुसुम्भ पुष्प के रङ्ग से सुन्दर चमकते हुए आँचल (अंशुक+अन्त) वाली, (२) कुसुम्भ-पुष्प की-सी लाली से सुन्दर और चमकती हुई किरणों से रमणीय (अंशु+कान्ता)। बालप्रवाल नव किसलयों वाले वृक्ष पर उगी हुई।

श्लेषानुप्राणित उपमा अलंकार। वसन्ततिलका छन्द।

(पृ० ३६) श्लोक २३—यहाँ सरोरुह० प्रीत्यु० उदयन और चन्द्रमा दोनों के समान विशेषण हैं। पादान् और उदयनस्य में श्लेष है। सरोरुहद्युति०—(१) कमलों की कान्ति को चुराने वाले अर्थात् कान्ति में कमलों के समान, (२) कमलों की कान्ति को नष्ट करने वाले, क्योंकि रात्रि में चन्द्रोदय होने पर कमल बन्द हो जाते हैं। पादान्—(१) चरणों को, (२) किरणों को। प्रीत्युत्कर्ष०—आनन्द का अतिशय करने वाले (उदयन और चन्द्र का विशेषण)। उदयनस्य—(१) नायक का नाम, अभ्युदयशील, (२) उदित हुए। यहाँ राजा उदयन की चन्द्र से तुलना सागरिका-प्राप्ति के हेतु भूत प्रथमानुराग रूप बीज के अनुकूल है, इसलिये 'विलोभन' नामक मुखसंधि का अङ्ग है और कुसुमायुध के व्याज से निगूढ़ वत्सराज प्रकट हो जाता है, इसलिये मुखसंधि का अङ्ग 'उद्भेद' भी है। श्लेषानुप्राणित उपमा और अनुप्रास अलंकार। शार्दूलविक्रीडित छन्द।

(पृ० ४०) श्लोक २५—विच्छायताम्—कान्तिहीन। शनकैः—अव्यय (=शनैः) धीरे-से, चुपके-से (क्रि० वि०)। यहाँ मुख से प्रसिद्ध उपमान 'शशी' और 'अब्ज' के अभिभव का कथन हुआ है, इसलिये प्रतीप अलङ्कार है। कमलों की ग्लानि का हेतु चन्द्रमा है, लेकिन यहाँ चन्द्रमा को तिरस्कृत करने वाले मुख को उनकी ग्लानि का हेतु कहा गया है, इसलिये 'हेतु' अलङ्कार है। कमलों की 'विच्छायता' और भ्रमरों की मुकुल में 'लीनता' में क्रमश- विनिर्जितत्व' और 'संजातलज्जत्व' की हेतु रूप में कल्पना की गई है, इसलिये उत्प्रेक्षा अलङ्कार भी हुआ। अङ्गाङ्गिभाव होने से प्रतीप और हेतु अलङ्कार का उत्प्रेक्षा से सङ्कर है।

द्वितीय अङ्क

(पृ० ४२) दोहद—गर्भिणी की अभिलाषा, अभिलषित वस्तु, अभिलाषा की पूर्ति, लता-पौधो पर पुष्प-फल उत्पन्न करने के लिए दिये जाने वाला द्रव्य (जो प्रायः सुगन्धित द्रव्य के धुएँ या खाद या टोने-टोटके के रूप मे होता है)। वर्तिका—कूंची (Planting bursh) या रग। समुद्रक—छोटी पेटी, डिब्बा।

प्रवेशक—(दे० भूमिका पृ० ४२ पा० टि० ३)। विष्कम्भक से प्रवेशक मे केवल इतना अन्तर है कि प्रवेशक नीच पात्र प्रयोजित है। प्रवेशक केवल दो अंको के मध्य मे ही आता है, इसलिये प्रथम अक के आदि मे प्रवेशक नही रक्खा जाता है।

(पृ० ४८) श्लोक १. परवश आत्मा—इसकी दो तरह से व्याख्या की जा सकती है। (१) आत्मा (शरीर) दूसरे (रानी के) अधीन है, (२) आत्मा (हृदय) पराधीन (अनुराग के वश) है। मरण शरणं न वरमेकम्—क्या मृत्यु ही उत्तम शरण नहीं है? नु वरम् पाठान्तर मे—नु=निश्चय से, निश्चय से केवल मृत्यु उत्तम शरण है। नवरम् पाठान्तर मे—नवरम्=(१) केवल या (२) सबसे उत्तम।

(पृ० ५०) श्लोक २. हेला—क्रीडा। चक्रवाल-(नपुं०) समूह। प्लवङ्गः-प्लवेन गच्छतीति प्लवङ्गः कूदकर चलने वाला, वानर। प्लव+√गम+खच् (अ) मन्दुराय:—घुड़साल से, अश्वशाला से। प्राचीन काल में अश्वशाला में वानर रखने की प्रथा थी, जिससे कि कुदृष्टि का दोष वानर पर ही पड़े। यहाँ भयानक रस और आरभटी वृत्ति का 'अवपात' अग है (दे० भूमिका पृ० ४८) स्वभावोक्ति अलंकार। स्रग्धरा छन्द।

श्लोक ३. नष्टम्—भाग गये, लुप्त हो गये, √नश्+क्त, भाववाच्य, (मि० पृ० १८५) 'विद्रुतम्'। पर्यन्त—सीमा, छोर। शनकैः—चुपके से। यहाँ भी पूर्ववर्ती श्लोक के समान भयानक रस, आरभटी वृत्ति का 'अवपात' अग, स्वभावोक्ति अलकार और स्रग्धरा छन्द है।

(पृ० ५४) श्लोक ४—इस श्लोक मे लता और गौरी के लिये समान

विशेषणों का प्रयोग किया गया है, (दे० टीका)। शुद्ध विशेषणों से राजा द्वारा सागरिका के चित्र-दर्शन से कामावस्था के पुष्ट होने की सूचना हो जाती है, इसलिये यहाँ 'पताकास्थानक' है। दे० दशरूपक—'प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम्। पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम्॥' श्लेष और उपमा अलङ्कार। शार्दूलविक्रीडित छन्द।

(पृ० ६६) श्लोक ९—इस श्लोक में भी श्लिष्ट विशेषणों का प्रयोग किया गया है (दे० टीका)। यहाँ राजा के हृदय में सागरिका के प्रति प्रणयानुराग का बीज सूचित किया गया है।

(पृ० ६८-७०) समालम्भनम्—अङ्गराग के साथ (चि० वि०)। निर्वर्ण्य—ध्यान से देखकर। भूमि—सीमा, हद, extent.

श्लोक १३. परिम्लानम्—परि+√म्लै+क्त, अत्यधिक मुरझाया हुआ। पीन—√प्याय्+क्त। तनौ—कृश, क्षीण (मध्यम का विशे०)। श्लथ—शिथिल। व्यासंग—चिपकना। चलन—चलना। शिखरिणी छन्द।

श्लोक १४. परिणाह—विस्तार, विशालता। मण्डल—वर्तुलाकार रेखा से घिरा हुआ स्थान, गोल घेरा। स्थापित—√स्था+णिच्+क्त।

(पृ० ७२) श्लोक १५. इतः—यहाँ से चार पुष्प कहे जाते हैं, इसलिये बहुवचन। चलितानि—चले या चलाये। √चल्+क्त या √चल्+णिच्+क्त, चल् धातु से णिच् प्रत्यय लगने पर भी वृद्धि नहीं होती है। ललाम—भूषण। ध्रुवम्—उत्प्रेक्षा व्यञ्जक अव्यय। उत्प्रेक्षा अलङ्कार। पृथ्वी छन्द यहाँ अन्तिम तीन चरणों में दसवें अक्षर पर विराम पदों के बीच में पड़ता है, इसलिये छन्द दोषपूर्ण है।

श्लोक १६—इस श्लोक में सागरिका और रत्नावली (रत्नमाला) को एक समान कहा गया है। प्रकटरागा और कम्रा विशेषण दोनों ओर लगेंगे (दे० टीका)। श्लेष और उपमा अलङ्कार का अङ्गाङ्गिभाव होने से सङ्कर। आर्या छन्द। 'निरोध' प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग।

(पृ० ८४) घुणाक्षरम्—घुण नामक कीड़े द्वारा लकड़ी को काटकर संयोगवश अक्षर के आकार की रेखा, इसलिये संयोगवश हो जाने वाली कोई घटना।

श्लोक २०. न घटते—ठीक नहीं है। काव्यलिङ्ग अलङ्कार। शिखरिणी छन्द। इस श्लोक में देवी के प्रसादन की चेष्टा की गई है, इसलिये यहाँ प्रतिमुखसन्धि का 'पर्युपासन' नामक अङ्ग है।

(पृष्ठ ८६) आभिजात्यात्—कुलीनता के कारण। हेतु में पञ्चमी।

श्लोक २१. भेदकारि—हृदयस्पर्शी, मार्मिक। प्रभुता—स्ववशता, आत्मसंयम, मनोरागों पर नियन्त्रण। करण में तृतीया। प्रश्रय—विनय, शिष्टाचार। यह श्लोक अयत्नज योषिदलङ्कारों में से 'औदार्य' नामक अलङ्कार का उदाहरण है। शार्दूल विक्रीडित छन्द।

तृतीय अङ्क

(पृष्ठ ८८) आकाशे—रङ्गमञ्च पर दूसरे पात्र के बिना ही जब एक पात्र स्वयं प्रश्नोत्तर द्वारा किसी घटना की सूचना देता है तो उसे आकाशभाषित कहते हैं और उस संवाद से पहले 'आकाशभाषितम्' या 'आकाशे' निर्देश लिखा रहता है (दे० भूमिका पृष्ठ ४३)। कोऽपि कालः—लम्बा समय हो गया। सोत्प्रासम्—(क्रि० वि०) व्यङ्ग्य के साथ। सन्धिविग्रह०—नीति शास्त्र में वर्णित ६ उपायों में से दो मुख्य सन्धि (शान्ति) और विग्रह (युद्ध) के विचार से। यौगन्धरायण—(दे० भूमिका पृ० ३१)।

(पृ० ९२) श्लोक २. दुर्लक्ष्यम् दुःखेन लक्ष्यत इति दुर्लक्ष्यम्, दुर् + √लक्ष् + ण्यत् (य), न दीखने वाला, सूक्ष्म। न्याय-शास्त्र के अनुसार मन अणुपरिमाण है। समम्—एक साथ। विभावना अलङ्कार। अनुष्टुप् छन्द।

श्लोक ३—यहाँ पर 'पञ्चत्व' शब्द में श्लेष है। (१) पाँच संख्या वाला होना। (२) मृत्यु। शार्दूलविक्रीडित छन्द।

(पृ० ९४) संरम्भ—वेग। लोचनगोचरगताम्—दृष्टिपथ में गई हुई ('सागरिकाम्' का विशेषण)।

श्लोक ४. ह्रिया—क्योंकि दासी दशा में उसका राजा के प्रति अनुराग अनुचित महत्वकाङ्क्षा थी। कलयति—समझती है। वैलक्ष्यम्—खिसियापन, लज्जा। हृदय०—मनोगत भय से व्याकुल। शिखरिणी छन्द।

(पृ० ९६) समीहिता०—अभिलषित से भी अधिक कार्य की सफलता से,

क्योंकि राजा सागरिका की कुशलता के लिये ही चिन्तित था, परन्तु विदूषक ने उसके मिलन का भी प्रबन्ध कर दिया था।

श्लोक ५—सूर्य के रथ में एक पहिया कहा जाता है अस्ताचल पर स्थित सूर्य, मानो, इसलिये चिन्तित है कि एक पहिये के रथ से वह अपार नभ को पार करके प्रातः उदयाचल पर कैसे पहुँचेगा। इसलिये वह दूसरा पहिया लगाने के लिये, मानो, दिक्चक्र (दिशा-समूह रूपी पहिया) को लिए जा रहा है। सन्ध्यामृष्टा०—समास (दे० टीका), 'दिक्चक्रम्' का विशेषण, सन्ध्याकाल में छिपने से बची हुई अपनी किरणों का समूह ही है चमकती हुई स्वर्ण के अरों की पङ्क्ति जिसकी। यहाँ सूर्य की किरणों को दिक्चक्र के अरों का स्थानी कहा गया है। पाठान्तर, ०हेमारपङ्क्तिः—अर्क का विशेषण। अन्य पाठान्तर, ०स्पष्ट०=सन्ध्या द्वारा नष्ट होने से बची हुई अपनी किरणों के समूह से छुई है स्वर्ण के अरों की पङ्क्ति जिसकी (ऐसा दिक्चक्र)। दिक्चक्रम्—दिशाओं का समूह, दिङ्मण्डल। चक्र=(१) पहिया, (२) मण्डल, समूह। उत्प्रेक्षा अलंकार। स्रग्धरा छन्द।

श्लोक ६—यहाँ अस्त होते हुए सूर्य कमलिनी को, जो प्रायः काव्यों में सूर्य की पत्नी कही जाती है, सान्त्वना देते हुए के रूप में वर्णन किया गया है। यहाँ नायक द्वारा नायिका को सान्त्वना देने का भी संकेत है, इसलिये [illegible]रूपक में यह श्लोक 'पताकास्थानक' का उदाहरण दिया गया है। दोनों अर्थों के लिये टीका और अनुवाद देखो। समयः—(१) काल, (२) प्रतिज्ञा। अस्त-मस्तक०—(१) अस्ताचल के शिखर पर रक्खी हैं किरण जिसकी (२) झुके हुए सिर पर रक्खा है हाथ जिसका। उत्प्रेक्षा और समासोक्ति अलंकार है। वसन्ततिलका छन्द।

(पृ० ११०) श्लोक ११. निर्वापय—निर+√वा+णिच् शान्त करो। 'शीतांशुमुखम्' और 'उत्पले दृशौ' में रूपक अलंकार। शार्दूलविक्रीडित छन्द।

मधुरवचनोपन्यासः—मीठे वचन कहना, (उपन्यास=कहना, प्रस्तुत करना, प्रसङ्ग।

(पृ० १११) श्लोक १२. प्रतिकर्तुम्—बदला लेने के लिये, मुकाबला करने

के लिये। उध्र्वंकरः—(१) ऊपर हैं किरणें जिसकी, (२) ऊपर हैं हाथ जिसके। सागरिका के मुख ने चन्द्रमा की सम्पूर्ण कान्ति चुरा ली है, इसलिये जैसे कोई चोर का मुकाबला करने के लिये ऊँचे स्थान पर चढ़कर और हाथ उठाकर खड़ा हो जाता है, वैसे ही, मानो चन्द्रमा भी बदला लेने के लिए उदयाचल के शिखर पर चढ़ गया है। श्लेषानुप्राणित उत्प्रेक्षा, रूपक और समासोक्ति अलंकार। आर्या छन्द।

श्लोक १३—यहाँ सागरिका के मुख के सामने प्रसिद्ध उपमान चन्द्रमा की निष्फलता का कथन किया गया है, इसलिये प्रतीत अलंकार है। शार्दूलविक्रीडित छन्द।

(पृ० ११८–१६, व्यलीक—(नपुं०) अपराध, दोष। लाक्षा—अलक्तक, पैरों और ओष्ठों के प्रसाधन में काम आने वाला कोई रञ्जक द्रव्य। उपराग—ग्रास ग्रहण, ग्रास। उन्नमय्य—उद् + √नम् + णिच् + ल्यप्, उठाकर।

श्लोक १५. प्रणयबहु०—(परस्पर) प्रेम के अत्यधिक आदर के कारण। हेतु में पञ्चमी। अनुदिनम्—(अव्ययीभाव समास), दिन-दिन। असहना—न सहते इति असहना न + √सह् + ल्यु (कर्त्ता अर्थ में)। अर्थान्तरन्यास अलंकार। शिखरिणी छन्द।

(पृ० ११८) वरम्—अच्छा, अनीप्ट में से अपेक्षाकृत प्रिय। उद्बध्य—उद् + √बन्ध् + ल्यप्, ऊपर बांधकर, लटककर, फांसी खाकर। परिभूता—तिरस्कृत। निरूप्यताम्—(भाववाच्य) देखा जाय, निश्चय किया जाय।

(पृ० १२०) साहस—सहसि भवं साहसम्, सहम् (=आवेग)=बल, जोश में किया गया, बिना सोचे किया गया। साहस०—अवमृश्यकारी। अकार्यम्—अनुचित कर्म।

श्लोक १८. कुटिलीकृत०—'वक्त्रे' का विशेषण। अकुटिले कुटिले कृते इति कुटिलीकृते भ्रुवौ यस्मिन् तत् कुटिलीकृतभ्रु। कुटिल + च्वि + √कृ + क्त। नपुंसकलिङ्ग 'वक्त्र' का विशेषण होने से 'भ्रू' को ह्रस्व होकर 'भ्रु' हो गया है। आबन्ध—बन्धन। जनिता—√जन + णिच् + क्त। अनुप्रास अलंकार। शार्दूलविक्रीडित छन्द।

चतुर्थ अङ्क

(पृ० १२८-३२) लज्जालुका–√लज्ज्+आलुच्+क (स्वार्थिक), लज्जाशील। अत्याहितम्—अति+आ+√धा+क्त, अनर्थ, महान संकट, प्राणसंशय। अतिनिघृणम्–अतिनिष्ठुर। प्रस्ताव—परिस्थिति, प्रसंग। परिच्छद—परि+√छद्+घ (करणे, आभूषण। सामान्य—समान+ष्यञ् (स्वार्थे), साधारण।

श्लोक १. सव्याजं-कपटपूर्ण ('शपथैः' का विशेषण)। चित्तानुवृत्त्या-(देवी के) मनोनुकूल आचरण से। प्रत्यापत्ति-प्रति+आ+√पद्+क्तिन्, (पूर्वावस्था में) लौटना, प्रकृतिस्थ होना, शान्त होना, स्वस्थता। उत्प्रेक्षा अलंकार। शार्दूलविक्रीडित छन्द।

(पृ० १२८-३८) निरनुरोधा—निर्गतः अनुरोधः यस्याः सा, अनुरोधरहित, उपेक्षाभाव वाली। अनुरोध-अनु+√रुध्+घञ् (भावे), ध्यान रखना। धृतिसंतोष। अवष्टभ्य—रोककर। समावेशयितुम्—व्यूह-रचना में जमाना, पड़ाव डालना। हास्तिकप्रायम्—हस्तिनां समूहः हास्तिकम्, हस्तिन्+ठक्, तत्प्राय यस्मिन्, जिसमें हाथियों की बहुलता थी।

श्लोक ५. पृतना—सेना। आपीडबन्ध०—व्यूह-रचना। निपत्य—झपट कर। समद०—और वाञ्छिता० 'रुमण्वान्' के विशेषण। क्षणेन—कार्य समाप्ति के अर्थ में तृतीया। इसमें वीर रस की व्यञ्जना हुई है और हाथियों की सेना के व्यूह में विन्ध्य पर्वत की उत्प्रेक्षा की गई है। स्रग्धरा छन्द।

(पृ० १७४) भरतवाक्यम्—दे० भूमिका पृ० ४२।

श्लोक २२. उद्दामसस्याम्—अधिक धान्य वाली, विसृजन्—छोड़ता हुआ, बरसता हुआ। इष्टैः—यज्ञों द्वारा, √यज्+क्त (भावे)। प्रीणनम्—प्रसादन, तुष्टि, √प्रीण्+ल्युट् (भावे)। आकल्पान्तम्—प्रलयपर्यन्त। कल्प—सृष्टि की स्थिति का काल, जो सहस्र युगचतुष्टय माना जाता है। दुर्जयाः—दुर्+√जि+खल् (अ)। यहाँ स्रग्धरा-छन्द है।



त्रिलोचन :

जन्म : 20 अगस्त 1917, चिरानीपट्टी, कटघरापट्टी, सुलतानपुर, उ० प्र०।

शिक्षा : बी० ए० तथा एम० ए० (पूर्वार्द्ध) अंग्रेजी साहित्य में।

आज, जनवार्ता ,समाज, प्रदीप, चित्ररेखा, हंस और कहानी आदि पत्रिकाओं और समाचार पत्रों का सह-सम्पादन कर चुके हैं।

1952-53 में गणेशराय नेशनल इण्टर कालेज जौनपुर में अंग्रेजी के प्रवक्ता।

1970-72 के दौरान विदेशी छात्रों को हिन्दी, संस्कृत और उर्दू की शिक्षा।

कुछ वर्ष उर्दू विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की द्विभाषिक कोश (उर्दू-हिन्दी) परियोजना में कार्य।

सम्प्रति : अध्यक्ष, मुक्तिबोध पीठ, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०)।

प्रकाशित कृतियाँ : धरती (कविता संग्रह : 1945, दूसरा संस्करण : 1977)
गुलाब और बुलबुल (ग़ज़लें और रुबाइयाँ : 1956)
दिगन्त (सॉनेट : 1957)
ताप के ताए हुए दिन (कविता संग्रह : 1980)
शब्द (कविता संग्रह : 1980)
उस जनपद का कवि हूँ (कविता संग्रह : 1981)
अरघान (कविता संग्रह : 1984)

पता : सी-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003